विनोद पुस्तक मंदिर का पाँचवाँ पुष्प

समाजवाद की रूप-रेखा

[मुरारका पुरस्कार प्राप्त; साहित्यरत्न परीक्षा के लिये स्वीकृत]

श्री अमर नारायण अग्रवाल, एम० ए०,

आ० रीडर, प्रयाग विश्वविद्यालय

तृतीय संस्करण
१५ अगस्त, १९४७

आगरा
विनोद पुस्तक मंदिर

मूल्य ४॥)

पूज्य माता-पिता जी के

चरण-कमलों में

समर्पित

पं० मगनकृष्ण दीक्षित, अध्यक्ष, दीक्षित प्रेस, प्रयाग, ने
विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, के लिये मुद्रित और
प्रकाशित किया ।

भूमिका

पुस्तक लेखक के विचारों का व्यक्तीकरण है, और भूमिका उसकी पुस्तक-सम्बंधी व्यक्तिगत बातों का स्पष्टीकरण।

समाजवाद का अध्ययन करते समय मुझे यह जानने की स्वाभाविक उत्सुकता हुई कि हमारी मातृभाषा हिन्दी का समाजवादी साहित्य कितना प्रचुर है। देश की वर्तमान राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों की विचारात्मक परिस्थिति देखकर मुझे पहले ही से संशय था कि शायद हमारा साहित्य इस दिशा में निर्धन हो। हिन्दी की समाजवाद पर केवल दो ही चार अच्छी पुस्तकों ने मेरा संशय शीघ्र ही पक्का कर दिया। इसलिये मेरी इच्छा हुई कि समाजवाद पर जो कुछ थोड़ा-बहुत मैंने अँग्रेज़ी पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त किया है, उससे अपने साहित्य की सेवा करूँ। मेरे तुच्छ ज्ञान और सामर्थ्य ने मुझे स्पष्ट बता दिया कि यह मेरी अनाधिकार चेष्टा है। पर फिर मुझे ख्याल हुआ कि अभी तो साहित्य को 'चेष्टा' की आवश्यकता है, 'अधिकार' और 'अनाधिकार' पर विचार करने की फ़ुरसत नहीं। कम से कम उसके सेवकों को इस समय अनाधिकार चेष्टा करने का अधिकार तो है ही। इस विचार से उत्साहित होकर मैंने यह पुस्तक लिखना आरम्भ किया।

इस पुस्तक की सामग्री प्राप्त करने के लिये मैंने मुख्यतः अंग्रेज़ी पुस्तकों और जर्मन तथा फ्रेंच पुस्तकों के अंग्रेज़ी अनुवादों का सहारा लिया है। समाजवादी साहित्य अथाह है इसलिये समाजवाद के लेखक को उसमें से प्रमुख ग्रन्थों का चुन लेना और खास कर उन्हीं पर निर्भर रहना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त, समाजवाद के विषय में बहुत से भ्रमात्मक विचार प्रचिलित हैं और किन्हीं-किन्हीं पुस्तकों में

उनका विवेचन भी पाया जाता है। असमाजवादी लेखकों की पुस्तकों के विषय में यह सत्य अधिक लागू है। ऐसी पुस्तकों और विचारों को सावधानतापूर्वक दूर रखने की ज़रूरत लेखक के काम को और भी कठिन बना देती हैं। मैंने, अपनी सामर्थ्य के अनुसार, अधिकारी लेखकों और ग्रंथों को ही अपना आधार बनाया है। मैंने जो विचार जिस ग्रंथ से प्राप्त किया है, उसका पद-संकेत में हवाला भी दे दिया है।

इस पुस्तक के क्षेत्र (Scope) के विषय में भी मैं दो शब्द कहना ज़रूरी समझता हूँ। समाजवाद की अंगरेज़ी पुस्तकों के पाठक जानते हैं कि, सामान्य रूप से, समाजवाद के सब अंगों का दिग्दर्शन किसी एक पुस्तक में नहीं पाया जाता। यदि कोई पुस्तक समाजवाद के इतिहास की व्याख्या करती है, तो दूसरी इसके सिद्धान्तों का विवेचन करती है, और इसके रूपों पर ज्ञानप्राप्त करने के लिये एक तीसरी ही पुस्तक देखनी पड़ती है। फिर इन सब पुस्तकों का अध्ययन करने के लिये समय और धैर्य की आवश्यकता है। अतएव यदि एक पुस्तक में ही इन सब अंगों का संक्षिप्त रूप में समावेश कर दिया जाय तो शायद वह पाठकों को अधिक उपयोगी हो, ऐसा मेरा विचार था। इसलिये मैं अंग्रेज़ी में एक पुस्तक लिखने के लिये गत वर्षों में सामग्री एकत्र कर रहा था। पर इसी बीच में श्रद्धेय पंडित दयाशंकर दुबे जी की कृपा से मेरा ध्यान हिन्दी की तरफ़ खिंचा और उन्होंने मुझे हिन्दी में ऐसी पुस्तक लिखने की सम्मति दी। उनकी ही आज्ञानुसार मैंने यह पुस्तक लिखी है। इसमें मैंने समाजवाद के सभी प्रमुख अंगों को सम्मिलित करने की चेष्टा की है। पूँजीवाद का विश्लेषण और उसके दोष, समाजवाद का सैद्धांतिक विवेचन, समाजवाद के विभिन्न रूप, और फ़ैसिज़्म और साम्राज्यवाद, आदि विषयों का उपयुक्त स्थानों पर वर्णन किया गया है। अभाग्यवश स्थानाभाव के कारण मैं इसमें समाजवाद के इतिहास पर विवरणात्मक प्रकाश नहीं डाल सका हूँ।

यह पुस्तक मुख्यतः सैद्धान्तिक और अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से लिखी गयी है। इसलिये इसका रूप पूर्णतया भारतीय नहीं। पर इसको भारतीय रंग देने के लिये मैंने यत्र-तत्र भारतीय उदाहरण दिये हैं, भारतीय लेखक उद्धृत किये हैं और एक अंतिम भाग, "भारत में समाजवाद", जोड़ दिया है और यह भाग महात्मा गांधी, पं० जवाहर लाल नेहरू, श्री सुभाषचंद्र बोस, श्री पट्टाभि सीतारमैया, आचार्य कृपलानी, आचार्य नरेंद्रदेव, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री सम्पूर्णानन्द, श्री एम० एन० राय प्रभृति भारतीय विद्वानों के पुस्तकों, लेखों और व्याख्यानों के आधार पर लिखा गया है। यदि पाठकों का फिर भी इसमें भारतीयता की कमी खटके, तो इसके कारण मेरे अनुमान की त्रुटि और मेरे और उनके लेखात्मक विचारों का अंतर होगा। अंतर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों को राष्ट्र-विशेष के बंधनों में पूर्णतया सीमित कर देना उनके विवेचन में अवश्य ही बाधक और भ्रमात्मक होगा, ऐसा मेरा विचार है।

भारत में समाजवाद की अभी शुरूआत ही हुई है। अतएव उसके विषय में निश्चयात्मक भविष्यवाणी करना अनाधिकार चेष्टा है। सामान्यरूप से जो कुछ कहा जा सकता है, केवल वही क्षम्य है। इसी कारण, इस प्रसंग में, मैंने वास्तविकता के ऊपर ज्यादा जोर दिया है, कल्पना पर कम; वर्तमान का अधिक हवाला दिया है, भविष्य का थोड़ा; पृथ्वी पर चलने की चेष्टा की है, आकाश में उड़ान भरने की कोशिश नहीं।

गांधीवाद और समाजवाद की चर्चा करते समय मैंने दोनों वादों के दार्शनिक और तात्विक विचारों में अंतर दिखाने की चेष्टा की है। इन मूल-विचारों की भिन्नता के कारण उनके आधार पर निर्मित सिद्धान्तों और विचारों में भी भेद उत्पन्न हो जाता है। तर्क की दृष्टि से दोनों विचार-प्रणालियाँ बहुत ही श्रेष्ठ (dovetailed) हैं।

पद-संकेतों (Foot-Notes) का मैंने प्रचुर परिमाण में प्रयोग किया है। हिंदी के गंभीर साहित्य में पद संकेतों का अभाव मुझे बहुत खटकता है। मुझे पद-संकेतों से इतना प्रेम है जितना कि शराबी को

शराब से होता है। बिना पद-संकेत देखे या दिये मुझे चैन ही नहीं पड़ता। पद-संकेतों का प्रयोग क्यों लाभदायक और आवश्यक है, इसकी मैंने अन्यत्र विवेचना की है।* इस छोटी सी भूमिका में इसका दुहराना शायद उचित नहीं।

इस पुस्तक की भाषा पर भी दो शब्द कह दूँ। मेरा विचार है कि हमारे पास इस समय तीन भाषाएँ हैं—हिंदी, उर्दू और, इन दोनों के सम्मिश्रण से बनी हुई, हिंदुस्तानी। यह वाद विवाद कि हिंदी को संस्कृत शब्दावली के रंग में रंग दिया जाय या इसे हिंदी-उर्दू के सम्मिश्रण का रूप दे दिया जाय, मैं असमीचीन समझता हूँ। हिंदी को हिंदुस्तानी बनाने के पक्षपातियों से मैं यह कहूँगा कि आप हिंदी के लोप करने पर क्यों उतारू हैं? यदि आप हिंदुस्तानी को उपयोगी समझते हैं, तो आप हिंदुस्तानी लिखिये, हिंदी को त्याग दीजिये। धीरे-धीरे हिंदी का प्रभाव स्वयं ही कम हो जायगा। पर हिंदी वालों से यह कहना कि वे हिंदी को छोड़ कर हिंदुस्तानी लिखें उसी प्रकार अनुपयुक्त है जिस प्रकार अँग्रेज़ों से अँग्रेज़ी छोड़ कर हिंदी में लिखने की बात कहना, यदि दोनों में कुछ अंतर है तो केवल मात्रा का। इस पुस्तक की भाषा का झुकाव हिंदी की ओर अधिक है, हिंदुस्तानी की ओर कम। इसलिये नहीं कि मैं कट्टर हिंदी का समर्थक हूँ, बल्कि इसलिये कि मैं हिंदी और हिंदुस्तानी के बाह्यरूप को लगभग उतना ही अलग मानता हूँ जितना कि अँगरेज़ी और हिंदी या हिंदुस्तानी को। कोई अँग्रेज़ी में लिखे या हिंदी में; हिंदुस्तानी में लिखे या उर्दू में, इससे किसी को क्या? भाषा पाठकों के मस्तिष्क या हृदय तक पहुँचने का मार्ग है। पथिक को वायुयान, या रेल, या मोटरकार या साइकिल अथवा बैलगाड़ी पर जाने में सुविधा मिलेगी, यह वह स्वयं समझता है। यदि आप इङ्गलैंड जाने वाले को बैलगाड़ी में बैठाने की चेष्टा करेंगे, तो वह यात्रा करने का

---

*"कर्मयोगी", अगस्त १९३९

विचार ही छोड़ देगा। यदि आप समझते हैं कि बैलगाड़ी की यात्रा ज्यादा सुखप्रद है, तो आप उसका सहर्ष उपयोग कीजिये। यदि कोई रोके तो यह उसकी ग़लती है। आप उसकी बात न मानिये।

हिंदी में विशिष्ट (Technical) शब्दों का अभाव है। मैंने यथाशक्ति सर्वश्री दयाशंकर दुबे, भगवानदास केला और सम्पूर्णानन्द की शब्दावली का ही प्रयोग किया है। नई-नई शब्दावलियों को बनाना अभीष्ट नहीं क्योंकि इससे पाठकों के विचार अस्पष्ट (Confused) हो जाने का भय है। मैंने 'Value' के लिये श्री सम्पूर्णानन्द का 'अर्घ' शब्द प्रयुक्त किया है, दुबे-केला का 'मूल्य' शब्द नहीं। क्यों-कि फिर हमें 'Price' का समानार्थ शब्द 'क़ीमत' बनाना पड़ेगा; मगर साधारण बोल चाल में 'मूल्य' और 'क़ीमत' समान अर्थ वाले माने जाते हैं। इसलिये यदि दुबे-केला-शब्दावली को प्रयोग किया जाता तो शायद पाठकगण मूल्य और क़ीमत का एक ही अर्थ लगा जाते और असली मतलब गड़बड़ हो जाता। खास कर अर्घ सिद्धान्त की विवेचना करते समय 'Value' और 'Price' का बारीक़ अंतर बहुत महत्वपूर्ण है और इस भिन्नता को जिस किसी साधन द्वारा जितना अधिक स्पष्ट किया जा सकता है, उतना ही अच्छा। 'मूल्य' और 'क़ीमत' शब्द आसान अवश्य हैं, इसलिये यदि अस्पष्टता का भय न हो तो उनका प्रयोग भी मान्य है। अनेकों स्थान पर मुझे नये शब्दों के गढ़ने की आवश्यकता पड़ी है। वहाँ संस्कृत या बँगला साहित्य का आश्रय लिया गया है।

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'हिंदी साहित्य' सम्मेलन ने इस पुस्तक पर "मुरारका पुरस्कार" प्रदान करके जो उदारता दिखाई है और मेरा उत्साह बढ़ाया है उसके लिये मैं सम्मेलन का ऋणी हूँ। इससे मुझे विश्वास होता है कि मेरा प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ।

सामग्री और भाषा में यत्र-यत्र आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिये गये हैं। पुस्तक की छपाई तथा उसका गैट-अप अच्छा करने की चेष्टा भी की गई है। आशा है इस नये रूप में यह पुस्तक पाठकों को अधिक रुचिकर होगी।

तृतीय संस्करण की भूमिका

समय में काफी परिवर्तन हो चुका है। फैसिज़्म की लगभग इति श्री हो गई है। साम्राज्यवाद भारतवर्ष से विदा हो गया है और अब उसकी जीवन-लीला समाप्त होते देर न लगेगी। समाजवाद दिन पर दिन विकसित और सुदृढ़ होता जा रहा है। इंगलैंड में समाजवाद सरकार स्थापित है। केवल अमरीका में ही समष्टिवाद का तीव्र विरोध है। अतः इस परिवर्तित अवस्था के अनुकूल इस पुस्तक में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन और सुधार कर दिये गये हैं।

अमर नारायण अग्रवाल

स्वाधीनता-दिवस,
प्रयाग।

सूची

भाग १ अध्याय १—४

समाजवाद का परिचय

[अध्याय : १—वर्तमान सामाजिक समस्या । २—समाजवाद क्या है ? ३—समाजवाद का महत्त्व । ४—समाजवाद का विकास ।]

अध्याय १

वर्तमान सामाजिक समस्या

परिवर्तन संसार का शाश्वत नियम है। यह परिवर्तन मानव-जीवन की अंधकारपूर्ण भावनाओं, विघातक प्रथाओं तथा अंधविश्वासपूर्ण रूढ़ियों का विनाश करता हुआ समाज को चरम विकास की ओर अग्रसर करता जा रहा है। जिन प्रथाओं तथा संस्थाओं का अब से पाँच सौ वर्ष पूर्व बोलबाला था, आज उनमें से बहुतों का नाम भी मिट गया है, और वे केवल इतिहास की सामग्री रह गई हैं। उनके स्थान पर नवीन-नवीन संस्थाएँ स्थापित हो गई हैं। इस प्रगतिशील संसार के साथ जो शक्तियाँ, प्रथाएँ तथा संस्थाएँ उन्नतिशील होकर पग पर पग रखकर नहीं चल सकतीं, वे अवश्य ही पिछड़ जाती हैं। कालांतर में उनमें अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे उनके प्रति सार्वजनिक विरोध प्रारम्भ हो जाता है। कुछ समय में ही उनके विरोधियों की संख्या बढ़ जाती है, और उनको विनाशपथगामी होना पड़ता है। उनके स्थान पर मनुष्य ऐसी संस्थाओं को जन्म देते हैं जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें और जो साथ ही पुरानी संस्थाओं के दोषों से मुक्त हो।

संसार के परिवर्तन-सम्बन्धी नियम को लगभग सभी मनुष्य समझते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि भूतकाल में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं, और मनुष्य की दशा समय की प्रगति के साथ-साथ बदलती रही है। परन्तु राजनीतिक व सामाजिक विषयों पर विचार करते समय वे इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को भुला देते हैं। विशेषतः

वे इस बात को सुगमतापूर्वक नहीं सोच सकते हैं कि वर्तमान सामाजिक अवस्था से भिन्न एक दूसरी सामाजिक दशा भी हो सकती है। इसीलिये वे एक नवीन सामाजिक आदर्श के वास्तविक मूल्य का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा पाते।

वर्तमान सामाजिक प्रणाली को ही ले लीजिये। मनुष्य-जाति प्रारम्भ से ही इस प्रणाली पर संगठित नहीं थी। पहले मनुष्य-जाति जंगली थीं। उसमें न तो शिक्षा का विकास हुआ था, और न राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति का ही कोई चिह्न विद्यमान था। मनुष्य जानवरों का शिकार करके, मछलियों को पकड़कर और जंगली फल-फूल खाकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। यह आखेट-युग (Hunting Stage) कहलाता है। कुछ दिनों बाद उनको जानवर पालने का उपयोग मालूम पड़ा। जानवर पालने से उन्हें दूध मिल सकता था, ऊन इत्यादि से शरीर की रक्षा हो सकती थी, और साथ ही आखेट के अभाव में पालतू जानवरों को मारकर क्षुधा-पूर्ति हो सकती थी। इसलिये उन्होंने जानवरों का पालना प्रारम्भ कर दिया। इसे चरागाह-युग (Pastoral Stage) कहते हैं। सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य ने खेती करना सीखा और कृषि-युग (Agricultural Stage) में पदार्पण किया। अब वे निश्चित स्थानों में घर बनाकर झुण्डों में रहने लगे, और उनकी असभ्य प्रकृति कम हो गई। रोम साम्राज्य में समाज का एक और विकास हुआ। कृषि-युग सामंत-प्रथा (Feudalism) में परिवर्तित हो गया। राजा की ओर से भूमिपतियों को भूमि दे दी जाती थी। इसके बदले में भूमिपतियों को युद्ध के समय में राजा की सहायता करनी पड़ती थी, और अपने सैनिक रखने पड़ते थे। इसके अतिरिक्त उनको और प्रकार से भी राज्य की सहायता करनी पड़ती थी। दासों से परिश्रम कराया जाता था। कृषि सबसे बड़ा उद्यम था, इसलिये अधिकतर कर किसानों और सामंतों को देने पड़ते थे।

जैसे-जैसे समय की प्रगति-शील शक्तियों का विकास हुआ, और सामंत-प्रथा ने उनका साथ देने में असमर्थता दिखाई, वैसे ही वैसे उनका ह्रास होता गया। मुख्यतः फ्रांस की राजक्रांति तथा इँगलैंड व अन्य देशों की औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) ने तो उसकी इतिश्री कर दी और उसके स्थान पर वर्तमान सामाजिक प्रणाली का जन्म हुआ। इस वर्तमान सामाजिक प्रणाली को 'पूँजीवाद' कहते हैं।

इस प्रकार मानव-इतिहास एक निरन्तर प्रगति का लेखा है जिसके विभिन्न युग अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के वैषम्य के कारण एक दूसरे से पृथक् हैं। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि वह विकास कृत्रिम अथवा आकस्मिक नहीं है, वरन् यह स्वाभाविक तथा वास्तविक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी वर्तमान सामाजिक प्रणाली विकास की अंतिम सीढ़ी नहीं है। इसके पश्चात् एक नवीन प्रणाली का आना निश्चित सा है। साथ ही साथ उस भावी प्रणाली को क्रियात्मक रूप देनेवाली शक्तियाँ पूँजीवाद की नींव को उखाड़ने में काम अवश्य कर रही हैं।[1]

शायद कुछ पाठक कहें कि ऐसा होने की न तो आवश्यकता है और न कुछ सम्भावना ही दृष्टिगोचर होती है। हमारी वर्तमान सभ्यता विकास की चरम सीमा तक पहुँच चुकी है। रेल, जहाज़, डाक, बेतार का तार, मशीन, बिजली आदि नवीन सभ्यता के प्रमुख अंग हैं, और जब हम इनके वास्तविक मूल्य को समझते हैं तो हमें विदित होता है कि हम विगत काल से बहुत दूर आ गये हैं और इतनी उन्नति कर

---

[1] इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि विकास अपने आप होता है और इसके लिये मनुष्यों को कोशिश करने की आवश्यकता नहीं। वास्तव में विकास मनुष्यों की क्रिया का ही फल है।

चुके हैं कि इस दिशा में अधिक उन्नति करना कठिन है। हमारी सभ्यता पार्थिव तथा औद्योगिक साधनों से पूर्णतः सम्पन्न है और मानवीय सुख और संस्कृति के दृष्टिकोण से, संभवतः समस्त प्राचीन सभ्यताओं से अधिक प्रभावशाली है।

यह सत्य हैं कि इतनी उन्नति अभूतपूर्व है। परन्तु वर्तमान सामाजिक परिस्थिति में उनसे अनेक दोष उत्पन्न हो गये हैं जिनसे छुटकारा पाने के लिये एक नई प्रणाली की आवश्यकता है।

वर्तमान सामाजिक और आर्थिक अवस्था के विरुद्ध अब आन्दोलन होने लगा है। असंतोष की आग अब संसार के कोने-कोने में तेज़ी के साथ फैल रही है। पूँजीवाद ने संसार को निर्धनता के नाशकारी रोग से प्रपीड़ित कर रक्खा है। उसके विपरीत कुछ इने-गिने व्यक्तियों पर धन की वर्षा करके उन्हें संसार के भोग-विलासों में जीवन व्यतीत करने का वरदान देना भी पूँजीवाद का ही काम है। अधिकांश मनुष्यों की निर्धनता और थोड़े से मनुष्यों की असीम धन-सम्पन्नता पूँजीवाद का मुख्यतम अंग है। अत्यत निर्धनता तथा अत्यंत-धनसम्पन्नता में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि निर्धनों का ही शोषण कर और उनकी रोटी छीनकर, पूँजीपति अपनी थैलियाँ भरते हैं।[२] फलतः एक ओर किसान तथा मज़दूर बेकार

---

[२] बाबू सम्पूर्णानन्द लिखते हैं, "आजकल ज़मींदार क्या करता है? अगर ज़मींदार न हो तो किसी का क्या बिगड़ जायेगा? वह बैठा-बैठा मुफ़्त में किसान की गाढ़ी कमाई में हिस्सा लेता ही है, खुली लगान लेता ही है। छिपी लगान भी हर वक्त लेता है, हरी बेगारी, नज़राना यह सब लेता है। यह सब खुली लूट है।"

सेठ दामोदर स्वरूप लिखते हैं कि, "एक मज़दूर किसी प्रकार दिन-रात परिश्रम करके अपना शोणित-पसीना एक करके विविध प्रकार की वस्तुओं को तैयार करता है, पर जो चीज़ें वह तैयार करता है उस पर

घूमते हैं, क्षुधा की विभीषिका में संतप्त होते हैं, ग्रीष्म में प्रचंड लू की यातनाओं को सहन करते तथा शीतकाल में नंगे ठिठुरते हैं, गंदी तथा अंधकारपूर्ण गलियों में जीवन की घड़ियाँ गिनते और मृत्यु का आह्वान करते हैं ; तो दूसरी ओर ठीक, इसके विपरीत, पूँजीपति तथा ज़मींदार, धनराशि संचित करके मोटरों तथा वायुयानों में देश-विदेश की यात्रा करते, तथा काश्मीर और स्विट्ज़रलैंड की मनोहर घाटियों में भोग-विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। इस आर्थिक विषमता, भीषण भेद तथा वीभत्स शोषण का यन्त्र है पूँजीवाद। इस शोचनीय अवस्था में संसार के समस्त विचारवान् पुरुषों के मस्तिष्क में यह भय उत्पन्न कर दिया है कि यदि सामाजिक प्रणाली में परिवर्तन नहीं किया जायगा, तो न मालूम समाज की क्या अवस्था होगी। वर्तमान समय के परिश्रम तथा साधनों की बरबादी से (जो बेकारी की बढ़ती हुई संख्या से स्पष्ट हैं और जिसके दुःखदायी परिणाम से अनेक मनुष्य भूखों मरते हैं, और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते) शायद ही कोई मनुष्य सन्तुष्ट हो। हम प्रकृति के उदारतापूर्ण प्रदान किये गये अनेक पदार्थों के उपयोग से इसीलिये वंचित रह जाते हैं, क्योंकि हम उनका प्रयोग करना नहीं जानते।[3] यह अवस्था देख कर विद्वानों का कहना है कि समाज के इतिहास में अब आगामी विकास का समय आगया है। वर्तमान आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक

उसका कोई अधिकार नहीं। वह मज़दूर बड़े-बड़े विशाल महलों को बनाता है। उन महलों को अपनी बनाई हुई अनेक प्रकार की सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं से सुसज्जित करता है। पर उसका न उस महल पर कोई अधिकार है और न उसकी सजावट की सामग्री पर ही।...... यह हमारे वर्तमान मनुष्य-समाज का रूप और उसका ढाँचा, जहाँ न्याय और धर्म की छाया भी ढूंढ़े नहीं मिलती है।"......

[3] देखिए Cripps, *Why This Socialism*, p. 11.

संगठन की प्रणाली में एक उच्च श्रेणी के परिवर्तन की आवश्यकता है जिसके द्वारा एक ऐसा समाज उत्पन्न हो जिसमें एक उच्च कोटि के नैतिक आदर्श, तथा एक उचित और एक उपयुक्त औद्योगिक क्रांति प्रणाली का सामंजस्य हो ; जो औद्योगिक क्रांति की यांत्रिक सफलताओं को मनुष्य के हित के लिये अधिक सुगमतापूर्वक प्रयोग में ला सके ; जिसमें स्वतन्त्रता का अधिक विस्तार हो सके और सुख तथा संस्कृति की समृद्धि हो सके। इस प्रणाली को 'समाजवाद' के नाम से पुकारा जाता है। समाजवाद का दावा है कि वह समाज को वर्तमान गर्त से निकाल कर उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचा सकता है।[४]

ऐसी अवस्था में कोई भी व्यक्ति 'पूँजीवाद या समाजवाद' की अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या को उपेक्षापूर्ण दृष्टि से नहीं देख सकता। साधारणतः प्रत्येक विचारशील पुरुष के हृदय में इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं कि पूँजीवाद में क्या दोष हैं ? पूँजीवाद जो इतने समय से संसार पर अपना आधिपत्य स्थापित किये था, आज क्यों इस प्रकार विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है ? यदि पूँजीवाद का अंत समीप है तो हमारी भावी सामाजिक प्रणाली अर्थात् समाजवाद का क्या रूप होगा ? क्या समाजवाद संसार को वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कष्टों से मुक्त कर देगा ? इस पुस्तक में हम इन्हीं विषयों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

---

[४] देखिए Kirkup, *An Inquiry into Socialism*, p. 103-4.

अध्याय २

समाजवाद क्या है ?

सम्भवतः समाजवाद के अतिरिक्त और किसी आन्दोलन पर न तो इतना अधिक वाद-विवाद हुआ है, और न परिभाषा के विषय में इतनी कठिनाइयाँ ही उपस्थित हुई हैं। एक दृष्टि से समाजवाद एक विरोधी नीति है और जैसा कि विरोधी आंदोलन में होना स्वाभाविक ही है, इसके झंडे के नीचे वर्तमान सामाजिक अवस्था की समस्त विरोधी शक्तियाँ संगठित हो गई हैं जो पूँजीवाद के भिन्न-भिन्न पहलुओं, दोषों तथा दुर्बलताओं को दूर करने की चेष्टा करती हैं। फलतः समाजवाद जिन आंदोलनों की ओर संकेत करता है वे प्रारम्भिक विन्दु (Starting point) और उद्देश्य में, साधनों और तथ्य में इतने भिन्न हैं कि एक संक्षिप्त परिभाषा के अंतर्गत उन सब का संतोष जनक वर्णन हो जाना सरल काम नहीं। यदि अत्यन्त सामान्य रूप में परिभाषा दी जाय तो वह न केवल समाजवादी आंदोलन को ही, वरन् अन्य आंदोलनों को भी सम्मिलित कर लेगी जो वास्तव में समाजवाद के अंतर्गत पूर्णतया नहीं आते। इसके अतिरिक्त समाजवाद एक जीवित आन्दोलन है और मानसिक क्षितिज अथवा समय की भौतिक अवस्थाओं के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है। यही कारण है कि समाजवाद की परिभाषा किसी ऐसे छोटे तथा स्पष्ट वाक्यांश में नहीं दी जा सकती जो समाजवाद के सब तात्विक सिद्धान्तों का वर्णन कर सके और साथ साथ ही जिससे सब समाजवादी सहमत हों। ऐसी दशा में भिन्न-भिन्न समाजवादी दल समाजवाद की अपने-अपने

दृष्टिकोण से परिभाषा करते हैं। अतएव समाजवाद की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, वे एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इन परिभाषाओं का इस स्थान पर वर्णन करना स्पष्ट विचारों के मार्ग में बाधक हो सकता है। इसलिये समाजवाद की परिभाषा देने के पहले हम इसका संक्षिप्त वर्णन देंगे जिससे कि यह भली-भाँति समझ में आ जावे कि वास्तव में समाजवाद क्या है।

समाजवाद के मूलसिद्धांत

समाजवाद को समझने के लिये हमें उसके उद्देश्य और उन मूल-सिद्धांतों मनन करना आवश्यकीय है, जिसमें लगभग सभी सम्प्रदाय के समाजवादी विश्वास करते हों। समाजवाद की उत्पत्ति मनुष्यों की दरिद्रता और आर्थिक पीड़ा में होती है। यह दरिद्रता अधिकतर शोषण का परिणाम होती है; इसीलिये धनसम्पन्नता और धनहीनता साथ-साथ नजर आते हैं। समाजवाद इसी दरिद्रता को जड़ से दूर करना चाहता है, और इसलिये इसका उद्देश्य शोषण के साधनों को नष्ट करना है। इसी उद्देश्य से इस मत के तात्विक सिद्धांत निर्धारित होते हैं। ये मूल सिद्धांत ६ हैं :—

(१) समाज को व्यक्ति से अधिक महत्व देना।
(२) उन्नति के अवसरों में समानता होना।
(३) पूँजीपतियों से विदा लेना।
(४) ज़मींदारों से भूमि का अधिकार छीन लेना।
(५) व्यक्तिगत जोखिम (Enterprise) का अंत करना।
(६) हानिकारक स्पर्धा को जड़ से उखाड़ कर फेंक देना।

इनमें से प्रथम राजनीतिक, दूसरा सामाजिक और शेष चार आर्थिक सिद्धान्त हैं।

१—राष्ट्र का महत्व

ग़रीबों की ग़रीबी दूर करनेका उद्देश्य भ्रातृभाव का उद्भावक है और समाज को व्यक्ति-विशेष से ऊँचा स्थान देता है। इसलिये समाजवाद आत्महितवाद के विरुद्ध सर्वात्महितवाद का पक्षपाती है। यह मनुष्य जाति की मज़बूती का समर्थक है। यह इस बात पर ज़ोर देता है कि मनुष्य का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह इस सत्य का विवेचन करता है कि मनुष्यों के समस्त कार्यों का सामाजिक परिणाम होता है, और समस्त परिणामों के सामाजिक कारण होते हैं। यह हमारे सम्मुख राष्ट्र की संगठित भावना बहुत ही आकर्षक रूप में रखता है। यह मनुष्य की सजग भ्रातृ-भावनाओं के बहुत ही अनुकूल है। समाजवाद स्वार्थ का विरोध करता है और व्यक्ति की समष्टि के लिये बलिदान की भावना को जाग्रत करता है। मनुष्य जाति की मज़बूती ही समाजवाद का मूल सिद्धान्त है।[1] श्रीयुत जोन्स का कथन है कि समाजवाद ईसाई-मत के एक मूल सिद्धांत का—मनुष्य जाति की भातृ-भावना का—व्यावहारिक स्पष्टीकरण है। हैमिल्टन फ़ाइफ़ कहते हैं कि समाजवाद वह प्रणाली है जो सम्पूर्ण मानव-समाज के हित के लिये कार्य करती है।

२—उन्नति के अवसरों में समानता

समाजवाद दरिद्रता दूर करके, ग़रीबों की आर्थिक और समाजिक अवस्था को ऊँचा करना चाहता है जिससे कि सामाजिक विषमता इतना भीषण न रहे। अर्थिक दशा में पूर्ण समानता स्थापित होना तो कठिन

---

[1] देखिए Kelly, *Twentieth Century Socialism*, p. 237, Eucpea, *Socialism, An Analysis*, p. 22, इत्यादि

हैं क्योंकि मनुष्यों में उन्नति करने की सामर्थ्य एक सी नहीं होती। यदि अधिक काम करने वालों और कम काम करने वालों को एक ही पुरस्कार दिया जाय तो यह अन्याय है। अतएव समाजवाद सब मनुष्यों को उन्नति के समान अवसर देना चाहता है और उन्हें अपनी सामर्थ्य के अनुसार उन्नति करने के लिये स्वतंत्रता देता है। इस नीति का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि मनुष्यों की आर्थिक दशा वर्तमान काल से अधिक समान हो जायगी। बहुत से लेखकों के अनुसार, समाज के स्त्री-पुरुषों में आर्थिक विषमता का होना ही समाजवाद का उत्पादक है। समाजवाद के शायद सबसे कड़े समालोचक और चिड़चिड़े विरोधी, प्रो० हर्नशा स्वयं लिखते हैं कि वर्तमान काल की अत्यंत विषमता शोचनीय है। संसार के इने-गिने पूँजीपतियों के रहन-सहन का दर्जा इतना ऊँचा होता है और वे भोग-विलास में इतने लिप्त रहते हैं कि हमें इस बात का अनुमान लगाना भी कठिन हो जाता है कि संसार में असंख्य मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त निस्संदेह आजकाल सम्पत्ति ही शक्ति है, और यद्यपि यह सत्य है कि समाजवाद या व्यक्तिवाद के अंतर्गत एक मनुष्य पर उसके साथियों का किसी न किसी प्रकार का अधिकार होगा, तथापि मुट्ठी भर आदमियों के हाथों में अधिकांश धन का संचित होना अवांछनीय है। आर्थिक और राजनीतिक आधार पर और नैतिक तथा सामाजिक दृष्टि कोण से, इतनी भीषण आर्थिक विषमता का होना उपयुक्त नहीं, और मनुष्य-जाति के अधिक संख्यक सदस्यों की दशाओं में उन्नित होना अत्यंतावश्यक है। आर्थिक तथा सामाजिक विषमता को कम करके, उन्नति के अवसरों में समानता लाने का उपक्रम करते समय समाजवादी एक सुदृढ़ नैतिक अवस्था ग्रहण करते हैं।

जिस प्रकार स्वतंत्रता व्यक्तिवाद (Individualism) की कुंजी है, वैसे ही समानता समाजवाद की कुंजी है। प्रोफ़ेसर ग्रैहम

लिखते हैं कि समाजवाद का केन्द्रित लक्ष्य, जो इसके सब स्वरूपों में समन्वित रहता है, विषमता में कमी करना है।[२] एम० डिलेवले ने इसी विचार को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—प्रत्येक सामाजिक सिद्धान्त का उद्देश्य सामाजिक दशाओं में समानता का समावेश करना है। समाजवाद समाज के धरातल को समान तथा समतल करनेवाला है।[3] तुगन बैरवास्की भी कहते हैं कि वर्तमान समाजवाद का मूल नैतिक सिद्धांत समानता है।

२, ४—पूँजीपतियों और ज़मींदारों का अन्त

ग़रीबों पर अत्याचार करना, उन्हें दरिद्र बनाना, 'शोषण' कहलाता है। पूँजीपति मज़दूरों का शोषण करके, व्यक्तिगत सम्पत्ति एकत्र करते हैं और उसे अधिक शोषण करने के लिये प्रयुक्त करते हैं। इस लिये व्यक्तिगत संपत्ति का अंत कर देना समाजवाद का मुख्य आर्थिक सिद्धांत है। वास्तव में जिस दिन से कार्ल मार्क्स और फ्रडरिक एंगिल्स ने समाजवादी चिट्ठा (Communist Manifesto, 1848) लिखा उसी दिन से समाजवाद में आर्थिक तत्व प्रधान रहे हैं; और इन सब में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंत करना सबसे प्रमुख रहा है। प्रूधां (Proudhon) का कथन था कि जायदाद चोरी है।[४] समाजवादी समस्त धन को सार्वजनिक सम्पत्ति समझते हैं जिसकी सहायता से समस्त समाज के मज़दूर सहयोग से काम करते हैं। एक व्यक्ति जो धन उत्पन्न करता है ऐसे साधनों तथा अनुभवों से काम करता है जो उसके पूर्वजों ने प्रदान किये जो उसके शिक्षकों ने उसको बताये हैं। उसके माल का मूल्य केवल इसीलिये है कि वह समाज में

---

[२] देखिए Graham, *Socialism, New and Old*, p. 4.

[3] देखिए E. de Laveleye, *Socialism of To-day*, p. XV.

[४] Proudhon : *What is Property? Property is Theft.*

रहता है जहाँ कि यातायात और क़ानून की प्रणाली माँग और पूर्ति में सम्बन्ध स्थापित करके वस्तु का मूल्य निर्धारित करती हैं। अध्यापक, आविष्कारकर्ता, शासक, विक्रेता, मैनेजर और मज़दूर सहयोग से काम करते हैं और कोई भी व्यक्ति किसी उत्पन्न की हुई वस्तु पर हाथ रखकर यह नहीं कह सकता कि अमुक वस्तु मैंने बनाई है अथवा यह मेरी सम्पत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति अपना काम करता है। आविष्कारकर्ता हमें सबसे अधिक मौलिक प्रतीत होता है, परन्तु वह भी अपने अगणित पूर्वजों के कार्य को नवीन रूप देता है अथवा बढ़ाता है। इसलिये सब मनुष्यों की उत्पत्ति सार्वजनिक सम्पत्ति है। किसी विशेष वर्ग या समूह या व्यक्ति का उस पर दावा नहीं। परन्तु वास्तव में पूँजी-पति और ज़मींदार व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त के आधार पर इस सार्वजनिक सम्पत्ति का एक बड़ा भाग खा जाते हैं, और शेष मनुष्य निर्धनों में परिगणित होते हैं। इसलिये समाजवादी कहते हैं कि व्यक्ति-गत सम्पत्ति समाज के लिये हानिकारक है और पूँजीपति तथा ज़मींदारों का अंत कर देना चाहिये। मार्क्स सदैव यह कहा करते थे कि व्यक्तिगत सम्पत्ति को नष्ट करने पर ही समाज का सुधार हो सकता है। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि उपभोग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि जब तक उनमें व्यक्तिगत सम्पत्ति का सिद्धान्त लागू नहीं किया जायगा, तब तक उनका उपभोग नहीं हो सकता, जैसे भोजन, वस्त्र इत्यादि। समाजवाद उपभोग की वस्तुओं में व्यक्तिगत सम्पत्ति के होने का विरोधी नहीं।[५]

समाजवादी कहते हैं कि पूँजीपति मज़दूरों का शोषण करते हैं और उनकी कमाई से अपनी जेब गरम करते हैं। इस कारण बिना उनका अंत किये हुये शोषण की इतिश्री नहीं हो सकती। समाजवाद के सब रूप केवल एक ही मूल विचार पर स्थित हैं। वह यह है कि

---

[५] देखिए Brailsford. *Socialism for To-day*, pp. 71-72.

पूँजीपति शोषक हैं और मज़दूरों के स्वाभाविक शत्रु हैं ।[६] कुछ समय पूर्व प्रोफेसर जार्ज रेनार्ड ने बीस समाजवादी नेताओं से तीन प्रश्न पूछे । उनमें से एक प्रश्न यह था, "क्या आप स्वीकार करते हैं कि समाजवाद का आर्थिक लक्ष्य पूँजीवादी समाज को एक ऐसी प्रणाली में परिणित कर देना है जिसमें वह जायदाद जो उपज के साधनों के दृष्टिकोण से सामूहिक है, केवल उन प्रयोग की वस्तुओं के सम्बन्ध में, जो मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है, व्यक्तिगत होगी ?" पहले दो प्रश्नों के उत्तरों में तो मतभेद था, पर तीसरे प्रश्न का उत्तर बीसों नेताओं ने 'हाँ' में दिया ।

समाजवादी पूँजीपतियों के जितने विरुद्ध हैं उससे भी अधिक विरोध उनका ज़मींदारों से है । पूँजीपतियों ने पूँजी एकत्र करने में शायद कुछ श्रम किय हो, परन्तु ज़मींदारों ने भूमि पर, जो ईश्वर ने समस्त मनुष्य जाति के हित के लिये बनाई है, अपना अधिकार कर लिया है । इसके लिये वे जो लगान वसूल करते हैं, वह बिना किसी परिश्रम के प्राप्त हो जाता है । रॉबर्ट ब्लैचफोर्ड लिखते हैं, "किसी भी मनुष्य को स्वनिर्मित वस्तु के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु को अपनी कहने का अधिकार नहीं है । कोई भी मनुष्य भूमि उत्पन्न नहीं करता । भूमि परिश्रम से नहीं बनाई जाती, वरन् यह तो ईश्वर का वरदान है । इसलिये पृथ्वी पर सब का समान अधिकार है । अतएव समाजवाद के अंतर्गत कोई भी नागरिक भूमि की एक इंच को भी अपनी कहने का अधिकारी नहीं हो सकेगा ।" रेवरेंड नोइल लिखते हैं, "क्योंकि भूमि सब के लिये आवश्यक है, इसलिये मनुष्यों को भूमि के अधिकार से वंचित रखना उनको जीवन से वंचित रखने के समान है । मनुष्यों को ज़मींदारों की शर्तों के अतिरिक्त भूमि से वंचित रखना उनको ज़मींदारों की शर्तों के अतिरिक्त जीवन से वंचित रखना है ।[७]

---

[६] Kerr, *The Industrial Dilemma*, p, 10.

[७] "आजकल उत्पादन के मुख्य साधन, जैसे मशीन, कारखाने, ज़मीन,

५, ६—व्यक्तिगत जोखिम तथा स्पर्धा का अंत

पूँजीपति और ज़मींदारों के अंत के साथ-साथ व्यक्तिगत व्यवसाय का भी अंत हो जाता है, क्योंकि यदि किसी भी व्यक्ति के पास उत्पत्ति के साधन बिल्कुल नहीं होंगे तो वह निजी कारबार नहीं कर सकता। जैसा कि आगे चल कर मालूम होगा, समाजवाद के अंतर्गत कुछ अंशों में व्यक्तिगत व्यापार क़ायम रहेगा। पर मुख्यतः सब व्यवसाय राष्ट्र के हाथ में आ जाँयगे। जॉन स्टुअर्ट मिल ने १८६६ ई० में लिखा था, "समाजवाद की विशिष्टता यह है कि उपज सार्वजनिक हित के लिये की जाती है और उत्पत्ति के साधन सार्वजनिक सम्पत्ति

कुछ व्यक्तियों की सम्पत्ति है, जो स्वयं उत्पादन का काम नहीं करते। मैं जानता हूँ कि कुछ कृषक अपने खेतों के मालिक हैं और कुछ लोग उद्योग धन्धों से जीविका चलाते हैं पर आजकल की सभ्यता और संस्कृति इन लोगों पर निर्भर नहीं हैं। साधारणतया किसान अपने खेत का स्वामी नहीं होता वह लगान देकर खेती करने का अधिकार प्राप्त करता है। इसी प्रकार कारखाने के मज़दूर मशीनों के मालिक नहीं होते। यह तो साफ़ ही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भरणपोषण से अधिक पैदा कर लेता है। किसान यदि अधिक पैदा न करे तो लगान नहीं दे सकता। मज़दूर यदि अधिक पैदा न करे तो कारखाने की सभी आय मज़दूरों में ही खतम हो जाय। यह भरणपोषण से अधिक जो पैदा किया जाता है वही ज़मींदार की आमदनी और कारख़ानेदार का मुनाफ़ा है। यह इन लोगों की, बेपरिश्रम की, अनर्जित आय है। यह बात सारे समाज के लिए अहितकर है। समाजवादी समाज में ऐसा न होगा। उत्पादन के साधन कुछ व्यक्तियों के नहीं, वरन् सारे समाज की सम्पत्ति होंगे।... यह पहला मूल तत्व है और पहला ही क्यों, सब से बड़ा मूल तत्व है।'—बाबू सम्पूर्णानन्द, *साम्यवाद का बिगुल*, पृष्ठ, १-२।

माने जाते हैं।" ब्रिटिश समाजवादी संघों का सम्मिश्रित चिट्ठा (Joint Manifesto) खुले शब्दों में कहता है, "हमारा उद्देश्य समस्त समाज के लिये यातायात के साधन, कारखानों, खानों तथा भूमि पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित करना है।" ब्लैचफोर्ड लिखते हैं कि व्यवहारिक समाजवाद इतना सरल है कि उसे एक बच्चा भी समझ सकता है। यह एक प्रकार के सहयोग की राष्ट्रीय योजना है जिसका राष्ट्र (State) प्रबन्ध करता है। इसके कार्य-क्रम में केवल एक बात है—वह यह कि भूमि और उत्पत्ति के अन्य साधन सार्वजनिक सम्पत्ति हो जायँ और उनका प्रयोग तथा शासन मनुष्यों के हित के लिये हो। भूमि और उत्पत्ति के अन्य साधनों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना दिया जाय; कुल खेतों, खानों, जहाज़ों, रेलों और दूकानों पर राष्ट्र का अधिकार स्थापित कर दिया जाय—जैसा कि डाकघर इत्यादि में कर दिया गया है—बस व्यवहारिक समाजवाद स्थापित हो जायगा। समाजवाद के अंतर्गत किसी भी व्यक्ति को निज की दूकान चलाने का, अथवा मशीन या मिल चलाने का अधिकार नहीं होगा। व्यक्तिगत जोखिम साधारण रूप से बन्द कर दी जायगी क्योंकि समाजवादियों का विश्वास है कि इसका अर्थ व्यक्तिगत चोरी है।

व्यक्तिगत जोखिम की इतिश्री का अर्थ स्पर्धा की समाप्ति है। परन्तु फिर भी इसका अलग विवेचन किया जा रहा है क्योंकि समाजवादियों ने इस पर बहुत ज़ोर दिया है। सर्वप्रथम फेबियन ट्रैक्ट (First Fabian Tract) के प्रारम्भिक वाक्य ये हैं, "हम एक पारस्परिक प्रतिस्पर्धा रखने वाले मनुष्यों के समाज में रहते हैं, जिसकी पूँजी कुछ विशेष व्यक्तियों के अधिकार में है। इसका परिणाम क्या है? यही न कि कुछ मनुष्य अत्यन्त धनी हैं, परन्तु अधिकांश में मनुष्य निर्धन और बहुत दुखी हैं?" वास्तव में स्पर्धा को नष्ट करना समाजवाद का मुख्य उद्देश्य है। समाजवाद की अधिकांश परिभाषाओं

में इसका यह पहलू अवश्य सम्मिलित रहता है। डाक्टर हैडिन गैस्ट लिखते हैं कि "मेरी समझ में तो समाजवाद घरेलू, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय विषयों में प्रतियोगिता के स्थान पर सहकारिता का स्थानापन्न मात्र है।"

पूँजीवादी, स्पर्धा की इतिश्री को बहुत बड़ी भूल समझते हैं। सचमुच, पूँजीवाद का औद्योगिक प्रतिस्पर्धा के गुणों में विश्वास रखना एक मुख्य अंग है। यदि यह मान भी लिया जाय कि स्पर्धा में गुण हैं, तब भी यह नहीं माना जा सकता कि पूँजीवाद को क़ायम रखना इसीलिये आवश्यक है कि उनमें स्पर्धा का अस्तित्व रहता है। वस्तुतः वर्तमान समय में औद्योगिक क्षेत्र के अत्यंत विस्तीर्ण तथा प्रसिद्ध विभागों में कहीं भी स्पर्धा ऐसी क्रियात्मक शक्ति नहीं रह गई है। इस विषय पर विचार करना कि स्पर्धा वांछनीय है अथवा नहीं, पूर्णतः असंगत है, क्योंकि स्पर्धा बहुत कुछ अंशों में आर्थिक जीवन से अदृश्य सी हो गई है, और जो कुछ शेष है वह भी मिटती जाती है। यह औद्योगिक विकास का एक दृश्य है जिस पर अब पर्दा पड़ चुका है और उसके स्थान पर एकाधिकार इत्यादि रंगमंच पर आ गये हैं।[८]

समाज की परिभाषा

ऊपर के विवेचन हमारे सामने समाजवाद का एक रेखा-चित्र उपस्थित करता है। इसके प्रकाश में हम समाजवाद की निम्नलिखित परिभाषा दे सकते हैं :—

समाजवाद वह आंदोलन है जो पूँजी और भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंत कर और व्यक्तिगत जोखिम और स्पर्धा की इतिश्री करके, उन्नति के अवसरों में समानता स्थापित करना चाहता है, जिससे

[८] देखिये Humphrey, *The Modern Case for Socialism*, pp. 90-91.

शोषण बन्द हो जाय और आर्थिक दशाओं की भीषण विषमता का लोप हो जाय।

मैंने समाजवाद की परिभाषा दे तो दी है, परन्तु मैं इस प्रयास का समर्थक नहीं हूँ। यह बहुत सम्भव है कि अपने को समाजवादी कहने वाले कोई महाशय इससे सहमत न हों। एक छोटी सी परिभाषा के अंदर समाजवाद के सब अंगों का, उनके विषय के मत-मतांतरों की भिन्नता का दिग्दर्शन कराते हुए, समन्वित कर देना सहल काम नहीं।[१]

कुछ महापुरुषों के विचार

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, लेखकगण समाजवाद को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं और उसके विभिन्न अंगों को अपने दृष्टिकोण के अनुसार कम या ज़्यादा महत्व देते हैं। सन् १८९२ ई० में पैरिस के ल फिगारो (Le Figaro) ने समाजवाद की ६०० परिभाषाएँ प्रकाशित कीं! श्रीयुत डान ग्रिफ़िथ्स ने १९२४ ई० में एक पुस्तक "समाजवाद क्या है?" (What is Socialism?) सम्पादित की जिसमें उन्होंने समाजवाद की २६३ परिभाषाएँ दी हैं। हम नीचे कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों के इस विषय पर विचार देते हैं जिनसे पाठकगण स्वयं समाजवाद की व्यापकता का अनुमान लगा सकते हैं।

स्टेनले मैलौर लिखते हैं कि उन हज़ारों मनुष्यों तथा स्त्रियों के लिये जो जीवन के संघर्ष तथा विश्वासों की प्रतिद्वन्द्विता में कुचल दिये गये हैं, समाजवाद धर्म के समान आशाजनक है। वर्तमान समाजवाद को एक तुच्छ वस्तु के रूप में रखना अनुपयुक्त तथा असंगत होगा।

---

१ "हम समाजवाद की यहाँ परिभाषा नहीं कर सकते, क्योंकि नाना प्रकार के व्यक्ति अपने को साम्यवादी कहते हैं और नाना प्रकार की कार्रवाइयाँ साम्यवाद के अनुकूल बताई गई हैं।"—श्री० श्री प्रकाश।

समाजवाद मानव इतिहास तथा प्रयासों की महान् वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है।

आगे चलकर उक्त महाशय लिखते हैं कि ऐसी ठीक-ठीक और संक्षिप्त परिभाषा देना जिसके अंतर्गत इस शब्द द्वारा सूचित होने वाला समस्त अर्थ आ जावे, बहुत कठिन है। समाजवाद को धर्म के नाम से पुकारा गया है। वर्तमान इतिहास में यह एक आंदोलन के रूप में प्रकट होता है जिसका मूल विचार की अपेक्षा जीवन में, तथा अध्ययन की अपेक्षा कारखानों, दूकानों तथा गंदी गलियों में है। समाजवाद एक आर्थिक और राजनीतिक सिद्धान्त अथवा बहुत से सिद्धान्तों का सम्मिश्रण है जिनका समाज के अस्तित्व और संगठन से सम्बन्ध है। समय-समय पर इसे दर्शन (Philosophy) की भी उपाधि दे दी जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में समाजवाद एक संगठित राजनीतिक शक्ति हो गया। इसकी आयोजनाएँ राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय हो गईं, और इसके प्रतिनिधि, पार्टियाँ तथा प्रेस स्थापित हो गये। अतएव समाजवाद पर इनमें से किसी एक अथवा समस्त दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है, और उसी के अनुसार परिभाषा बनाने के लिये प्रयास किया जा सकता है।[१०]

वाइन्डहम अल्वरी लिखते हैं कि समाजवाद शब्द लैटिन के 'शोशस' (Socius) शब्द से निकला है जिसके अर्थ हैं साथी, सहायक, अथवा भागाधिकारी। यह किसी ऐसे व्यक्ति को सूचित करता है जो समान कोटि अथवा अवस्था का हो। अतएव, समाजवाद के अर्थ हैं भ्रातृभाव अथवा मित्रता जिसमें सब मनुष्य समान माने जायँगे, जिसमें समस्त भागाधिकारी के रूप में सम्मिलित होंगे, और

---

[१०] देखिये Mellor in *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. XI, pp. 634-5.

जिसमें सब मनुष्य साथ-साथ मिल-जुल कर काम करेंगे। राज्य के शासन के सम्बन्ध में यह प्रकट करता है कि प्रत्येक कार्य साधारण जनता की सेवा के लिये किया जायगा।[११]

नार्मन एन्जिल लिखते हैं कि समाजवाद का लक्ष्य सार्वजनिक-कुशलता है, और यह व्यक्तिगत अधिकारों को इस दृष्टिकोण से निर्धारित करता है। इसका ढंग सहयोग है, इस सहयोग है में दूसरों के हित में अपना हित न समझने वाले व्यक्ति सम्मिलित नहीं किये जाते। समाजवाद इस बात को मानता है कि मनुष्य उस प्रकार का समाज बना सकते हैं जिसमें वे रहना चाहते हैं। अतः वह संसार की वर्तमान सामाजिक अवस्था को अस्वीकार करता है। उसका निश्चय है कि हम संसार को अपने आदर्श के अनुसार बना सकते हैं।[१२]

मैक्स बियर लिखते हैं कि समाजवाद एक प्रकार के विभिन्न सिद्धांतों का सामंजस्य है जिसका मत है कि समाज को उत्पत्ति के साधनों के राष्ट्रीय आधिपत्य तथा मनुष्यों के जातीय सम्बन्ध के आधार पर बनाना चाहिए।......यदि लोकतंत्रवाद का तात्पर्य यह है कि जनता के राजनीतिक विषयों का शासन जनता द्वारा व जनता के हित के लिये हो, तब हम कह सकते हैं कि समाजवाद का उद्देश्य यह है कि उपज के साधनों का आधिपत्य जनता द्वारा उसी के हित के लिये हो।[१३]

जी० डी० एच० कोल लिखते हैं कि समाजवाद में सिद्धान्त की अपेक्षा विश्वास की भावना अधिक है। यह एक ऐसे समाज को स्थापित करने की इच्छा तथा योजना है जिसका आधार सहयोग तथा भ्रातृ-भाव हो, जो संगठित मज़दूरों के आन्दोलन द्वारा प्रतिफलित हो सके और

---

[११] देखिये Dot Griffiths, *What is Socialism ?* p. 1.

[१२] *Ibid*, p. 14.

[१३] *Ibid*, p. 18.

यह समझे कि सामाजिक अधिकार तथा सामाजिक कर्तव्य समान हैं, तथा जो उन वर्गीय सेवा सम्बन्धी सभी प्रोत्साहन और प्रेरणा को स्वतंत्र कर सके जिनको पूँजीवाद अस्वीकार करता है। संक्षेप में, यह मज़दूरवर्ग का तत्वज्ञान है जो आर्थिक अनुभव के द्वारा सीखा गया है, और अपने को समय की परिस्थितियों के अनुसार एक रीति अथवा कार्य-योजना में परिणित कर लेता है। इसके द्वारा शासन-प्राबल्य का विनाश होता है और वर्गीय आधिपत्य के मिट जाने से मनुष्य स्वतंत्र हो जाते हैं।[१४]

कैनन एफ़० लुई डॉनल्डसन लिखते हैं:—

(१) समाजवाद उस विद्रोह की आत्मा है जो पूँजीवादी धनिक-वर्ग, उसकी वेतन-प्रणाली तथा उसके द्वारा मनुष्यों के शोषण किये जाने के विरुद्ध खड़ा किया है। साथ ही साथ यह उस तीव्र भावनाओं का भी प्रेरक है जो यह चाहता है कि समस्त औद्योगिक तथा व्यापारिक दिशाओं में न्याय तथा सहयोग का सम्मिश्रण हो।

(२) समाजवाद वर्तमान सामाजिक संगठन के विरुद्ध एक भीषण आन्दोलन है; क्योंकि उसका आधार, स्वार्थ; लक्ष्य, लाभ उठाना; ढंग, प्रतिस्पर्धा; तथा फल, अनेकों को दासता और कुछेक को धन-प्राप्ति है।

(३) अतएव समाजवाद एक नवीन सामाजिक संगठन के लिये खड़ा होता है जिसका आधार, सार्वजनिक लाभ के लिये कार्य करना; लक्ष्य, जीवन को उच्च बनाना; ढंग, सहकारिता, तथा परिणाम, सामाजिक तथा व्यक्तिगत लाभ अर्थात् धन-प्राप्ति है।

(४) अतः जीवन की दार्शनिकता के दृष्टिकोण से समाजवाद ईसाई-धर्म के समानान्तर है जो इन आदर्शों को श्रेष्ठ और प्राप्त करने योग्य बतलाता है।

---

[१४] *Ibid*, pp. 23-24.

(५) अपने व्यावहारिक रूप में समाजवाद कई राजनीतिक रूपों को ले सकता है—सामूहिक, म्युनिसिपल, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय। प्रधान बात यह है कि :—

(६) समाजवाद मनुष्य को मनुष्य के साथ सामान्य श्रेय के लिये काम करनेवाला मानता है। इसके विपरीत व्यक्तिवाद मनुष्य को अपने हित के लिये दूसरे मनुष्यों के विरुद्ध कार्य करने का आदेश देता है। इस अर्थ में समाजवाद ईसाई धर्म के अनुकूल और व्यक्तिवाद के प्रतिकूल है।[१५]

मॉरिस हिलकिट लिखते हैं कि समाजवादी चाहता है कि राष्ट्र के मूल उद्यम और जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति-सम्बन्धी धंधे, समाज के द्वारा सब के लाभ के लिये चलाये जायँ। अधिक स्थूल रूप में, समाजवादियों की आयोजना धन की उत्पत्ति तथा वितरण करने वाले प्रधान साधनों—भूमि, खानें, रेलें, भाप की नावें, तार, मिलें, कारखानें तथा वर्तमान मशीनें आदि—को जनता के आधिपत्य में रखना है।[१६]

प्रोफ़ेसर हैरल्ड लास्की का कथन है कि समाजवाद का आशय धन की उत्पत्ति तथा वितरण पर ऐसा आधिपत्य स्थापित कर लेना है कि जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की उन समस्त भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं तक पहुँच हो सके जिनके द्वारा वह अपने जीवन को सुखी बना सकता है।

जे० रैम्ज़े मैक्डानल्ड लिखते हैं कि सामान्य रूप से इससे अधिक अच्छी समाजवाद की कोई दूसरी परिभाषा नहीं दी जा सकती कि इसका लक्ष्य समाज की भौतिक तथा आर्थिक शक्तियों को संगठित करना और भावी शक्तियों द्वारा उन पर अधिकार स्थापित करना है।

---

[१५] *Ibid*, pp. 28-29.

[१६] *Ibid*, p 41.

पूँजीवाद की इससे अधिक दूसरी आलोचना नहीं की जा सकती कि इसका लक्ष्य समाज की मानवी शक्तियों का संगठन करना तथा आर्थिक और भौतिक शक्तियों द्वारा उन पर आधिपत्य किया जाना है।[१७]

बरट्रैन्ड रसेल का कथन है कि समाजवाद का अर्थ, जैसा कि मैं समझता हूँ, भूमि तथा पूँजी पर सार्वजनिक अधिकार करना है; साथ ही साथ लोकतंत्र शासन भी स्थापित करना है। इसके अनुसार उत्पत्ति प्रयोग के लिये है, लाभ के लिये नहीं; और उत्पत्ति का वितरण या तो सब को समान रूप से हो, अथवा केवल इतना विषम हो कि जो जनता के लिये अस्तिकर न हो। यह अनोपार्जित धन तथा मज़दूरों की जीविका से साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार के निराकरण का समर्थक है। पूर्ण रूप से सफल होने से लिये इसका अंतर्राष्ट्रीय होना आवश्यक है।[१८]

शापुरजी सकलातवाला का मत है कि समाजवाद समाज की वह अवस्था है जिसमें मनुष्य नित्यप्रति वह अभ्यास करेंगे जिसके लिये ईसाई धर्म वाले असफल उपदेश देते हैं, जिसमें विज्ञान मानवजाति की उन्नति तथा सुख का प्रयत्न करेगा, और जिसमें निर्धन तथा पद-दलित मनुष्यों का धनवान तथा शक्तिशाली मनुष्यों द्वारा उपहास न किया जायगा और उनके साथ न्यायपूर्वक व्यवहार किया जायगा।

एच० जी० वेल्स लिखते हैं कि मेरे विचार से समाजवाद मनुष्य-जाति के सामूहिक चेतनता की जाग्रति से अधिक अथवा कम और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। यह एक सामूहिक संकल्प और सामूहिक निश्चय है जिससे नवीन प्रयोग, नवीन सफलता तथा मानव-जाति को नवीन संदेश प्रदान करने के लिये महान तथा श्रेष्ठ व्यक्ति उत्पन्न हो सकते हैं।

---

[१७] *Ibid*, p. 41

[१८] *Ibid*, p. 61.

श्री० श्री प्रकाश जी लिखते हैं कि मोटे तौर से मनुष्य समाज के संघटन के सम्बन्ध की एक विचार शैली है जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति भर कार्य करना चाहिये और उसकी आवश्यकता भर उसे मिलना चाहिये। साम्यवादी का ख्याल है कि यदि इस सिद्धान्त पर काम हो तो समाज का संगठन सुन्दर, सुदृढ़ और चिरस्थायी हो सकता है।[१९]

यह विचार-भेद गुण है या अवगुण ?

पूँजीवाद ने समाजवाद के इन अनंत रूपों और परिभाषाओं के अस्तित्व पर बहुत ज़ोर दिया है क्योंकि वे इसे समाजवाद की कमज़ोरी का चिह्न समझते हैं। प्रोफ़ेसर मैकेन्जी कहते हैं कि समाजवाद एक असंयत शब्द है। श्रायुत ऐडमंड कैली का कथन है कि समाजवाद इतना विस्तृत विषय है कि वह पूर्ण रूप से किसी एक परिभाषा के अंतर्गत नहीं लाया जा सकता। प्रोफेसर रैमज़े म्योर लिखते हैं कि समाजवाद गिरगिट के समान रंग बदलने वाला विश्वास है। यह वातावरण के अनुसार रंग बदलता है। सड़क के कोने तथा क्लब के कमरे के लिये यह वर्ग-युद्ध का लोहित वस्त्र पहन लेता है; मानसिक पुरुषों के लिये इसका लाल रंग भूरे में परिवर्तित हो जाता है; भावनात्मक पुरुषों के लिये वह कोमल गुलाबी रंग हो जाता है, तथा क्लर्कों के समाज में यह कुमारियों का श्वेत वर्ण ग्रहण कर लेता है जिसको महत्वाकांक्षा की मन्द मुस्कान का अभी अनुभव हुआ हो।[२०]

वास्तव में समाजवाद की बहुत सी परिभाषाएँ होना इसका दोष

---

[१९] श्री प्रकाश, *साम्यवाद का बिगुल*, पृष्ठ १७।

[२०] देखिये Ramsay Muir, *The Socialist Case Examined*, p. 3.

नहीं, वरन् गुण है। यदि हम विभिन्न देशों के समाजवादी आंदोलन के इतिहास का अनुसरण करें, तो हमको कोई और बात इतनी प्रभावित नहीं करती जितनी कि इस आन्दोलन की जीवन-शक्ति। अपने को विभिन्न अवस्थाओं तथा प्रकृतियों के अनुरूप बना लेने की शक्ति और परिस्थितियों के अनुकूल नवीन रूप धारण कर लेने की तत्परता, अत्यंत मार्के की विशेषताएँ हैं। अब यह संसार के लगभग प्रत्येक सभ्य देश में उन्नतिशील हो रहा है, और प्रत्येक देश में, रूप तथा रंग में, पृथक् विशेषताएँ रखता है। वास्तव में समाजवाद एक केंद्रित सिद्धान्त है जो दूसरी समस्त अवस्थाओं में सम्मिलित है। परन्तु अन्य समस्त दशाओं में यह अत्यन्त अनुकूल तथा बहुरूपोयोगी हैं। अन्य राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक विषयों में अत्यंत विरोधात्मक मतों के साथ इसका सम्बन्ध पाया जाता है। उन मनुष्यों के लिये जो किसी आन्दोलन के सार को उसकी आकस्मिक अवस्थाओं से पहिचानने का प्रयास नहीं कर सकते, यह अवश्य ही भ्रमात्मक तथा विरोधात्मक प्रतीत होगा।

यदि संसार के महान् आन्दोलनों का उद्देश्य केवल परिणामों का प्रकटी-करण और वाद-विवाद ही होता, यदि केवल पदार्थ का विश्लेषण और उसका अंकीकरण ही इतिहास की सजीव तथा महान् शक्तियों का लक्ष्य होता, तो हम इस प्रकार की आलोचना का कुछ आधार देख सकते हैं। यदि समाजवाद केवल बौद्धिक सिद्धान्त-पत्र ही होता जिसमें स्कूलों के प्रश्न-पत्रों की भाँति केवल थोड़ी सी बुद्धि के प्रयोग की ही आवश्यकता पड़ती, तब इस प्रकार की आलोचना बोधगम्य हो सकती। परन्तु खेद है कि जिस विषय से हमारा सम्बन्ध है वह इतना सरल नहीं है। मज़दूर-वर्ग की समस्या, जिसका समाजवाद ज़ोर के साथ स्पष्टीकरण करता है, केवल एक सिद्धान्त ही नहीं है जो वाद-विवाद की परिस्थितियों के अनुकूल हो। यह उन मनुष्यों के कष्टों तथा महत्वकांक्षाओं को सन्मुख रखता है जो अगणित संख्या

में सभ्यता की विभिन्न अवस्थाओं में परिश्रम करते तथा कष्टसहन करते हैं। चाहे हम इसको पसन्द करें अथवा नहीं, समाजवाद उन शहीदों का एक लम्बा लेखा है जो अत्यंत कष्टों तथा कठिनाइयों में भी अपने विश्वासों में दृढ़ रहे, जो जेल के अहातों में काल के ग्रास हुये, जो उष्ण कटिबन्ध के दलदलों तथा साइबेरिया की खानों में निर्वासित किये जाकर भूखों मर गये। समाजवाद उन सामाजिक कष्टों का सामयिक लेखा है जिनको हज़ारों परिश्रम मज़दूर युगों से शान्ति पूर्वक सहते हुये, अत्यंत दुःख में, काल के गाल में पहुँचे, और जिनके रोमाँचकारी दुःख का अब कोई भी चिह्न अवशेष नहीं है। यह उन असंख्य अभाग्यशाली मनुष्यों, स्त्रियों तथा बच्चों की पुकार है जो भूखों मर रहे हैं। यह उन मज़दूरों का विरोध है जो अब भी अनेक देश में, खानों तथा कारखानों में अधिक समय तक काम करने की यातना को सहन करते हैं, जो स्वयं आर्थिक संकट तथा दुःख सहते हैं, परन्तु जिनके चारों ओर उनके ही परिश्रम से उत्पन्न की हुई सम्पत्ति धनिकों के यहाँ भरी हुई है। अवश्य ही इस आन्दोलन-सम्बन्धी समस्या ऐसी नहीं है जो स्कूलों के प्रश्न-पत्र की भाँति केवल बुद्धि से ही हल हो जावे।

वस्तुतः जब हम इस समस्या को, जिसको सिद्ध करने का समाजवाद प्रयास करता है, गुरुता की ओर ध्यान देते हैं तब हम हमको इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि समाजवाद के इतने रूप हैं। परिस्थितियों के अनुकूल रूप ग्रहण कर लेना तथा विभिन्न प्रकार से उपयोग में लाया जाना इसकी शक्ति के प्रधान अंगों में परिगणित किये जाने चाहिये। यह एक रूढ़ि-विश्वास के रूप में नहीं रक्खा जा सकता। यह किसी एक चिन्तनशील व्यक्ति के सिद्धान्तों से बिल्कुल नहीं मिलजुल सकता। यह उन वास्तविक तथा सजीव राजनीतिक और औद्योगिक शक्तियों द्वारा विकसित होता है जो नवीन खोज व जाँच करने के लिये मनुष्यों को बाध्य करती हैं। इस प्रकार का

असीम जीवन-शक्ति वाला और शीघ्र विकसित होने वाला आंदोलन किसी एक सिद्धांत में, सदैव के लिये और सब स्थानों के लिये, सीमित नहीं किया जा सकता।[२१]

ऊपर दी गई परिभाषाएँ एक दूसरे से बहुत-कुछ भिन्न हैं। हमारे विचार से समाजवाद की परिभाषा देना व्यर्थ का प्रयास है। इससे भ्रान्ति तथा अनावश्यक वाक्-युद्ध का सूत्रपात होता है, भ्रम का निवारण नहीं। परिभाषा के स्थान पर यदि हम समाजवाद का संक्षिप्त वर्णन ही दें तो इस आन्दोलन के मुख्य सिद्धान्त बिना किसी भ्रम के समझ में आ सकते हैं: और मतभेद के लिये अधिक स्थान भी नहीं रहेगा।

समाजवाद का पूँजीवाद से सम्बन्ध

हम समाजवाद पर एक और दृष्टि से विचार कर सकते हैं। समाजवाद और पूँजीवाद में घनिष्ट संबंध है। इस संबंध को आधार मानकर हम समाजवाद को निश्चयात्मक रूप दे सकते हैं। इस संबंध के निम्नांकित चार पहलू हैं:—

प्रथम तो समाजवाद पूँजीवाद का विश्लेषण है। समाजवादी साहित्य में पूँजीवाद के विकास की चर्चा की जाती है और उसकी आधुनिक कार्य-प्रणाली का वर्णन किया जाता है। इस विश्लेषण के भिन्न-भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के अनुसार अलग-अलग रूप होते हैं। परन्तु इसका अस्तित्व सब समाजवादी वर्गों के साहित्य में होता अवश्य है।

दूसरे स्थान पर, समाजवाद पूँजीवाद की आलोचना है, और वह उसके दोषों पर प्रकाश डालता है। पूँजीवाद के मुख्य अंग हैं व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा स्पर्धा। समाजवाद इन दोनों को सब वर्तमान खराबियों की जड़ मानता है।

---

[२१] देखिये Kirkup, *An Inquiry into Socialism*, Chapter 1.

समाजवाद पूँजीवाद का स्थानापन्न भी है। प्रायः प्रत्येक समाजवादी दल इस बात की भविष्यवाणी करता है कि आदर्श सामाजिक व राष्ट्रीय संगठन का क्या रूप होगा। भविष्य का आदर्श वर्तमान के विश्लेषण के अनुसार होता है; औषधि रोग के ही अनुसार होती है। इसलिये भिन्न-भिन्न मतों में विभिन्नता होना अनिवार्य है। परन्तु यदि छोटी-मोटी बातों को छोड़ दिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि समाजवादी सामाजिक सम्पत्ति का न्याय-पूर्वक वितरण करने के लिये सामूहिक अधिकार तथा उपज के साधनों का उचित प्रयोग चाहते हैं।

चौथे और अंतिम दृष्टिकोण से समाजवाद पूँजीवाद के विरुद्ध एक युद्ध है। इस युद्ध में किन रीतियों का प्रयोग किया जाय, इस विषय में समाजवादियों में सबसे अधिक मतभेद है। शांतिमय प्रेरणा द्वारा राष्ट्र पर अधिकार, उत्पत्ति के साधनों पर मज़दूरों का अधिकार, सशस्त्र विद्रोह या क्रांति आदि अनेक साधनों पर ज़ोर दिया गया है। यदि बहुत से समाजवादियों ने प्राचीन काल की काल्पनिक सामाजिक प्रणालियों पर विश्वास दिखाया है, तो कुछ का निश्चय है कि अधिक प्रयत्न करना अनावश्यक है; पूँजीवाद में इतने दोष हैं कि दिन पर दिन इसका चलना असम्भव-सा होता जा रहा है, और एक दिन अवश्य ऐसा आयेगा जब कि इसका विनाश हो जायगा।

ऊपर के वर्णन के अनुसार, समाजवाद पूँजीवाद का विश्लेषण, उसकी आलोचना, उसका स्थनानापन्न तथा उसके विरुद्ध एक आंदोलन है। इस पुस्तक में उपरोक्त दृष्टिकोण के आधार पर ही समाजवाद का विवेचन किया जायगा।

———

अध्याय ३

समाजवाद का महत्व

पूँजीवाद के प्रति अब व्यापक रूप से विरोध चल पड़ा है, और मनुष्य समाज को समाजवाद की प्रणाली पर संगठित करने के लिये प्रयत्नशील हो रहे हैं। वर्तमान काल में समाजवाद संसार का सब से बड़ा आंदोलन है, और समाजवाद की समस्या संसार की सब से बड़ी समस्या है। संसार की राजनीति में समाजवाद का प्रसार और उन्नति सबसे प्रमुख विशिष्टता है। एक जर्मन लेखक लिखता है कि समाजवाद हमारे समय का बीजमंत्र है। वर्तमान समय में समाजवादी विचार मनुष्यों के मस्तिष्क में स्थान प्राप्त कर चुके हैं और साधारण जनता इससे प्रभावित हो रही है। इसने प्रत्येक के विचार तथा भावनाओं पर अपना शासन स्थापित कर लिया है। यह वर्तमान युग को अपनी विशिष्ट प्रकृति प्रदान करता है। इतिहास वर्तमान युग को 'समाजवाद का युग' कहकर पुकारेगा। वास्तव में बीसवीं शताब्दी आधुनिक (वैज्ञानिक) समाज के जन्मदाता कार्ल मार्क्स की शताब्दी है। बिना यह समझे हुये कि समाजवाद का क्या अर्थ है और यह समाज का सुधार किस प्रकार कर सकता है, कोई व्यक्ति नागरिकता के अधिकारों को ठीक तरह प्रयोग में नहीं ला सकता। एक पीढ़ी के अंदर ही समाजवाद ने अपनी ओर करोड़ों गंभीर स्त्री-पुरुषों को आकर्षित कर लिया है। प्रत्येक सभ्य देश में समाजवादियों द्वारा राज्य पर अधिकार कर लेना सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्या है।[1] समाजवाद प्राचीन परिपाटी का

---

[1] देखिये Henderson, *The Case for Socialism*. p. 1.

दृढ़ता के साथ विनाश करता हुआ नित्य प्रति शक्तिशाली होता जा रहा है। समाजवादी प्रचारक प्रत्येक वस्तु का प्रयोग करना भली-भाँति जानते हैं, इस कारण वे मानुषिक प्रयत्न के प्रत्येक विभाग में प्रवेश करने में सफल हो सके हैं। कला, साहित्य, विद्या तथा स्त्री और पुरुषों के आंदोलनों में समाजवाद की धूम है।[२]

समाजवाद वास्तव में एक धर्म के समान है और इसके अवलम्बी इसको धार्मिक जोश के साथ मानते हैं। यही शायद इसके अद्वितीय और अपूर्व शीघ्रता से फैलने का कारण है। समाजवाद की वर्तमान प्रगति की शीघ्रता और शक्तिशालीनता, तथा संसार के इतिहास के बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनों के प्रवाह की तुलना तथा समीक्षा हमें बड़े ध्यान से करनी चाहिये। ईसाई-धर्म के प्रचारकों (apostles) के समय में ईसाई धर्म का रोम-राज्य में शीघ्रतापूर्वक प्रसार; प्रारम्भिक खलीफ़ाओं के युग में मुसलमानी धर्म की पूर्वीय देशों पर विजय; लूथर तथ कॉल्विन के समय में सुधारवाद की लहर का योरोप में सवेग प्रवाह; ईसाई चर्च के पुनरुत्थान में धर्म प्रचारकों की अपूर्व सफलता आदि इस प्रकार के आंदोलन हैं जो वर्तमान समय के समाजवादी आन्दोलन से स्वाभाविक प्रगति तथा क्रियात्मक प्रभाव दोनों में ही मिलते-जुलते हैं। परन्तु प्रसार की शीघ्रता के दृष्टिकोण से समाजवाद उन सब से आगे निकल जाता है।

समाजवाद के विषय में संयुक्त-प्रान्त के प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता, श्री० श्री प्रकाश जी लिखते हैं, "हम साधारण लोगों को, जो इस प्रकार की अनावश्यक राजशक्तियों से डराये धमकाये हुए हैं, जो प्रति दिन के भयङ्कर परिश्रम से दबे हुए हैं, जो अपने पेशों की अवनति से चिंतित हैं, जो अपनी सन्तति की शिक्षा विवाह, जीविका आदि समस्याओं को हल करने में विह्वल और व्याकुल हैं, उनके लिये साम्यवाद के

[२] Webster, *The Socilist Network.*

सिद्धांत पर स्थापित समाज-व्यूहन से बढ़कर कोई आश्रय नहीं है। हम काम चाहते हैं, हम मेहनत से भागते नहीं, हम आवश्यकता से अधिक लालसा नहीं रखते। हम पूछते हैं कि हमारे लिये व्यवस्था क्यों नहीं हो रही है? वर्तमान पूँजीवादी समाज हमारा संतोष नहीं कर सकता क्योंकि उसे हमारी आवश्यकता नहीं है ······आजकल हमारे जो सम्मानित अधिकार प्राप्त धनी लोग हैं उनकी भी वास्तविक स्वार्थसिद्ध साम्यवाद में ही है। उनके पास हर प्रकार के भोजन का प्रबन्ध होते हुए भी उनको बेकारी सताती है। उनसे समय काटा नहीं जाता। काल, काल की तरह उन्हें ग्रसता है······उनका घर चाहे उनके धन के कारण कितना ही स्वच्छ और सुन्दर क्यों न हो, बगल के झोपड़े में पैदा हुई गरीबी की बीमारियाँ, वायु और जल, धोबी और हलवाई के द्वारा उनके पास अवश्य पहुँच कर अनर्थ करतीं हैं। उनका भी स्वार्थ इसी में है कि सारा समाज उपयुक्त भोजन और वस्त्र, उपयुक्त शिक्षा, आमोद-प्रमोद तथा निवास-स्थानों से पूरित रहे, सभी अपने-अपने कामों को सुचारु रूप से करते रहें, सबही स्वच्छ, स्वस्थ और प्रसन्न रहें जिससे वे स्वयं भी यथासंभव अनिवार्य कष्टों से सुरक्षित रहें।"

आचार्य नरेन्द्र देव जी समाजवाद को ही साम्प्रदायिकता का इलाज मानते हैं। उनके मतानुसार, "यह कहना कि हिन्दू-मुस्लिम समझौता हो सकता है, बिलकुल ग़लत है। साम्प्रदायिकता के ज़हर को नष्ट करने के लिये साम्यवाद ही एक उपचार है।"

इसमें संदेह नही कि पिछली एक शताब्दी से समाजवाद ने संसार की विचार-धारा पर बहुत प्रभाव डाला है, और ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य में वह उसका प्रधान प्रेरक होगा। समाजवाद ने शोषण का अंत करने के लिये शोषक और शोषित वर्गों को मिला देने की प्रेरणा की है। इस प्रकार इसने व्यक्तिगत हित की अपेक्षा सामाजिक हित को प्रधानता दी है, और मनुष्यों के हृदय में

आत्मत्याग तथा समाज-सेवा के भाव जाग्रत कर दिये हैं। समाजवाद ने राष्ट्र के आर्थिक तथा औद्योगिक कार्यों का क्षेत्र बढ़ाकर राष्ट्र की परिभाषा भी विस्तृत कर दी है। साथ ही साथ जनता के हृदय में राष्ट्र के सर्वशक्तिमान होने का भाव भी उत्पन्न कर दिया है, और लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि राष्ट्र समाज के हित के लिये सभी आवश्यक कार्यों को कर सकता है। समाजवाद ने लोगों के हृदय में यह भाव जाग्रत कर दिया है कि दरिद्रता तथा दुःख पूर्ण रूप से अपरिहार्य नहीं हैं, और यदि उचित रूप से प्रयत्न किया जाय तो बहुत अंश में उनका बिनाश हो सकता है। इसने इस बात पर विशेष ज़ोर दिया है कि वातावरण का मनुष्य के चरित्र पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसलिये कारख़ाने में असंख्य मनुष्यों को ठूँस देना जहाँ पर मनुष्यों को साँस लेना तक दुर्लभ हो जाता है, अवश्य ही रोका जाय। समाजवाद ने वर्तमान सामाजिक अवस्था को दोषपूर्ण बताया है जिसमें अनेक मनुष्य दुःख तथा दरिद्रता के शिकार हो जाते हैं। अतएव उसके अनुसार राष्ट्र का कर्तव्य है कि जहाँ तक संभव हो सके मनुष्यो की कठिनाइयो को दूर करने का प्रयत्न करे। समाजवाद ने अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर-संगठन का समर्थन करके मनुष्य-जाति में भ्रातृ-भावनाएँ उत्पन्न करने का भी प्रयास किया है। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण कार्य समाजवाद ने यह किया है कि इसने मनुष्य-जाति के जीवन को उच्च श्रेणी पर स्थापित करने की चेष्टा की है। इसने वर्तमान आर्थिक प्रणाली का, जिसमें जीवन की आवश्यक वस्तुएँ तो अवश्य बढ़ गई हैं परन्तु जिसमें मनुष्य का नैतिक जीवन गिर गया है, कड़े शब्दों में विरोध किया है। वह मनुष्य को मनुष्य की भाँति, न कि मशीन की भाँति, व्यवहार करने का समर्थन करता है। इससे भयभीत होकर संसार के पूँजीवादी देशों ने भी बहुत से मानव-हित-सम्बन्धी नियम पास कर दिये हैं।

इस प्रकार का महत्वपूर्ण और हितकारी आन्दोलन विरोधियों के हाथों से दबाया नहीं जा सकता। इस प्रकार के विरोधकों को सीधे मार्ग पर लाना प्रत्येक समाज-हितवादी का कर्तव्य है।

अध्याय ४

समाजवाद का विकास

समाजवाद ने यह अद्भुत शक्ति थोड़े ही दिनों में प्राप्त की है, परन्तु यह बहुत पुराना विचार और संगठन है। प्लेटो के समय से आज तक समाजवाद एक जीवित आन्दोलन रहा है। इसका इतिहास बहुत ही आकर्षक तथा मनोरंजक है। एक लेखक और उसके सम्प्रदाय के पश्चात् दूसरे लेखक और सम्प्रदाय ने, लोगों में भली भाँति ख्याति प्राप्त की। पर उनकी विजय अल्पपूर्ण हुई और वे कुछ ही समय बाद विचारात्मक और क्रियात्मक क्षेत्र की कालिमा में विलीन हो गये। और शीघ्र ही दूसरे लेखकों और सम्प्रदाय ने उनका अनुगमन किया। समाजवाद की उन्नति को हम चार युगों में विभक्त कर सकते हैं।[1] प्रथम युग में साधारण प्रयोगकों ने ओविन और फ़ोरियर से नेतृत्व में संस्थाएं स्थापित कीं। ये संस्थाएँ श्रम-निर्भर थीं, और विभिन्न प्रकार के संयुक्त-श्रम पर आधारित थीं जिनमें सर्वश्रेष्ठ मशीनें तथा नागरिक और ग्रामीण जीवनों के सभी लाभ समन्वित थे। उनमें अधिकांश संस्थाएं असफल रहीं, पर उन्होंने समाजवाद के विकास पर पर्याप्त प्रभाव डाला।

समाजवाद के दूसरे युग के प्रतिनिधि हैं लुई ब्लांक और लासेली। ओविन, सांट-सीमों और फ़ोरियर के सिद्धांत फ्रांस की क्रांति की प्रबलता तथा प्रतिद्वन्द्विता की प्रतिक्रिया में पले थे। लुई ब्लांक के समय प्रजातंत्रवाद की उन्नति हो रही थी। समाजवाद ने इन आन्दोलन का

[1]देखिये Kirkup, *An Inquiry into Socialism*, p. 13.

साथ पकड़ा। लुई ब्लांक और लासेली ने दो बातों का पक्ष लिया— सार्वजनिक मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र राज्य का और सरकार द्वारा सहायता प्राप्त किये हुये उत्पत्ति संघ का। उनके उपाय प्रजातंत्रवाद की रेखाओं पर थे, क्रांतिकारी नहीं।

समाजवाद के तीसरे युग में क्रांतिकारी विचारों का खूब धूमधाम मची। इस युग में समाजवाद और मार्क्सवाद वस्तुतः मिलकर एक हो गए। कार्ल मार्क्स ने पुराने समाजवाद की काल्पनिक (Utopian) समाजवाद, अवैज्ञानिक समाजवाद आदि कहकर हँसी उड़ाई, और अपने नवीन वैज्ञानिक समाजवाद का सूत्रपात किया। समाजवाद के इतिहास में उनका स्थान अद्वितीय है। समाजवाद की वर्तमान अवस्था का श्रेय कार्ल मार्क्स को ही है। उन्होंने ही समाजवाद को वैज्ञानिक, सामान्य-वर्गीय, क्रांतिकारी और आन्तर्राष्ट्रीय रूप दिया। उन्होंने विश्व के इतिहास को खोलकर यह दिखाया कि संसार का इतिहास श्रेणी-युद्ध का इतिहास है और पूँजीपति अतिरक्तार्घ (Surplus Value) के रूप में मज़दूरों का शोषण करते हैं। इस विश्लेषण ने समाजवाद को वैज्ञानिक रूप दिया। उन्होंने यह बताकर कि सामाजिक बिकास की दूसरी सीढ़ी समाजवाद ही है और उसको क्रियात्मक रूप देने के लिये पूँजीवाद की संहारिणी शक्ति अपना कार्य कर रही है, इस सामाजिक प्रणाली का आगमन अवश्यंभावी बना दिया। उन्होंने मध्यमवर्ग के समाजवादियों के स्वप्नों का मज़दूरों की कठिनाइयों और महात्वाकांक्षाओं से योग करके, इसे सामान्य-वर्गीय (Proletarian) बनाया। उन्होने समाजवाद को क्रियात्मक रूप देने के लिये बड़े-बड़े आदमियों के आदर्शवाद और न्याय-संज्ञा का आश्रय नहीं लिया, वरन् असंख्य निर्धनों की भूख का सहारा लिया, और इस प्रकार समाजवाद को क्रांतिकारी बना दिया। उन्होंने समाजवाद को अंतर्राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप भी दिया। उन्होने बताया कि विभाग की रेखाएँ देश देशों में नहीं वरन् वर्ग और वर्ग में होनी चाहिये। एक देश दूसरे देश का

शत्रु नहीं, वरन् अंतर्राष्ट्रीय पूँजी और अंतर्राष्ट्रीय श्रमी में हित-विरोध है। उन्होंने मज़दूरों को ललकारा : "समाजवादी क्रांति के आगमन के भय से पूँजीपति काँप उठें। मज़दूरों के पास त्यागने के लिये केवल उनके बंधन हैं। समस्त संसार उनके विजय के लिये है। संसार के मज़दूरों, संगठित हो जाओ!"

मार्क्स की विश्वव्यापिनी पुकार का उचित उत्तर मिला। आज संसार के असंख्य मज़दूर उनके तथा उनके अनुयायियों द्वारा फहराये गये झंडे की संरक्षा में प्रगतिशील हो रहे हैं। समाजवाद, जो एक अथवा दो शताब्दियों पहले संसार के द्वारा इने-गिने अविवेकशील तथा स्वप्न-जगत में विहार करनेवाले अप्रसिद्ध मनुष्यों का ख्याति-प्राप्ति के लिये किया गया विश्वास माना जाता था, आज इतिहास में अत्यंत मार्क का अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन हो गया है जिसमें संसार के लगभग प्रत्येक देश के प्रतिनिधि हज़ारों की संख्या में सम्मिलित हैं।[२]

समाजवाद का चौथा युग महायुद्ध के पश्चात् से आरम्भ होता है। इस युग में समाजवाद की आश्चर्यजनक उन्नति हुई है और कई देशों में उसे क्रियात्मक रूप दिया गया है। सन् १६२४ ई० में कम से कम आठ देशों में समाजवादी शासन स्थापित किया गया। इनमें तीन देश तो स्वीडन, डेनमार्क और ग्रेट ब्रिटेन थे और शेष पाँच अंग्रेज़ी उपनिवेश थे। परन्तु समाजवाद की सबसे अधिक चमत्कारपूर्ण विजय रूस में हुई है जहाँ प्रथम महायुद्ध के बाद क्रांति हुई, और क्रांति के बाद समष्टिवाद (समाजवाद का एक रूप) का स्थापन हुआ, जिसके सम्मुख समाजवाद की अन्य छोटी-छोटी विजय फीकी पड़ पड़ गई हैं। वास्तव में आज संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ मज़दूर नवीन सामाजिक राष्ट्र की नींव डालने का उपक्रम न कर रहे हों। द्वितीय महायुद्ध में समष्टिवादी रूस की शक्ति का अपूर्व प्रमाण मिला

[२]देखिये Skelton. *Socialism*, Chapter 1.

और इससे समाजवाद के आंदोलन को बहुत प्रोत्साहन मिला है। इंगलैंड में मज़दूरों की सरकार सिंहासनारूढ़ है तथा अन्य देशों में समाजवादी शक्तिशाली होते जा रहे हैं। हमारे देश में भी भावी विधान समाजवादी रेखाओं पर निर्मित होगा, यह पूर्णतया निश्चित है।

पूँजीवाद

[अध्याय : ५—पूँजीवाद का विश्लेषण । ६—पूँजीवाद का विश्लेषण—उत्तरार्द्ध । ७—पूँजीवाद के दोष । ८—पूँजीवाद के दोष—उत्तरार्द्ध । ९—पूँजीवाद संकट में ।]

अध्याय ५

पूँजीवाद का विश्लेषण

'पूँजी' और 'पूँजीवाद' शब्द साधारण बोलचाल में बहुधा प्रयुक्त होते हैं। परन्तु इन दोनों शब्दों का अन्तर जानना अत्यंत आवश्यक है। 'पूँजी' शब्द से तो लगभग सभी लोग परिचित हैं। यदि आपके एक मित्र ने १,०००) लगाकर एक दूकान खोल ली, तो आप कहते हैं कि १,०००) उसकी पूँजी है। अर्थ शास्त्रियों ने पूँजी की निम्नलिखित परिभाषा दी है: "पूँजी मनुष्य के धन का वह भाग है जिससे वह कुछ रुपया कमाने की आशा रखता है।"

अस्तु। परिभाषा से हमें यहाँ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। परन्तु यह जान लेना आवश्यक है कि केवल रुपया पूँजी नहीं है। मशीन, औज़ार आदि वस्तुएँ भी, जिनकी सहायता से धन उत्पन्न किया जाता है, पूँजी ही में परिगणित की जाती हैं।

परन्तु 'पूँजीवाद' एक दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका तात्पर्य पूँजी, रुपया या मशीनों से नहीं। पूँजीवाद हमारी वर्तमान सामाजिक-संगठन की प्रणाली का नाम है, जिसमें समाज दो भागों में विभक्त हो जाता है—एक भाग तो उन मनुष्यों का होता है जिनका पूँजी अर्थात् मशीन और रुपया इत्यादि, पर अधिकार होता है, और जिन्हें पूँजीपति कहते हैं; और दूसरा उन मनुष्यों का जिन पर पूँजी नहीं होती, जो केवल मज़दूरी करके अपना और अपनी संतान का पेट पालते हैं, और जिन्हें सर्वहारा वर्ग कहते हैं। वर्तमान पूँजीवाद में के मज़दूरों और पुराने समय के दासों में केवल इतना ही अंतर है

कि मज़दूर लोग क़ानून के अनुसार जहाँ चाहें वहाँ मज़दूरी कर सकते हैं, परन्तु दासों को केवल अपने स्वामी की ही सेवा करनी पड़ती थी। पर, वास्तव में, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, दोनों की अवस्थाओं में अधिक अंतर नहीं है। इस प्रकार पूँजीपति ने धन के द्वारा निर्धन मज़दूरों पर पूर्णरूप से अपना आधिपत्य सा स्थापित कर लिया है।

इसका कारण स्पष्ट है। सामान्यतः किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिये पूँजी और मज़दूरी दोनों ही चीज़ों की आवश्यकता पड़ती है। रुपया, मशीनें, औज़ार आदि भी आवश्यक है और साथ ही साथ उसको चालू करने के लिये मज़दूर भी। इसका आशय यह हुआ कि उत्पादन-क्रिया में पूँजीपतियों और मज़दूरों का सहयोग अत्यंत आवश्यक है। पूँजीवाद में पूँजी के स्वतंत्र स्वामी पूँजीपति, और मज़दूरी के स्वतंत्र स्वामी मज़दूर लोग—हमें दो विभिन्न वर्गों के रूप में दिखाई देते हैं, और धन[1] की उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक है कि या तो पूँजीपति मज़दूरों को काम में लगावें या मज़दूर लोग पूँजीपतियों के धन की सहायता से कारख़ाने स्थापित करें।[2] प्रायः पूँजीपति ही अपने कारख़ानों में मज़दूरों को वेतन देकर नौकर रख लेते हैं। मज़दूर लोगों के पास न तो इतना धन ही है और न इतनी विद्या और योग्यता ही कि वे मशीन, मकान इत्यदि ख़रीद सकें,

---

[1] 'धन' का अर्थ, अर्थशास्त्र में, केवल रुपये-पैसे से ही नहीं है। कोई भी वस्तु जो हमारी किसी आवश्यकता को पूरी करती है और जिसको प्राप्त करने के लिए हमको परिश्रम करना पड़ता है, या पैसा ख़र्च करना पड़ता है, वही धन है। उदाहरणार्थ, कमीज़ घड़ी, गेहूँ, इत्यादि सब धन हैं।

[2] देखिये G. D. H. Cole, *What Marx Really Meant*, p. 47.

कारख़ानों का संचालन कर सकें और उत्पादन-क्रिया के समस्त अंगों का सुचारु रूप से प्रबन्ध कर सकें। फलतः मज़दूरों का पूँजीपतियों को काम देना अभी तक क्रियात्मक रूप में देखने में नहीं आता।

इंगलैंड के जगत्प्रसिद्ध विद्वान, जार्ज बर्नर्ड शा का कथन है कि हमें अपनी वर्तमान समाज-संगठन की प्रणाली को 'पूँजीवाद' नहीं, वरन् 'सर्वहारावाद' कहना चाहिए। वे कहते हैं, "पूँजीवाद शब्द तो धोखे में डालने वाला है। हमारी प्रणाली का उचित नाम 'सर्वहारा-वाद' (Proletarianism) है।[3] उपरोक्त कथन में सत्य का बहुत कुछ अंश है। वास्तव में 'पूँजीवाद' शब्द को इस प्रणाली के पुजारियों ने इस प्रकार टेढ़े-मेढ़े अर्थ में लगाया है कि जिससे उन्हें समाजवाद के विरुद्ध प्रचार (Propaganda) करने का एक सरल ढंग हाथ लग गया है। ये लोग कहते हैं, "देखो, समाजवाद पूँजीवाद का नाम-निशान मिटा देना चाहता है! पूँजी को नष्ट भ्रष्ट कर देना चाहता है। परन्तु जब पूँजी ही नहीं रहेगी, तो जितना सस्ता और अधिक माल अब पैदा होता है, वह समाजवाद की प्रणाली में कैसे हो सकेगा? यदि समाजवाद स्थापित हो जायगा, तो वस्तुओं का उत्पादन कम होगा और भाव भी तेज़ होगा। समाजवादी चाहते हैं कि पूँजी नष्ट कर दें और सब मनुष्यों को कंगाल बना दें।" ऐसा सुनकर हम लोग पूँजीवाद के पक्षपाती हो जाते हैं, क्योंकि कंगाल होना तो कोई भी मनुष्य पसंद नहीं करता। परन्तु यह उक्ति पूर्णतः तर्कहीन और व्यर्थ है। समाजवादी पूँजी के शत्रु नहीं; वे पूँजी के महत्व और उसकी आवश्यकता को पूर्ण रूप से समझते हैं। मानवीय सभ्यता के विकास की प्रारम्भिक सीढ़ियों पर ही मनुष्य ने पूँजी की महत्ता का

[3] देखिये G B. Shaw, *The Intelligent Woman's Guide to Socialism, etc*, (Pelican), p. 108.

पता लगा लिया था। एक मछुए को शीघ्र ही इस बात का पता चल गया था कि यदि उसके पास एक जाल और एक लकड़ी हो तो वह अधिक संख्या में सुगमतापूर्वक मछलियाँ पकड़ सकता है। इसी प्रकार शिकारी ने इस बात का बहुत जल्द अनुभव प्राप्त कर लिया था कि यदि उसके पास कुछ हथियार—तीर, कमान इत्यादि—हों तो वह सुगमता-पूर्वक अधिक जानवर मार सकता है। फिर भला आजकल के युग में, जब कि पूँजी का इतने अधिक परिमाण में और हज़ारों कारख़ानों में प्रयोग हो रहा है, कोई भी समाजवादी कैसे कह सकता है कि पूँजी को नष्ट कर देना चाहिये ?[४] समाजवादी अपनी प्रणाली में प्रचुर पूँजी एकत्र करेंगे। उदाहरणार्थ रूस एक समाजवादी देश है। वहाँ पूँजी इतनी प्रचुरता के साथ एकत्र की जा रही है कि जिसे देखकर संसार के पूँजीवादी देश आश्चर्यान्वित हो गये हैं। समाजवादी पूँजी को नहीं, वरन् पूँजीवाद को नष्ट करना चाहते हैं। इसी धोखे से बचने के लिये बर्नर्ड शा का मत है कि यदि हम वर्तमान प्रणाली को 'सर्वहारावाद' कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। वस्तुतः इसमें पूँजीपति हैं ही कितने जो पूँजीवाद नाम उचित समझा जाय ? अधिकतर तो साधारण श्रेणी के, निर्धन व्यक्ति ही हैं। अतएव वर्तमान प्रणाली को 'सर्वहारावाद' के नाम से पुकारा जाना समीचीन होगा। परन्तु खेद है कि बर्नर्ड शा का यह शब्द प्रचलित नहीं हुआ।

---

[४] संसार के कुछ बड़े विद्वानों का मत है कि संसार की बहुत सी आपत्तियों की जड़ आधुनिक आविष्कार और मशीनें हैं। यदि हम उन्हें तिलांजलि दे दें और पुराने साधारण ढङ्गों से "जितना और जो पैदा करना, उतना और वही खाना" के 'उद्देश्य पर चलें तो संसार में फिर सुख और शांति फैल जाय। महात्मा गांधी, टाल्सटाय आदि महापुरुषों की यही राय है। पर ये समाजवादी नहीं हैं। इस मत में भी सत्य का एक बहुत बड़ा अंश विद्यमान है।

पूँजीवाद का विकास

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पूँजीवाद का वास्तविक लक्षण यह है कि इसमें पूँजीपति और मज़दूरों के दो विभिन्न वर्ग हो गये हैं। मध्यकाल में यह बात नहीं थी। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution), जो इंगलैंड में लगभग एक शताब्दी तक (१७५० से १८५० ई० तक) रही, के समय से ही इस प्रणाली का सूत्रपात हुआ। उससे पहले कृषकों के पास अपनी भूमि थी, और कारीगरों के पास अपने औज़ार। परन्तु कालांतर में किसान से उसकी भूमि और कारीगर से उसके हथियार छीन लिये गये और उनको इस बात पर बाध्य किया गया था कि वे पूँजीपतियों के पास जाकर नौकरी करें। उत्पादन के इन साधनों को छीनने के लिये दो प्रकार से काम लिया गया।[५] पहला ढंग कुछ भद्दा और असभ्य सा था, क्योंकि उसके अनुसार इन साधनों को खुल्लम-खुल्ला छीन लिया गया। उदाहरणार्थ, इंगलैंड के ऐनक्लोज़र मूवमेंट (Enclosure Movement) का नाम लिया जा सकता है। इस आंदोलन में भूमिपतियों और सामंतों ने कई प्रकार से भूमि को प्रकट रूप से कृपकों से छीन लिया। परन्तु यह ढंग पुराना था। दूसरा ढंग नवीन और कुछ अधिक सभ्य था; परन्तु था उतना ही भयानक और नाशकारी। औद्योगिक क्रांति के समय में बहुत नये-नये आविष्कार हुये और उत्पादन के अनेक भागों में पर्याप्त उन्नति हुई। बड़े-बड़े कारख़ाने खोले गये जिनमें अनेक प्रकार की मशीनें काम में लाई जाने लगीं। इन कारख़ानों में माल बहुत बड़े परिमाण में और काफ़ी सस्ता बनने लगा। बेचारे कारीगर लोग इतने कम मूल्य में माल नहीं बना पाते थे। बस, फिर क्या था; उनके व्यापार और

---

[५]देखिये John Strachey, *The Coming Stuggle for Power*, pp. 42-45.

जीविका पर पानी फिर गया। अन्त में अपने निजी व्यापार को छोड़ कर वे कारखानों में जाकर मज़दूरी करने लगे। इस प्रकार से किसानों और कारीगरों से उत्पादन के साधन छीन लिये गये, और उन्हें कारखानों में नौकरी करने को विवश होना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि समाज दो भागों में विभक्त हो गया—एक ओर तो पूँजीपति और दूसरी ओर मज़दूर लोग परस्पर हित-विरोधक के रूप में दिखाई पड़ने लगे, और पूँजीवाद की नींव पड़ी।

एक लेखक ने लिखा है[१] कि पुराने कट्टर विचार के अर्थ-शास्त्रियों का विश्वास था कि पूँजीवाद ईश्वर की देन है, उसकी बनाई हुई प्रणाली है। अतएव मनुष्य का कर्त्तव्य केवल इतना ही है कि वह इस प्रणाली के विविध अंगों का अध्ययन करे; यह देखे कि यह प्रणाली किस प्रकार काम करती है; और इसके अनुसार कार्य करे। बस, इससे अधिक कुछ करने का न तो उसे अधिकार है और न ऐसा करना आवश्यक ही है। परन्तु समाजवादियों का कथन है कि पूँजीवाद, वर्तमान रूप में, एक नई उपज है, और सामन्त-प्रथा के समय इसका जन्म हुआ। यह अपनी युवावस्था को अठारहवीं शताब्दी के मध्य में प्राप्त हुआ। नई-नई मशीनों के आविष्कार से यह अत्यन्त उन्नतिशील हुआ। विशेष रूप से भाप की शक्ति के प्रयोग ने तो एक नया युग ही स्थापित कर दिया। नई मशीनों और भाप ने उत्पादन के विधानों में एक क्रांति मचा दी। छोटे परिमाण में वस्तुओं के युग का अंत हुआ, और अधिक परिमाण में वस्तुएँ उत्पन्न की जाने लगीं। उदाहरणार्थ, जुलाहे कपड़ों के कारखानों की प्रतियोगिता में असफल हुए। उनके करघे बेकार हो गये। इस प्रकार वे मनुष्य जो पहले स्वतंत्र थे, और स्वयं ही अपने उद्योगों का संचालन करते थे,

[१] देखिये W. H. Mallock. *A Critical Examination of Socialism*, pp. 2-3.

अब मज़दूर बन गये। अब वे पूँजीपतियों के औज़ारों से, उन्हीं के कारखानों में, साधारण वेतन पर काम करने लगे। पूँजीवाद का सब से पहले इंगलैंड में उदय हुआ। परन्तु शीघ्र ही यह संसार के अन्य देशों में भी फैल गया और कुछ ही समय में सभी देशों में पूँजीवाद की विजय-दुंदुभी बजने लगी।

कुछ लोगों ने पूँजीवाद की एक विशेष जन्म-तिथि देने की चेष्टा की है। कुछ विद्वानों का मत है कि इंगलैंड के प्रमुख बैंक (Bank of England) के स्थापित होने के समय, अर्थात् १६६४ ई० में, पूँजीवाद का जन्म हुआ। इसी प्रकार कुछ दूसरे लोगों की सम्मति में इसका उदय सोलहवीं शताब्दी के धार्मिक युद्धों के समय में हुआ। परंतु वास्तव में एक प्रणाली के विकास की कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती। यह एक बच्चे की भाँति किसी निश्चित तिथि में नहीं उत्पन्न होता, वरन् धीरे-धीरे जड़ पकड़ती जाती है और कुछ समय के पश्चात् इसकी नींव इतनी सुदृढ़ हो जाती है कि इसका अस्तित्व सब लोगों को दृष्टिगत होने लगता है। अतएव केवल इतना ही कहना उचित होगा कि औद्योगिक क्रांति (१७५०-१८५०) ने ही पूँजीवाद को जन्म दिया।[७]

पूँजीवाद में सामाजिक जन-निर्माण

पूँजीवाद में समाज दो भागों में विभक्त हो जाता है—एक भाग तो पूँजीपतियों का होता है और दूसरा साधारण मनुष्यों का जिनमें मज़दूरों का अंश सबसे अधिक होता है। ये दो भाग प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त एक मध्यम-श्रेणी भी होती है जिसके सदस्यों की

---

[७]यही राय मैकार की भी है। देखिये Socialism, *Encyclopaedia of Ethics and Religion* में।

दशा मज़दूरों की दशा से अच्छी और पूँजीपतियों की दशा से ख़राब होती है।

पूँजीपतियों की श्रेणी में, मनुष्यों की आय लाभ, ब्याज और किराये (लगान) के रूप में होती है। पूँजीपति उत्पादन के साधनों का स्वामी होते हैं। उत्पादन के प्रमुख साधन चार हैं—भूमि, मज़दूरी, पूँजी और संगठन। इन चारों की आमदनी लगान, वेतन, ब्याज और लाभ कहलाती है। इन चारों साधनों में तीन साधन—भूमि, पूँजी, और संगठन—पूँजीपतियों के अधिकार में होते हैं और इनकी आय से ही उनका काम चलता है। मज़दूर केवल श्रम करना जानते हैं, और पूँजीपतियों के खेतों पर और कारखाने में मेहनत-मज़दूरी करके अपनी जीविका उपार्जन करते हैं। इन दोनों वर्गों के—पूँजीपतियों तथा मज़दूरों के—स्वार्थ भिन्न-भिन्न और एक दूसरे के प्रतिकूल होते हैं। पूँजीपति मज़दूरों को न्यूनतम वेतन प्रदान करना चाहते हैं। इसके विपरीत, मज़दूर जो दिन भर कठिन परिश्रम करके माल पैदा करते हैं, अपने वेतन की वृद्धि के लिये आन्दोलन करते हैं उनका विचार है कि पूँजीपति, उनके उत्पन्न किये हुये धन पर अनुचित रूप से अपना अधिकार स्थापित कर लेते हैं, और उनको यथोचित वेतन नहीं देते। कार्ल मार्क्स ने इन दोनों श्रेणियों के प्रतिकूल स्वार्थ की स्थिति पर ही अपना श्रेणी-युद्ध-सिद्धांत (Class Stuggle Theory) स्थापित किया था। मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार इन दोनों दलों में भीषण प्रतिद्वन्द्व होगा। पूँजीपतियों के दल में, अधिक से अधिक धन एकत्र करने की पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण फूट पड़ जायगी; और कुछ पूँजीपति निर्धन हो जायँगे। इस प्रकार पूँजीपतियों की शक्ति गिरती जायगी और मज़दूर शक्तिशाली होते जायँगे। अन्त में एक दिन अत्याचार का तख़्ता पलट जायगा, और मज़दूर लोग आनन्दातिरेक में विजय की शंख-ध्वनि करते हुए समाजवाद का झंडा फहरायेंगे और उसको स्थापित करेंगे।

इन दोनों श्रेणियों के अतिरिक्त, मनुष्यों की एक और श्रेणी का भी प्रसंग देना आवश्यक है। यह मध्यम पुरुषों की श्रेणी है। इस श्रेणी में ऐसे मनुष्य सम्मिलित हैं जो न तो निर्धन ही कहला सकते हैं, और न अमीर ही; न तो पूँजीपति ही हैं और न निम्न-श्रेणी के मनुष्य अर्थात् मज़दूर, ही। साधारण व्यापारी, स्वतंत्र कारीगर आदि मनुष्य इस श्रेणी में परिगणित किये जा सकते हैं। कार्ल मार्क्स ने सर्व प्रथम इस श्रेणी को समाज में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया था, परन्तु बाद में उन्होंने इस कमी को पूरा कर दिया। इस श्रेणी के मनुष्य कम परिमाण में उत्पादन के समर्थक हैं, क्योंकि वे स्वयं छोटे परिमाण में माल उत्पन्न करते तथा व्यापार करते हैं। वे पूँजीवाद के विरोधक हैं, क्योंकि पूँजीवाद में माल का उत्पादन बड़े परिमाण में होता है। और छोटे परिमाण में उत्पन्न करनेवाले उनके सामने नहीं ठहर सकते। परन्तु वे लोग इस ओर भी सदैव प्रयत्नशील रहते हैं कि कहीं वे निम्न श्रेणी के मनुष्यों में न ढकेल दिये जायँ। वे अपने को मज़दूरों से उच्चश्रेणी में रखते हैं, और उनसे ऊँचा रहना चाहते हैं। यही कारण है कि वे कभी-कभी समाजवाद के विरुद्ध भी आवाज़ उठाते हैं इस प्रकार ये लोग कभी एक दल का समर्थन करते हैं, और कभी दूसरे का; निश्चित रूप से किसी एक दल का सहयोग देने से ये लोग हिचकते हैं। एक भयानक आर्थिक संकट के आरम्भ में ये पूँजीपतियों के विरुद्ध मज़दूरों से मिल जायँगे, पर जैसे ही पूँजीपतियों के विरुद्ध आन्दोलन ज़ोर पकड़ेगा और पूँजीवाद की नींव अस्थिर होने लगेगी, वैसे ही ये लोग पूँजीपतियों का सहयोग देने लगेंगे। इनका उद्देश्य यह रहता है कि पूँजीवाद के वे अंग, जो उनके स्वार्थ के प्रतिकूल हैं, शक्तिशाली न होने पावें; परन्तु साथ ही साथ पूँजीवाद की सत्ता स्थापित रहे।[८]

[८] देखिये G. D. H. Cole, *What Marx Really Meant*, p. 107.

कार्ल मार्क्स और एंगिल्स, जो आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता हैं, कहते थे कि मध्यम पुरुषों की श्रेणी अब नष्ट-भ्रष्ट हो रही है और अधिक समय तक नहीं चल सकती। इन महापुरुषों के समय को देखते हुये तो उनकी भविष्यवाणी में कोई भी दोष नहीं निकाल सकता। परन्तु समय ने अब एक नया ही मार्ग ग्रहण कर लिया है, और अब इस श्रेणी को एक नवीन सामाजिक और आर्थिक महत्व मिल गया है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व, पूँजीवाद के कुछ पुजारियों ने पूँजीवाद की गिरती अवस्था देखकर इन लोगों को फ़ुसलाना प्रारम्भ कर दिया था और इनको अपना पक्षपाती बनाने का प्रयत्न किया था। उन्हें विश्वास दिलाया गया था कि देश में छोटे परिमाण के उत्पादन को स्थापित तथा प्रचालित करने का प्रयत्न किया जायगा। (पूँजीवाद बड़े पैमाने के उत्पादन का कैसे तिरस्कार कर सकता है, यह समझ के बाहर है!) साथ ही साथ देशों को युद्ध के लिये प्रस्तुत किया गया। उन्हें बतलाया गया कि देश को युद्ध करना पड़ेगा, बाहर उपनिवेश स्थापति करने होंगे और वहाँ के बाज़ारों में अपना माल बिकवाना होगा। तभी, और केवल तभी, बेकारी और निर्धनता दूर हो सकेगी।

इटली और जर्मनी में समस्त शक्तियाँ विनाशकारी बम-गोले और संहारकारी तोप-बंदूकें आदि बनाने में लग गई। युद्ध के समय ही देश के समस्त स्त्री-पुरुष, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रागद्वेष त्याग कर, देश के झंडे के नीचे संगठित हो जाते हैं; और अपने नेता के पीछे मृत्यु की घाटी में भी प्रवेश करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। अतएव इन देशों के मनुष्य सामाजिक विचार-भेद को भूल से गये। इस प्रणाली को 'फैसिज़्म' कहते हैं। इटली में मुसोलिनी ने और जर्मनी में हिटलर ने इसी प्रणाली की धूम मचा रक्खी थी। वस्तुतः फैसिज़्म का अर्थ ही है देश को युद्ध के लिये प्रस्तुत करना। यदि इस प्रणाली में से यह युद्धवाला पहलू निकाल

दिया जाता तो फैसिज़्म शब्द का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। परन्तु समाजवादियों का मत था कि इस प्रकार की भ्रमात्मक प्रणाली में स्थायित्व नहीं। संसार युद्ध के भय से अधिक समय तक भयभीत नहीं रह सकता वास्तव में फैसिज़्म पूँजीवाद का अन्तिम पहलू है। अब वह अधिक दिन नहीं ठहर सकता। समाजवाद की प्रगति में फैसिज़्म कुछ देर भले ही लगा दे, परन्तु वह उसे रोक नहीं सकता।[१]

यह भविष्य वाणी सत्य सिद्ध हुई है। द्वितीय युद्ध में फैसिज़्म की पराजय हुई। पूँजीवादी लोकतंत्र और समष्टिवाद ने मिलकर उसे कुचल डाला। युद्ध में विजय होने का बहुत कुछ श्रेय रूस की सहायता और पराक्रम को है। इससे समाजवाद के आन्दोलन का बहुत हित हुआ है। अब पूँजीवाद स्वयं को किस प्रकार बनाये रक्खेगा और यह प्रयत्न किस समय तक सफल रहेगा, यही देखना है।

---

[१] फैसिज़्म का विस्तृत वर्णन आगे चलकर किया गया है।

अध्याय ६

पूँजीवाद का विश्लेषण—उत्तरार्द्ध

पूँजीवाद का आधार

मज़दूर-वर्ग के स्वार्थों का शोषण करके पूँजीपतियों की स्वार्थपूर्ति करना ही पूँजीवाद रूपी भित्ति की नींव है। पूँजीपति मज़दूरों के कठिन परिश्रम द्वारा उत्पन्न धन पर स्वयं आधिपत्य स्थापित करते हैं, और उनको उदर-पूर्ति के लिये पर्याप्त सामग्री भी प्रदान नहीं करते। यदि पूँजीपति मज़दूरों के स्वार्थ का बलिदान करना छोड़ दें, और उन पर अत्याचार करना बंद कर दें, तो पूँजीवाद का अपने आप ही अंत हो जाय।

पूँजीपतियों ने उत्पत्ति के साधनों पर एकाधिकार कर लिया है। इन साधनों का प्रयोग करने के लिये तथा उत्पादन-सामग्री को क्रियात्मक रूप में लाने के लिये वे मज़दूरों को नौकर रख लेते हैं। मज़दूर लोग अपने परिश्रम से कुछ धन पैदा करते हैं जिसके विनिमय में पूँजीपति उनको वेतन देते हैं, परन्तु यह वेतन अपेक्षाकृत बहुत कम होता है। शेष जितना रुपया मज़दूरों को न्यायपूर्वक मिलना चाहिये और उन्हें नहीं मिलता है, वह पूँजीपतियों के कोष में संचित होता रहता है। समाजवादी पूँजीपतियों की इस लूट-खसोट की बहुत कड़े शब्दों में आलोचना करते हैं, और उन्हें बहुत धिक्कारते हैं। सचमुच ही इस दशा की वास्तविकता समझकर कोई भी विचारवान् पुरुष पूँजीपतियों की हृदय-हीनता पर अफ़सोस किये बिना नहीं रह सकता। यह इसी

दशा का परिणाम है कि समाज के विभिन्न वर्गों की आर्थिक दशा में इतना अंतर दृष्टिगत होता है और दिन पर दिन वह अंतर बढ़ता ही जाता है। यही कारण है कि समाज में एक ओर बड़े-बड़े धन-कुबेर पैदा हो गये हैं जो कि बिना परिश्रम किये हुये ही असंख्य धन पर आधिपत्य स्थापित कर चुके हैं, और भोग-विलासमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं; और दूसरी ओर ऐसे निर्धन मनुष्य दिखलाई देते हैं जो अपना पसीना बहाकर और दिन-रात अपनी हड्डियाँ गलाकर केवल चार पैसे पैदा कर पाते हैं, जो उनके बड़े परिवार की उदर-पूर्ति के लिये पूर्णतः अपर्याप्त होते हैं। इस प्रकार अनेक यातनाओं को सहन करते हुये, क्षुधा तथा शीत से प्रपीड़ित हो वे अकाल में ही काल के ग्रास बन जाते हैं। आर्थिक संकट में और मंदे व्यापार के समय में उनका यह अल्प वेतन भी हवा हो जाता है, क्योंकि ऐसे समय में कारखाने बन्द हो जाने पर उनको बेकार ही रहना पड़ता है। ऐसी अवस्था में उनकी वेदना तीव्रतम होती है।

कार्ल मार्क्स ने पूंजीपतियों के स्वार्थ-साधन का, जोकि वे मज़दूरों के स्वार्थ के मूल्य पर करते हैं, इस प्रकार उल्लेख किया है। मज़दूर दिन में कुछ निश्चित घंटों तक काम करने का वचन देते हैं। इनमें से केवल थोड़े से ही घंटों में वे अपने वेतन के बराबर काम कर देते हैं। इस समय को मार्क्स ने "आवश्यक-श्रम-समय" (Necessary Labour Time) कहकर पुकारा, क्योंकि इतने समय तक श्रम करना मज़दूरों को अपना नियत वेतन कमाने के लिये आवश्यक है। परन्तु इस समय के अतिरिक्त उन्हें कुछ घंटे और काम करना पड़ता है। इस अतिरिक्त समय के परिश्रम का कुछ भी वेतन मज़दूरों को नहीं दिया जाता। इस समय को मार्क्स ने "अतिरिक्त-श्रम-समय" (Surplus Labour Time) कहा है; क्योंकि आवश्यक-श्रम-समय" के अतिरिक्त मज़दूरों को इतने समय तक और काम करना पड़ता है। अतिरिक्त-श्रम-समय में जितना अर्घ पैदा किया जाता है उसको 'अति-

रिक्तार्घ' (Surplus Value) कहा जाता है।[1] यह अतिरिक्तार्घ पूँजीपतियों के शोषण (Exploitation) का माप है। लाभ, व्याज, दलालों व अन्य मध्यवर्ती पुरुषों का पुरस्कार—सब एक ही कोष में आते हैं; यह वही कोष है जो पूँजीपतियों ने मज़दूरों से अतिरिक्त-मूल्य छीन-छीन कर संचित किया है। पूँजीपतियों का केवल एक ही उद्देश्य रहता है, और वह यह है कि जहाँ तक हो सके इस अतिरिक्त-मूल्य-कोष को अधिक से अधिक बढ़ाया जाय।[2] यह अत्याचार उनका सबसे घृणित और धिक्कारणीय कार्य कहा जाता है।

जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे अत्याचार की सीमा भी बढ़ती जाती है। इसका कारण यह है कि पूँजीवाद का एक अनिवार्य लक्षण स्पर्धा है। पूँजीवाद के अंतर्गत बहुत से मनुष्य स्वतंत्र रूप से माल पैदा करते हैं। इनमें से प्रत्येक पूँजीपति इस बात का प्रयत्न करता है कि बाज़ार को वह स्वयं अपने अधिकार में कर ले, जिससे कि जितना सम्भव हो उतना उसी का माल खपे। इस स्पर्धा में, जैसा कि स्पष्ट ही है, उसी माल पैदा करने वाले की विजय की अधिक सम्भावना है जिसका माल औरों की अपेक्षा सस्ता बिक सके। यह तभी संभव हो सकता है जब कि उसका उत्पादन-व्यय (Cost of pro-

---

[1]अर्घ को जब रुपयों में कहा जाता है तब वह 'मूल्य' या 'क़ीमत' हो जाता है। अर्घ का अर्थ अर्थशास्त्र में कुछ गूढ़ है। यदि आपके पास चार सौ रुपये का माल है तो आपके पास, अन्य शब्दों में, चार सौ रुपये का अर्घ है। यदि मज़दूर दो रुपये का परिश्रम करता है, तो वह दो रुपये का अर्घ पैदा करता है। पूँजीपति मज़दूर के पैदा किये हुये अर्घ में से केवल कुछ ही भाग वेतन के रूप में देता है। इससे यह स्पष्ट कि एक मज़दूर द्वारा पैदा किया हुआ अर्घ उसके दिये जाने वाले वेतन से सर्वथा अधिक होता। ऊपर इसी का वर्णन हो रहा है।

[2]देखिये Jayaprakash Narain, *Why Socialism?* p. 15.

duction) औरों के उत्पादन-व्यय की अपेक्षा कम हो क्योंकि जब उत्पादन-व्यय कम होगा, तभी उसके माल का मूल्य भी कम हो सकता है। पूँजीपति उत्पादन-व्यय कम करने के लिये केवल एक ही रीति का प्रयोग करते हैं। वह रीति है मज़दूरों का वेतन घटाना। मज़दूरों का वेतन केवल सीधे ढंग से ही नहीं घटाया जाता, वरन् टेढ़े-मेढ़े ढंगो को भी काम में लाया जाता है। उदाहरणार्थ, मज़दूरों से अधिक तेज़ी और परिश्रम से काम कराया जाता है जिससे वे एक निश्चित समय में पहले की अपेक्षा अधिक माल पैदा करने लगते हैं। परन्तु मज़दूरों का वेतन उतना ही रक्खा जाता है; बहुत हुआ तो वेतन थोड़ा सा नाम-मात्र को बढ़ा दिया। इसी प्रकार के अत्याचार से प्रभावित होकर, कार्लाइल ने कटु उपहास के रूप में, एक पूँजीपति प्लासन से अपने मज़दूरों के प्रति निम्नलिखित वचन कहलवाये थे :—

"सूत कातने वालो! हम लोगों को एक लाख पौंड (लगभग १३। लाख रुपये) का लाभ हुआ है। यह एक लाख पौंड मेरा है; ३½ पैंस प्रतिदिन के हिसाब से जितना हुआ वह तुम्हारा था। अच्छा, यह चार पैंस और ले जाओ और मेरे स्वास्थ्य के लिये प्रार्थना करो"।[3]

एक उदाहरण द्वारा उपर्युक्त कथन अधिक स्पष्ट हो जावेगा। मान लीजिये कि निश्चित समय में कुछ मज़दूर ५०) का काम करते हैं। इसका ⅖ भाग, अर्थात् २०) पूँजीपति मज़दूरों को वेतन के रूप में देते हैं और शेष ⅗ भाग, अर्थात् ३०) अपनी जेब में रखते हैं। तो यह ३०) शोषण का माप हुआ। अब यदि पूँजीपति मज़दूरों से और

---

[3]"Noble Spinners! we have gained a hundred thousand pounds, which is mine; the three and sixpence daily was yours. Adieu, drink my health with this groat each, which I give you over and above!"

पूँजीपति अपना अधिकार स्थापित कर लेते हैं। अतएव, यह स्पष्ट है कि मज़दूरों के रहन-सहन का दर्जा अब ऊँचा हो गया है, परन्तु उनका शोषण अधिक हो रहा है।[*]

पूँजीवाद में अंतर्विरोध और आर्थिक संकट

पूँजीवाद का एक विशेष लक्षण स्पर्धा या मुक़ाबिला है। प्रत्येक पूँजीपति इस बात का प्रयत्न करता है कि बाज़ार में उसी का माल सब से अधिक खपे, और उसे सबके अधिक लाभ हो। परन्तु माल तभी अधिक खप सकता है जब कि वह दूसरे उत्पादकों की अपेक्षा अधिक सस्ता माल उत्पन्न कर सके। ऐसी दशा में उत्पादक क्रमागत वृद्धि-नियम या क्रमागत उत्पादन-व्यय ह्रास नियम (Law of Increasing Returns or of Diminishing Cost) का आश्रय लेता है। पक्के माल के उत्पादन का यह नियम है कि जितनी अधिक मात्रा में माल पैदा किया जायगा, उतना ही प्रति वस्तु का उत्पादन व्यय कम होता जायगा। अतः प्रत्येक उत्पादक बहुत बड़ी मात्रा में माल पैदा करता है क्योंकि वह सोचता है कि जितना ही अधिक माल उत्पन्न किया जायगा, उतना ही सस्ता बेचा जा सकेगा; और इसलिये उतनी ही उसकी चीज़ अधिक संख्या में बिकेंगी, जिससे उसे अधिक लाभ होगा। साथ ही साथ, उत्पादन-व्यय कम करने के लिये वह तरह-तरह के उत्तम साधनों का प्रयोग भी करता है, जैसे और मज़दूर से अधिक श्रम कराने वाली नई मशीनों का प्रयोग करना, उत्पादन कला में उन्नति करना आदि। इन सब साधनों के प्रयोग से माल सस्ता तो अवश्य बन जाता है, परन्तु उसे अधिक मात्रा में उत्पन्न करना भी आवश्यक हो जाता है। सारांश यह है कि प्रत्येक उत्पादक

[*] G. D. H. Cole, *What Marx Really Meant*, pp. 51-52.

अधिक मात्रा में माल उत्पन्न करने में ही अपना भला सोचता है और इसी को अपने प्रतिस्पर्धी अन्य उत्पादकों पर विजय प्राप्त करने का अमोघ अस्त्र समझता है। परन्तु वह इस बात की ओर ध्यान नहीं देता कि अन्य उत्पादक भी उसी की भाँति अधिक मात्रा में माल पैदा कर सकते हैं, और जब समस्त माल को मिलाकर उसकी मात्रा अधिक हो जायगी तो उसके विक्रय का क्या प्रबन्ध होगा ? आखिर जितना माल बाज़ारों में बिकता है, या बेचा जा सकता है, उसकी भी तो कुछ सीमा होती है। परन्तु समाज के विद्वान और बुद्धिमान पूँजीपति इस बात का तो विचार करना ही निरर्थक समझते हैं। बस 'माल पैदा किये जाओ अपने प्रतिस्पर्धियों को नीचा दिखायो', इसी धुन में वे आँख पर पट्टी बाँधे त्रुटिपूर्ण मार्ग पर चले जाते हैं, और आवश्यकता से अधिक सामान पैदा करते हैं। फलतः उन्हें और समाज को बहुत हानि उठानी पड़ती है।

जैसा कि समाजवाद के विद्वान स्पार्गो और आर्नर[*] ने लिखा है स्पर्धा करने वाले उत्पादकों की लड़ाई में माँग का अनुमान ठीक-ठीक नहीं लग पाता। बहुधा अनुमान वास्तविक माँग से अधिक ही होता है। उत्पादक अपने कारखानों में जितना हो सकता है उतना माल पैदा करते हैं, और इस प्रकार जितना माल बिक सकता है उससे अधिक उत्पन्न कर लिया जाता है परन्तु बिक्री की अवस्था दूसरी ही है। उत्पादकगण, स्पर्धा में, माल का मूल्य गिराते चले जाते हैं, और अंत में वह समय आता है जब कि माल का मूल्य बहुत कम हो जाता है—इतना कम कि उस मूल्य पर माल बेचने से हानि उठानी पड़े। इसलिये, उत्पादकगण माल के गोदामों में भरा रहने देते हैं, बेचते नहीं हैं। विक्रय की इस दशा का प्रभाव माल उत्पादन पर पड़ता है। जब माल गोदामों में भरा हुआ है तब फिर और माल क्यों पैदा किया

---

[*]Spargo and Arner, *Elements of Socialism*, Chapter III.

जाय ? अतः कारखाने बन्द कर दिये जाते हैं। हज़ारों-लाखों आदमी बेकार हो जाते हैं। (संसार की बेकारी का रोग वस्तुतः पूँजीवाद की ही देन है। धीरे-धीरे जब रक्खा हुआ माल बिक जाता है और फिर माल की आवश्यकता होती है, तब फिर कारखाने चालू किये जाते हैं, और काम नियमित रूप से चलने लगता है। इस प्रकार पूँजीवाद समय-समय पर कठिनाइयों में पड़ जाता है: यह प्रणाली असफल हो जाती है; और देश व मनुष्यों को बहुत सी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। बहुधा ऐसा होता है कि कुछ वर्षों तक पूँजीपतियों को निरंतर लाभ होता है। इससे उनका साहस बढ़ जाता है और उनको सब जगह लाभ ही लाभ दृष्टिगत होता है। वे आवश्यकता से अधिक माल उत्पन्न करने लगते हैं: और इसके फलस्वरूप कठिनाइयां आकर उपस्थित हो जाती हैं। प्रायः सब उद्योग-धंधों में इस प्रकार एक साथ माँग से अधिक माल पैदा हो जाने को 'सामान्य अत्युत्पत्ति' (General Overproduction) कहा गया है।

अर्थशास्त्रियों का कथन है कि सामान्य अत्युत्पत्ति हो ही नहीं सकती। मनुष्य की आवश्यकताएँ असंख्य होती हैं। जहाँ एक आवश्यकता पूरी हुई कि दूसरी आकर उपस्थित हो गई। वस्तुतः मनुष्य की आवश्यकताओं की वृद्धि की कोई सीमा नहीं। अतः एक ऐसी दशा का उपस्थित होना, जब कि माल मनुष्यों की आवश्यकताओं से अधिक बनने लगे, असम्भव है। इस मत के पक्षपातियों ने पूँजीवाद के उपर्युक्त दोष को सशंक दृष्टि से देखा है उनके विचार से समाजवादियों का कथन कि पूँजीवाद में सामान्य अत्युत्पत्ति का दोष है, सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि अत्युत्पत्ति तो हो ही नहीं सकती।

समीचीन विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजवादियों ने जिस दोष पर प्रकाश डाला है, और जिस अर्थ में 'अत्युत्पत्ति' शब्द को प्रयुक्त किया है, वह अपने सामान्य अर्थ से, जोकि अर्थशास्त्री

लगाते हैं, बहुत भिन्न है। समाजवादियों का विचार है कि पूँजीवाद में माँग से अधिक माल उत्पन्न होता है। पूँजीवाद के पुजारी कहते हैं कि इस प्रकार का विचार असमीचीन है, क्योंकि माल आवश्यकता से अधिक कभी पैदा हो ही नहीं सकता। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि 'माँग से अधिक' माल होना एक बात है, और 'आवश्यकता से अधिक' माल होना दूसरी बात। इन दोनों वाक्यांशों से एक ही अर्थ नहीं निकलता। माल आवश्यकता से अधिक नहीं बन सकता, परन्तु माँग से अधिक बन सकता है।

उपर्युक्त कथन को ठीक-ठीक समझने के लिये, हमें माँग और आवश्यकता में अन्तर जान लेना आवश्यक है। आवश्यकता शब्द को यहाँ साधारण अर्थ में लाया गया है जिससे सभी व्यक्ति परिचित हैं। जिस चीज़ की आपको इच्छा हुई और वह आपके पास नहीं हुई, तो वह आपकी आवश्यकता हो गई। इसी प्रकार माँग शब्द भी नित्य-प्रति की बोलचाल में प्रयुक्त होता है। परन्तु अर्थशास्त्र में माँग उस आवश्यकता को कहते हैं जो एक मनुष्य रुपया देकर पूरी कर सकता है, और पूरी करने की इच्छा भी रखता है। मान लीजिए मुझे एक घड़ी चाहिए। तो घड़ी मेरी ज़रूरत या आवश्यकता है। यदि मेरे पास इतना रुपया है कि जिसे देकर मैं घड़ी ख़रीद सकता हूं, और मैं ऐसा करने को उद्यत हूं, तो मेरी घड़ी की आवश्यकता माँग कहलायगी, क्योंकि तब मैं किसी भी दूकानदार से रुपया देकर घड़ी माँग सकता हूं। परन्तु यदि मेरे पास घड़ी ख़रीदने को रुपया ही नहीं है, और यदि है तो मुझे घड़ी ख़रीदने की इच्छा ही नहीं है, तो मेरी आवश्यकता माँग नहीं कहलायगी, क्योंकि ऐसी अवस्था में मैं किसी दूकानदार से घड़ी नहीं माँग सकता। सारांश यह है कि किसी वस्तु की इच्छा करना ज़रूरत या आवश्यकता कहलाती है। परन्तु किसी वस्तु की माँग होने के लिये तीन बातों का होना नितान्त आवश्यक है :—

(१) उस वस्तु की आवश्यकता होना,

(२) उसको खरीदने के लिये रुपया होना, और

(३) उसको खरीदने के लिये रुपये देने की इच्छा होना।

वस्तुतः हमारी आवश्यकताएँ इतनी अधिक हैं, और इस वेग से बढ़ती जाती हैं कि चाहे हम कितना ही माल पैदा करें, तब भी उनकी पूर्ति नहीं हो सकती। अतएव यदि हम 'अत्युत्पत्ति' का अर्थ आवश्यकता से अधिक माल पैदा करना मान लेते हैं, तब तो 'अत्युत्पत्ति' सचमुच असम्भव है। परन्तु माल माँग से अधिक उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि माँग की एक सीमा है (परन्तु आवश्यकताओं का कोई सीमा नहीं)। यदि किसी शहर या देश के आँकड़े ठीक-ठीक लिये जायँ तो यह बताया जा सकता है कि वहाँ वर्ष या माह में कितना माल बिकता है, या माँगा जाता है। यदि माल पैदा करनेवाले इस सीमा से अधिक माल बनाते हैं, तो वे सचमुच माँग से अधिक माल उत्पन्न करते हैं। समाजवादी केवल इतना ही कहते हैं कि पूँजीवाद में माल माँग से अधिक (आवश्यकता से अधिक नहीं) बनता है, और यही समस्त दोषों का जड़ है। इस कथन में मिथ्या का अंश भी नहीं। इसमें कोई दोष अथवा त्रुटि नहीं। इसी अर्थ को प्रकट करने के लिए सामजवादियों ने 'अत्युत्पत्ति' का प्रयोग किया है। इस अर्थ में समाजवादियों का कथन अक्षरशः सत्य है।

इस प्रकार पूँजीवाद में वास्तविक और प्रमुख दोष यह है कि इसमें माल माँग से अधिक बन जाता है। आवश्यकता से अधिक तो बनता नहीं, क्योंकि बन ही नहीं सकता। परन्तु चीज़ों की आवश्यकता होने पर भी उनकी माँग नहीं होती। कारण यह है कि मज़दूरों और निम्न-श्रेणी के मनुष्यों के पास इतना धन नहीं होता कि जिससे वे सुख-सामग्री अथवा भोग-विलास की वस्तुएँ संगठित कर सकें। ये लोग रुपये के अभाव में कम वस्तुओं का उपयोग करने

के लिए बाध्य हो जाते हैं। इनकी वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की असमर्थता के कारण ही पैदा किया हुआ माल नहीं बिकता और गोदामों में पड़ा हुआ नष्ट होता रहता है। इस कम वस्तुओं के उपयोग को 'न्यून-उपभोग' (Under-consumption) कहा गया है यही पूँजीवाद का दोष है और यही आर्थिक-संकट की जड़ है। हमारी सम्मति में यदि समाजवादी अपने भाव को 'अत्युत्पत्ति' से नहीं, वरन् 'न्यून-उपभोग' से प्रकट करें तो अधिक उपयुक्त होगा। तब व्यर्थ के वाद-विवाद के लिए कुछ भी गुंजाइश नहीं रहेगी।

अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर 'न्यून-उपभोग' होता क्यों है ? दूसरे शब्दों में, मज़दूरों को अपनी आवश्यक वस्तुएँ ख़रीदने के लिए पर्याप्त रुपया क्यों नहीं मिलता ? इसका ज़िक्र हम पहले भी कर चुके हैं। कारण यह है कि प्रत्येक उत्पादक अपना उत्पादन-व्यय न्यूनतम रखना चाहता है; ऐसा करने से वह माल सस्ता बेच सकेगा और अन्य उत्पादकों के ऊपर विजय प्राप्त कर सकेगा। उत्पादकों ने उत्पादन-व्यय कम करने का एक प्रमुख ढंग यह निकाला है कि मज़दूरों का वेतन घटा दिया जाय। परन्तु जब मज़दूरों का वेतन कम घट जाता है तो उनकी क्रय-शक्ति (Purchasing power) भी कम हो जाती है। कम रुपया मिलेगा तो कम चीज़ें ही ख़रीदी जा सकती हैं। फलतः 'न्यून-उपभोग' की समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित होती है।

क्रय-शक्ति का घटना और उत्पादन-क्रिया का बढ़ना साथ-साथ चलते हैं। पूँजीपति आँखें बन्द किये हुए माल पैदा किए जाते हैं, पर यह नहीं देखते कि मनुष्यों की क्रय-शक्ति कितनी है। इसका परिणाम यह होता है कि कुल माल नहीं बिक पाता और गोदामों में सड़ता रहता है। ऐसी अवस्था में उत्पादकगण के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे अपना ऋण किस प्रकार चुकावें। (ध्यान रहे कि व्यापारिक संसार में अधिकतर काम उधार पर ही होता है।) जहाँ

ऋण चुकाने में असमर्थता हुई, वहीं आर्थिक संकट का सूत्रपात हुआ। मान लीजिए कि एक उत्पादक अपना ऋण नहीं चुका सका। इसका परिणाम यह होगा कि इस उत्पादक को उधार देनेवाले व्यक्ति भी अपने ऋण देनेवालों को रुपया न दे सकेंगे। जब उन्हें अपना उधारू रुपया वसूल नहीं होगा, तो अपना ऋण चुकाने में भी कठिनाइयाँ होंगी, और ये लोग भी अपने धनियों को रुपया नहीं चुका सकेंगे। इस प्रकार दुर्भाग्य-चक्र बढ़ता चलता है, और एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा फर्म बन्द होता जाता है। इस आर्थिक संकट के समय में आर्थिक-स्थिति सुव्यवस्थित नहीं रक्खी जा सकती। वस्तुओं का मूल्य गिर जाता है। उत्पादन-क्रिया बन्द हो जाती है। आदमी बेकार हो जाते हैं। अनेक दूकानों का अधःपतन हो जाता है। धीरे-धीरे स्थिति सुधरती है। लोगों में फिर विश्वास जमने लगता है। चीज़ें फिर बनने और बिकने लगती हैं। दशा साधारण हो जाती है।

ऐसे आर्थिक संकट और त्राहि-त्राहि के हृदय-विदारक दृश्य पूँजीवाद के इतिहास में भरे पड़े हैं। यह कहा जाता है कि आर्थिक उन्नति और आर्थिक संकट का एक चक्र सा चलता है। उन्नति के बाद संकट और संकट के बाद उन्नति आते-जाते रहते हैं। पूँजीवाद का सर्वप्रथम महान् आर्थिक संकट सन् १८२५ ई० में उपस्थित हुआ। उसके पश्चात् तो इन संकटों का ताँता-सा ही लग गया। सन् १८३६, १८४७, १८५७, १८६६, १८७३, १८७७, १८९०, १९००, १९०७, १९२१, और १९२९ में आर्थिक संकट पड़े। सन् १९२९ का आर्थिक संकट, जिससे हमें १९३२ में छुटकारा मिला, वस्तुतः सब से भयानक था, और विद्वानों की यह धारणा थी कि यह संकट शायद पूँजीवाद को समाप्त कर देगा।

आचार्य नरेंद्रदेव ने लिखा था कि "जो संकट १९२९ में आरम्भ हुआ, वह जल्द टलता नज़र नहीं आता। हो सकता है कि भगीरथ प्रयत्न करने पर सम्पत् की अवस्था कुछ दिनों के लिए फिर लौट आवे,

पर अन्त में इसका फल यही होगा कि निकट भविष्य में यह संकट और भी भीषण रूप धारण करेगा।" यह आर्थिक संकट तो समाप्त हो गया, पर उसकी हानि को संसार पूरा भी न करने पाया था कि एक दूसरे मंदीयुग का सूत्रपात हो गया।

इंगलैंड के समाजवादी विद्वान् जी० डी० एच० कोल[६] लिखते हैं कि मार्क्स ने बहुत पहले ही इस बात की भविष्य-वाणी कर दी थी कि ऐसा होगा। लगभग एक शताब्दी पहले उन्होंने लिखा था कि पूँजीवाद में नये-नये उत्पादन-शक्ति की वृद्धि करने वाले साधनों और उपायों के आविष्कार करने की शक्ति ही पूँजीवाद को पराजय दिलावेगी क्योंकि पूँजीवाद के बंधनों के अन्तर्गत, जितना माल बनेगा उतना बिकना असम्भव हो जायगा। जब तक उत्पादन शक्ति की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्यों में अधिक उपभोग करने की इच्छा और शक्ति (क्रय-शक्ति) में वृद्धि नहीं होगी, तब तक आर्थिक संकट पड़ते रहेंगे और बेकारी का रोग बना रहेगा। अवस्था में सुधार तभी होगा जब अनावश्यक उत्पादक दिवालिया हो जायँगे और माल पैदा करना बंद कर देंगे।[७]

---

[६] देखिये D. H. Cole, *What is Ahead of Us?* Chapter 1.

[७] देखिये Mellor, *Socialism* (*in Encylopaedia of Religion and Ethics*), Vol. XII.

अध्याय ७

पूँजीवाद के दोष

प्रथम अध्याय में हमने यह भली भाँति समझ लिया है कि पूँजीवाद क्या है और इसके प्रमुख लक्षण क्या हैं। अब हम पूँजीवाद के उन पहलुओं पर विचार करेंगे जिनके कारण इसको आज इतना नीचा देखना पड़ रहा है और यह स्थान-स्थान पर निन्दित हो रहा है। संसार भर में 'पूँजीवाद की क्षय!' का नारा ज़ोर पकड़ता जाता है, और समाजवाद का झंडा विजय-गर्व से सफलता की वायु में फहराने लगा है।

समाजवादियों ने तीव्रतम शब्दों में पूँजीवाद के दोषों पर प्रकाश डाला है; और उनकी सच्ची समालोचना एक बार प्रत्येक निष्पक्ष मनुष्य के मस्तिष्क में यह प्रश्न पैदा कर देती है कि "क्या वास्तव में पूँजीवाद जीवित रहने का अधिकारी है?" साधारण रूप से तो समाजवादियों में अनेक बातों पर मतभेद है, परन्तु पूँजीवाद के दोषों के विषय में सब एक मत हैं। समाजवादियों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ने पूँजीवाद के विभिन्न दोषों पर ज़ोर दिया है। यदि समाजवादियों के एक सम्प्रदाय की दृष्टि में टुकड़खोर मध्यवर्ती पुरुष सब से बड़ा अपराधी है, तो दूसरे के दृष्टिकोण से अत्याचारी पूँजीपति। यदि एक को उत्पादन क्रिया की त्राहि-त्राहि और गड़बड़ी की समालोचना सब से अधिक आवश्यक प्रतीत होती है, तो दूसरे को न्याय-रहित धन और आय-वितरण की समालोचना। सदाचारी पुरुष पूँजीवाद में सदाचार की अनुपस्थिति पर शोक प्रकट करता है, तो कला प्रेमी कला के लोप होने पर आँसू बहाता है।

यहाँ पर यह बतला देना अत्यन्त आवश्यक है कि पूँजीवाद में जिन-जिन उत्पत्ति के साधनों, मशीनों व अन्य विशिष्ट (Technical) बातों का प्रयोग होता है, समाजवादी उनकी निन्दा नहीं करते। मशीनों के प्रयोग का तो वे लोग हार्दिक समर्थन करते हैं, और आजकल के समाजवादी रूप में मशीनों और विज्ञान का ही बोलबाला है—जिन बातों को ये घृणा की दृष्टि से देखते हैं, वे हैं पूँजीवाद की उत्पादन-प्रणाली और उत्पादन-संगठन की प्रथा। उत्पत्ति की वृद्धि करने वाले उपायों और मशीनों के आविष्कारों का श्रेय पूँजीवाद को ही है, और इसलिए यह प्रशंसा का पात्र है। आधुनिक समाजवाद के जन्मदाता, कार्ल मार्क्स ने, कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो (Communist Manifesto) में इस दिशा में पूँजीवाद की अपूर्व सफलता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है; और मुक्त कंठ से उसकी प्रशंसा भी की है। उनका कथन है कि पूँजीपतियों ने केवल सौ वर्ष से कम ही समय में संसार में विशाल और उत्पादन-शक्तियों को इतने बड़े परिमाण में पैदा किया है कि जिसे देख कर दाँतों तले उंगली दबानी पड़ती है। इतनी अधिक उत्पादन-शक्तियों को तो पहले की सब पीढ़ियों ने मिलकर भी पैदा नहीं किया! प्रकृति की शक्तियों का मनुष्य के वश में करना, रसायन-शास्त्र की शिक्षाओं का उद्योग-धंधों और कृषि में प्रयोग करना, भाप से जहाज़ चलाना, रेलवे, टेलीग्राम, सम्पूर्ण उपनिवेशों को कृषि के लिए उपयुक्त करना, नदियों से नहरें निकालना—भला पहले की कौन-सी पीढ़ी को इस बात का अनुमान था कि सामाजिक श्रमी की गोद में ऐसी-ऐसी उत्पादक शक्तियाँ सो रही हैं!

परन्तु उत्पादन-शक्ति की वृद्धि के अतिरिक्त, पूँजीवाद में सब स्थानों पर, प्रत्येक दृष्टिकोण से, दोष ही दोष दृष्टिगत होते हैं, और उन्हें देख कर हमें विश्वास करना पड़ता है कि पूँजीवाद की उपयोगिता के दिन समाप्त हो चले हैं।

पूँजीवाद की समालोचना इतनी विस्तृत है, और इतने अधिक विषयों से सम्बन्ध रखती है कि हमें उसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए दो बड़े-बड़े भागों में विभक्त करना आवश्यक हो जाता है। समाजवादियों ने सब से अधिक निन्दा, पूँजीपतियों द्वारा मज़दूरों पर किये जाने वाले शोषण की की है। वास्तव में, इस अत्याचार के अस्तित्व में विश्वास करना समाजवाद में विश्वास करना कहा जा सकता है, क्योंकि यह समाजवाद के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रमुख स्तम्भ है। इस शोषण की कड़े शब्दों में आलोचना ही पूँजीवाद की आलोचना का प्रथम भाग है। पूँजीवाद के अन्तर्गत, उत्पादन-प्रणाली के दोषयुक्त संगठन और शासन की बुराई करना इस आलोचना का दूसरा भाग कहा जा सकता है। समाजवादी विशेषतः इन्हीं दो बुराइयों को दूर करना चाहते हैं: वे मज़दूरों पर होने वाले अत्याचार और उत्पादन-क्रिया के दोषों को समूल नष्ट कर देना चाहते हैं। जैसा कि समाजवाद के गम्भीर विद्वान्[1] स्पार्गो और आर्नर ने लिखा है, समाजवाद आंदोलन का मुख्य उद्देश्य, जो कि इस आंदोलन को शक्ति और स्थायित्व प्रदान करता है, यह दृढ़ निश्चय है कि समाज के शोषक वर्ग की शोषण-शक्ति का पूर्ण-रूप से विनाश कर दिया जाय। समाजवाद का एक गौण उद्देश्य यह है कि उद्योग-धंधों के संगठन और शासन में अधिक क्षमता लाई जाय जिससे वस्तुएँ और उत्पादन-शक्ति बेकार न जायँ, और समाज अधिक सुखी और धन-धान्य पूर्ण हो सके।

उत्पादन-क्रिया में असफलता

पहले-पहल हम यह देख लें कि उत्पादन-क्रिया में पूँजीवाद ने क्या काम किया है। थोड़ा सा भी अनुभव, जाँच और अध्ययन

---

[1] देखिये Spargo and Arner, *Elements of Socialism*, p. 227.

इस बात को स्पष्ट कर देंगे कि इस दिशा में पूँजीवाद पूर्णरूप से असफल रहा है। यदि हम ध्यान-पूर्वक देखें तो हमें ऐसी बहुत सी वस्तुएँ दीख पड़ेंगी जो समाज की भलाई के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं और जिनकी उपेक्षा किसी प्रकार से नहीं की जा सकती : परन्तु ये वस्तुएँ पूँजीवाद में नहीं बनाई जातीं क्योंकि व्यापारिक दृष्टिकोण से, उनका बनाना लाभप्रद नहीं है। इस प्रकार समाज को इन उपयोगी वस्तुओं के प्रयोग से वंचित रहना पड़ता है। उदाहरणार्थ, एक प्रकाश-गृह[२] को ले लीजिए। यदि प्रकाश-गृह न हों तो मनुष्य सामुद्रिक-यात्रा का साहस न करेंगे, और विशेष सावधानी के कारण जलयानों को यात्रा में अधिक समय लगेगा जिससे माल के लाने तथा ले जाने का किराया बढ़ जाने से व्यापारिक वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ जायगा ; साथ ही साथ जहाज़ों के टूट जाने का भय भी सदा बना रहेगा। अतएव प्रकाश-गृहों का निर्माण समुद्र-यात्रा को सुगम बनाने के लिये अनिवार्य है। परन्तु पूँजीपति प्रकाश-गृह नहीं बनवाते। यदि प्रकाश-गृह के स्वामी प्रत्येक निकलने वाले जहाज़ से टैक्स वसूल कर सकें, तो वे निस्संदेह प्रकाश-गृहों से समुद्री किनारों को भर दें! परन्तु ऐसा होना असम्भव है। अतएव पूँजीपति इस ओर विशेष ध्यान नहीं देते, और अनेक समुद्री-किनारे प्रकाश-गृहों से शून्य रह जाते हैं। ऐसी दशा में सरकार को प्रकाश-गृह बनवाने पड़ते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद समाज के लाभ की वस्तुएँ बनवाने में पूर्णतः असफल रहता है।[3]

---

[२] प्रकाश-गृह (Light-house) समुद्र में चट्टान आदि के पास बनाया जाता है, जिससे इसके प्रकाश को देख कर जहाज़ सतर्क हो जावें और चट्टानों से टकरा कर चूर-चूर न हो जायँ।

[3] Shaw. *The Intelligent Woman's Guide* (*Pelican*), p. 138-139.

इस अभियोग के उत्तर में पूँजीवाद के पुजारी कहते हैं कि यद्यपि यह कथन सत्य है कि पूँजीपति समाज के उपयोग की उन वस्तुओं को नहीं बनाते हैं जिनमें व्यापारिक दृष्टि से लाभ नहीं है, पर सरकार तो उनको बनवाती है। समाज के लिए तो ऐसी आवश्यक वस्तुएँ बन ही जाती हैं, और वह उनके उपयोग से वंचित नहीं रक्खा जाता। ऐडम स्मिथ भी, जो अर्थशास्त्र के जन्मदाता थे, लिखते हैं कि सरकार के न्यून-तम कार्यों (irreducible minimum of state functions) में से एक कार्य यह भी है कि वह ऐसे सामाजिक कार्यों को करे और ऐसी सामाजिक वस्तुओं का निर्माण, संरक्षण तथा संचालन करे जो व्यक्ति-विशेष अथवा छोटे से समूह द्वारा नहीं किये जा सकते या जिनका निर्माण और संचालन नहीं किया जा सकता; क्योंकि ऐसे कार्यों में जितना व्यय होगा उतना रुपया कोई व्यक्ति अथवा छोटा व्यक्ति-समूह उसके द्वारा नहीं कमा सकेगा, यद्यपि एक बड़े व्यक्ति अर्थात् समाज को उससे विशेष लाभ हो सकता है।[४] अतएव इन कार्यों का उत्तरदायित्व सरकार पर है, और उसी को इन विषयों का निरीक्षण करना चाहिए।

यह उत्तर वस्तुतः संतोषप्रद नहीं है। किसी काम के करने का उत्तरदायी होना, और उसको ठीक-ठीक पूरा करना, दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। यदि हम सरकार को ही ऐसे कार्यों का उत्तरदायी मान लें, तब भी यह प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि क्या पूँजीवादी सरकार अपने कर्तव्य का पालन करने योग्य है और उसका पालन करती है? वर्तमान दशा का थोड़ा सा भी ज्ञान इस प्रश्न का उत्तर केवल 'न' में देने को बाध्य करता है। उदाहरण के लिये, किसी ऐसे स्थान पर चले जाइये जहाँ निर्धन मज़दूर, कुली व हरिजन

[४] Adam Smith, *Wealth of Nations*, Book IV, Chapter IX.

निवास करते हैं। वहाँ स्वच्छता के अभाव से कारण दुर्गन्ध आती रहती है: सदैव कुछ न कुछ रोग फैले रहते हैं; तथा स्त्री-पुरुष दुर्बल, रोगी तथा कार्य-संचालन की क्षमता से हीन हो जाते हैं। क्या यही सरकार का कर्तव्य-पालन कहा जा सकता है? स्पष्टतः पूँजीवाद, जो समाज के हित के सभी कामों को करने का उत्तरदायी है, ऐसा करने में असमर्थ है।

लाभ-प्रद कार्यों में प्रतियोगिता

ऊपर उन कार्यों का विवेचन हुआ है जो व्यापारिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं होते। अब हम उन कार्यों की ओर दृष्टिपात करेंगे जो पूँजीपतियों की दृष्टि से लाभप्रद होते हैं। ऐसे कार्यों की अवस्था पूर्णतः भिन्न है। इनमें देश की उत्पादन-शक्ति का बहुत बड़ा भाग, आवश्यक दिशाओं से हटाकर लगा दिया जाता है। लाखों-करोड़ों रुपये ऐसे कार्यों में व्यय कर दिये जाते हैं; असंख्य मज़दूर अन्य व्यापारों से हटा-हटा कर इन कार्यों में लगा दिये जाते हैं; और देश की मानसिक और शारीरिक शक्ति इन चुने हुये व्यवसायों में संलग्न कर दी जाती है। कोई भी पूँजीपति इस बात का ध्यान नहीं रखता कि प्रत्येक वस्तु की माँग सीमित होती है। अतः उसका क्रय-परिमाण भी सीमित होगा। प्रचुर उत्पादन-शक्तियाँ, लाभ के लोभ में, बेकार और अनावश्यक दिशाओं में लगाकर व्यर्थ नष्ट की जाती हैं। वस्तुतः धन उपार्जन करने की मादकता मनुष्य की अभिलाषाओं को इतना विस्तृत बना देती है, कि वे असीम हो जाती हैं और उनकी तृप्ति असंभव हो जाती है। परिणाम यह होता है कि अनेक फर्म असफल होकर बन्द हो जाते हैं, और दिवालिये ठहराये जाते हैं। इस प्रकार आर्थिक संकट उपस्थित होता है, और लाखों रुपये की हानि हो जाती है। ऐसी अवस्था में आर्थिक-मशीन रुक जाती है, और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Laissez faire

individualism) का स्वर्ग कन् वास्तविकता के आवरण से तमसावृत हो जाता है। वर्तमान उत्पादन-क्रिया की असंगठित और कुत्सित प्रणाली समाज के आर्थिक-ढाँचे के खँडहर में, भीषण अट्टहास के साथ ताण्डव नृत्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है।

उत्पादन और अदूरदर्शिता

इसके अतिरिक्त पूँजीवाद की स्पर्धा-युक्त प्रणाली में माँग का अनुमान लगाने के लिये कोई साधन अथवा अवसर नहीं। उत्पादक गण आँखें बन्द किये हुए माल पैदा करते चले जाते हैं और आशा रखते हैं कि माल तैयार होने पर वे उसे लाभ के साथ बेच लेंगे। परन्तु जब माल नहीं बिकता, तब उनकी आँख खुलती हैं। लेकिन इस असफलता से भी वे कोई शिक्षा ग्रहण नहीं करते, और पुरानी परिपाटी पर दोबारा काम प्रारम्भ कर देते हैं। यदि कुल माल की खप जाने वाली उत्पत्ति उत्पादकों में विभाजित कर दी जाय, तो प्रत्येक उत्पादक को इस बात का ज्ञान रहेगा कि कितनी मात्रा में माल पैदा करना उसके लिए लाभदायक होगा, और वह उतना ही माल बनावेगा जितना कि वह बेच सकता है। परन्तु जहाँ स्पर्धा का राज्य है, वहाँ इस प्रकार का विभाजन असंभव है। परिणाम यह होता है कि वस्तुओं के मूल्य में बहुत बढ़ती-घटती होती रहती है। जीवन की आवश्यक वस्तुओं के साथ जुआ खेला जाता है। हज़ारों व्यापारियों का दिवाला पिट जाता है। उत्पत्ति के अनियमित होने से बेचारे ग़रीबों तथा मज़दूरों को अनेक कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं।

पूँजीवाद के समर्थक उल्लिखित दोष को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि पूँजीवाद में ऊपर बताई गई वस्तुओं की माँग और पूर्ति की असमानता, और पूर्ति का माँग की अपेक्षा आधिक्य, होना मिथ्या है।* किसी वस्तु की पूर्ति और माँग की बराबरी मूल्य

*यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि किसी वस्तु की पूर्ति

द्वारा हो जाती है। यदि किसी वस्तु का मूल्य गिर जाता है, तो इसका आशय यह है कि वह माल आवश्यकता से अधिक संख्या में पैदा किया जा चुका है। मूल्य के गिरते ही उत्पादक-गण अब कम माल बनाने लगेंगे, क्योंकि उनको कम लाभ होगा। कुछ फर्म दिवालिये भी हो जायँगे और उनकी उत्पत्ति रुक जावेगी। इस प्रकार पूर्ति कम हो जायगी; पूर्ति और माँग बराबर हो जायँगी और मूल्य बढ़ जायगा। इसके विरुद्ध, यदि पूर्ति माँग से कम होगी, तो चीज़ों का मूल्य बहुत बढ़ जायगा, लाभ में बहुत वृद्धि होगी, और अधिक माल पैदा करना बहुत आकर्षक होगा। अतएव पूर्ति बढ़ेगी: पूर्ति और माँग बराबर हो जायँगी और मूल्य गिर जायगा। इस नियम के अनुसार यह कहा जाता है कि पूँजीवाद के अंतर्गत केवल उतना ही कागज़ बनाया जायगा जितना लेखकों को आवश्यक है और ठीक उतनी स्याही बनाई जायगी जो उन कागज़ों के लिये पर्याप्त हो।

सामान्यतः यह उक्ति ठीक प्रतीत होती है परन्तु गंभीर विचार करने पर प्रतीत होता है कि यह पूर्णतः खोखली है। इस प्रकार का विश्वास केवल संतोषप्रद-भ्रम है। यदि वस्तुओं की माँग और पूर्ति में कोई अंतर नहीं होता तो फिर समय-समय पर हमें आर्थिक-संकट का रोग क्यों सताया करता है? ऐसा समय क्यों आता है जब कि व्यापार स्थिर हो जाता है, बाज़ार माल से पाट दिये जाते हैं, नक़दी रुपया-

और माँग बराबर होनी चाहिये। यदि पूर्ति माँग से अधिक हुई तो चीज़ों का मूल्य गिर जायगा, माल बिकेगा नहीं और आर्थिक संकट का सामना करना पड़ेगा, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है। इसके विपरीत, यदि पूर्ति माँग से कम हुई, तो चीज़ों का मूल्य बहुत बढ़ जायगा, मनुष्यों को आवश्यक वस्तुएँ ख़रीदना कठिन हो जायगा और विशेषतया ग़रीबों की आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पावेगी।

पैसा अदृश्य-सा हो जाता है, कारखाने बन्द कर दिये जाते हैं, और हज़ारों मज़दूरों को खाने तक की कठिनाई पड़ जाती है। निस्संदेह, यथार्थता कोरी उक्ति से अधिक विश्वस्त मानी जानी चाहिए, क्योंकि उक्ति मिथ्या हो सकती है, पर यथार्थता मिथ्या नहीं हो सकती।

पूँजीवादियों की यह उक्ति पूर्णतः त्रुटिहीन नहीं। जिस बात का उन्होंने प्रतिपादन किया है वह एक लम्बे समय के लिये तो ठीक है। लम्बे समय में मूल्य द्वारा माँग और पूर्ति अवश्य ही बराबर हो जाती है। परन्तु उन्होंने तात्कालिक प्रभाव का ध्यान एकदम छोड़ दिया है। पूँजीवाद में तत्काल ही माँग और पूर्ति बराबर नहीं हो सकती। फलतः अनेक कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं। कल्पना कर लीजिये कि किसी समय माँग और पूर्ति समान है, और उत्पादकों को लाभ हो रहा है। ऐसी अवस्था में उत्पादकगण अधिक धन संचय की लालसा में बहुत मात्रा में माल पैदा करने लगेंगे। परिणाम यह होगा कि माल की पूर्ति माँग से अधिक हो जायगी और आर्थिक संकट उपस्थित हो जायगा। उस समय माल का उत्पादन कम हो जायगा। धीरे-धीरे दशा साधारण रूप ग्रहण कर लेगी। वस्तुओं की माँग और पूर्ति फिर बराबर हो जायँगी। परन्तु फिर उत्पादकगण अधिक माल बनाना प्रारम्भ कर देंगे। बस इसी प्रकार चक्र चलता रहता है। उन्नति और आर्थिक संकट, नियमित रूप से, बारी बारी से आते जाते रहते हैं। पूँजीवादी उन्नति को तो देखते हैं, परन्तु आर्थिक संकट को नहीं देखते। विषय के चमकदार पहलू की तो प्रशंसा करते हैं, परन्तु काले पहलू की उपेक्षा।

समाजवाद के पंडित और अधिकारी लेखक, स्टैफ़र्ड क्रिप्स[६], ने लिखा है कि जो नियम पूँजीवादी समाज में माँग और पूर्ति के समान

[६] Stafford Cripps, *Why this Socialism?* p. 56.

करता है, वह वास्तव में आजकल, बिना रोक-टोक, लागू नहीं हो रहा है। हाल ही में सब वस्तुओं का मूल्य बहुत गिर गया है, परन्तु उनके उत्पादन में कुछ भी कमी नहीं हुई है जिससे कि मूल्य नहीं बढ़ता और लाभ नहीं होता। उत्पादन-क्रिया की कार्यक्षमता आविष्कारों ने बहुत बढ़ा दी है; माल बहुत पैदा हो रहा है; परंतु इसका अभीष्ट परिणाम नहीं हुआ। स्वाभाविक रूप से सरकार को, अपने देशवासियों को भूखों मरने से बचाने के लिए, बीच में कूदना पड़ा है, और वह माल की कृत्रिम कमी पैदा करके, माँग और पूर्ति के नियम में बाधा डाल रही है।

स्पर्धा के दोष

यही नहीं, अनियमित उत्पादन का एक विशेष लक्षण है उत्पादकों में स्पर्धा होना, जो एक दूसरे का गला काटने को तैयार और एक दूसरे को नीचा दिखाने को प्रयत्नशील रहते हैं। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि माल बेचने का व्यय अधिक हो जाता है जिसके फलस्वरूप वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है। उदाहरण के लिये विज्ञापन को ही ले लीजिये। पूँजीवाद के युग में बिना विज्ञापन के काम चलना कठिन है। यदि किसी विक्रेता अथवा उत्पादक को अन्य विक्रेताओं तथा उत्पादकों की अपेक्षा अधिक मात्रा में माल बेचना है तो वह विज्ञापन द्वारा अपने माल को विख्यात करता है और यह प्रकाशित करता है कि उसकी वस्तुएं बहुत अच्छी तथा लाभदायक हैं। विज्ञापन तो अब एक कला हो गई है और इसकी उन्नति में संसार के अच्छे से अच्छे मस्तिष्क लगे हुए हैं। पश्चिमी व्यापारिक फ़र्मों में तो एक अलग 'विज्ञापन-विभाग' होता है जो समय-समय पर नवीन प्रकार के विज्ञापन प्रकाशित करता रहता है। विज्ञापन पर बहुत धन व्यय किया जाता है। परन्तु विज्ञापन, एक दृष्टि से, अनावश्यक ही नहीं, वरन् हानिकारक भी हैं। इसमें जितना भी शारीरिक व मानसिक परिश्रम किया जाता है और

जितना धन व्यय किया जाता है, वह सब देश या समाज के दृष्टिकोण से व्यर्थ जाता है। इससे किसी वस्तु का उत्पादन नहीं किया जाता; केवल उत्पन्न की हुई वस्तुओं को बेचने के लिये ही यह धन नष्ट किया जाता है। यदि यही सब धन तथा श्रम अन्य वस्तुओं के उत्पादन में लगा दिया जाय, तो धनहीन मनुष्यों को अधिक तथा सस्ती वस्तुएँ सुगमतापूर्वक प्राप्त हो सकें। यही कारण है जिससे समाजवादी विज्ञापन को पसन्द नहीं करते। हाँ, कुछ विज्ञापन अवश्य लाभदायक होता है क्योंकि वह उपभोक्ताओं को यह सूचना देता है कि उनके प्रयोजन की कौन-कौन सी वस्तुएँ बिक रही हैं, किन-किन वस्तुओं के प्रयोग से वे अधिक सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं, इत्यादि। इससे मनुष्यों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने में सहायता मिलती है। परन्तु इस प्रकार की सूचना देनेवाले विज्ञापन के अतिरिक्त जो विज्ञापन किया जाता है वह केवल स्पर्धा के लिये होता है। वह जनता में कोई नई आवश्यकता उत्पन्न नहीं करता। वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपना माल अधिक से अधिक मात्रा में बेचने के अभिप्राय से ही पूंजीपति अधिकांश विज्ञापन करते हैं। विलायत के विद्वान् लेखक कार्लाइल ने लंदन के एक टोप बनानेवाले के विषय में लिखा था कि यह टोप बनानेवाला इस बात का प्रयत्न करने के स्थान पर कि वह अन्य टोप बनानेवालों से अच्छी वस्तुएँ बनाए, एक बहुत बड़ा टोप बनाता है, जो ७ फीट ऊँचा होता है, और वह एक मनुष्य को वह टोप सड़कों पर घुमाने के लिये भेज देता है। उसने बढ़िया टोप बनाने का प्रयत्न नहीं किया, जिस कार्य को यदि वह चाहता तो सुगमतापूर्वक कर सकता था; पर उसने अपनी शक्ति इस बात की झूटी सूचना देने में लगा दी कि वास्तव में उसने औरों से अच्छे टोप बनाये हैं। इस उदाहरण में, उत्पादक की बुद्धिमानी ७ फ़ीट के टोप बनाने में प्रयुक्त हुई; और विज्ञापन करनेवाले मनुष्य का श्रम व्यर्थ ही नष्ट हुआ।

विज्ञापन केवल इसी विषय में हानिकारक नहीं है। इसका इससे भी अधिक चिन्ताजनक दुष्परिणाम यह होता है कि यह पत्र सम्पादकों की लेखनी को जिधर चाहे मोड़ देता है और समाज व जनता के विचारों को भ्रमात्मक मार्ग पर ले जाता है। आजकल पत्र-पत्रिकाओं की आर्थिक सफलता बहुत कुछ विज्ञापनों पर ही निर्भर है। यदि उन्हें विज्ञापन न प्राप्त हो सकें, तो उनका संचालन असंभव हो जाय। इस दशा का पूँजीपति और उत्पादकगण बहुत लाभ उठाते हैं। वे सम्पादकों व पत्र के अधिकारियों को सावधान कर देते हैं कि यदि कोई भी बात उनके और वर्तमान उत्पादन प्रणाली के विरुद्ध लिखी गई तो वे उनके पत्र में विज्ञापन देना बन्द कर देंगे। इस प्रकार, धन उपार्जन करने का प्रश्न सम्पादकों की व्यक्तिगत भावनाओं का वास्तविक स्पष्टीकरण करने में असमर्थ बना देता है। कहीं कहीं तो उन्हें इस बात पर बाध्य किया जाता है कि वे पूँजीपतियों के हित की बातें लिखें।

स्पर्धा के युग में, विज्ञापन की बरबादी के अतिरिक्त, कई दिशाओं में वस्तुओं को दो-दो तीन-तीन जगह रखना आवश्यक हो जाता है, और यह अनावश्यक व्यय भी किसी प्रकार कम चिंताजनक नहीं। रेलों का ही उदाहरण लिया जा सकता है। मान लीजिये कि इलाहाबाद से आगरा तक रेल चलाने के लिये दो कम्पनियों को अधिकार दे दिया गया। अब ये दोनों कम्पनियाँ अलग-अलग पटरी डालने के लिये स्थान खरीदेंगी; अलग-अलग पटरी डालने में व्यय करेंगी; दोनों को अपने-अपने एंजिन, गाड़ी के डिब्बे, संचालक तथा इंजीनियर रखने पड़ेंगे; अलग-अलग स्टेशन बनाने पड़ेंगे, इत्यादि। परन्तु यदि देश की सरकार ऐसे स्पर्धा में विश्वास नहीं करती तो केवल वह एक ही कम्पनी को यह अधिकार देगी या स्वयं ही इस दिशा में एकाधिकार स्थापित करेगी। इस प्रकार दुहरा व्यय नहीं पड़ेगा और देश की बहुत सी पूँजी, श्रम आदि व्यर्थ के कामों में

लगने से बच जायँगे। सौभाग्य से हमारे देश में रेल बनाने व चलाने का एकाधिकार सरकार को है, और इस प्रकार हम लोग इस प्रकार के विनाश से सुरक्षित हैं। परन्तु अमेरिका में किसी समय इसने बहुत ही भीषण रूप धारण कर लिया था, और इसको रोकने के लिये सरकार को बहुत समय तक कठिन परिश्रम करना पड़ा था[७] इंगलैंड में भी रेलों के राष्ट्रीकरण की माँग (Nationalization of Railway) बहुत महत्वपूर्ण रही है और अब मज़दूर सरकार ने इसे कार्यरूप में परिणित करने का बिल भी बना लिया है। इस प्रकार से दुहरी चीज़ों का बनाया जाना पूँजीवाद के अंतर्गत कई दिशाओं में होता है और अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है। यह तो केवल समाजवाद के युग में ही समूल नष्ट किया जा सकता है।

बने हुये माल में प्रवंचना

अब यदि हम पूँजीवाद में बने हुये माल की श्रेष्ठता पर विचार करें, तो पूँजीवाद के दोष हमारी दृष्टि में और भी बड़े रूप में दिखाई पड़ेंगे। आजकल असली और शुद्ध माल मिलना तो असंभव-सा हो गया है। कारण यह है कि पूँजीवाद में सदाचरण का दर्जा इतना नीचा हो जाता है कि उत्पादक को औचित्य और अनौचित्य का विचार त्याग कर माल में धोखा-धड़ी और मिलावट करना व्यापारिक सफलता के लिये नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि जब एक उत्पादक ऐसा करने लगता है और माल सस्ता बेचने लगता है, तो दूसरे उत्पादक भी तभी सफलता प्राप्त कर सकते हैं जब कि वे भी उतने ही, अथवा उससे भी अधिक, सस्ते दामों पर चीज़ों का विक्रय कर सकें। ऐसा वे तभी कर सकते हैं जब वे असली माल पैदा न करें और चीज़ों में मिलावट करें। वनस्पति के घी को असली और भैंस का घी बता

---

[७]देखिये Spargo and Arner, *Elements of Socialism*, pp. 20-21.

कर बेचा जाना, शुद्ध चमड़े के जूतों में काग़ज़ का लगा होना, असली गाय के दूध में बकरी का दूध और पानी आदि का सम्मिश्रण—ये हम लोगों के नित्य प्रति के अनुभव की बातें हैं। चीज़ों की वास्तविकता को मिलावट से या अन्य उपायों से कम कर देना बहुत सरल और लाभप्रद है, क्योंकि उपभोक्ता माल बनाने वाले से कुछ कह ही नहीं सकता; वह तो शायद इस प्रवंचना से परिचित भी नहीं होता। यदि वह बेचने वाले से कुछ कहता है तो वह उसे अनेक प्रकार से समझा-बुझा देता है।

फिर यदि सौभाग्य से शुद्ध और अच्छी चीज़ मिल भी गई, तो उसमें कलात्मक विशेषता और सुन्दरता नहीं होती। मशीनों द्वारा समस्त वस्तुएँ एक ही कोटि की बनाई जाती हैं और वे अधिक सुंदर नहीं हो सकतीं। जितना अच्छा कपड़ा हाथों से जुलाहे बुन सकते हैं, कारखानों में मशीनों से उतना अच्छा कपड़ा नहीं बन सकता। इसीलिये बहुत बढ़िया कपड़े हाथ के ही बुने हुये होते हैं। परन्तु हाथ का बुना हुआ माल मशीन के माल के सामने इसलिए नहीं टिक सकता क्योंकि पिछला माल सस्ता होता है। इस कारण हाथ से माल बनाने वालों को भी सस्ता माल बनाना पड़ता है; वे वस्तुएँ बनाने में कम समय व्यय करते हैं, और शीघ्रता करने से माल सुन्दर नहीं हो सकता। संयुक्तप्रान्त की बैंकिङ्ग जाँच कमेटी ने इस दशा पर बहुत चिंता प्रकट की है। अन्य प्रांतों की बैंकिङ्ग जाँच कमेटियों ने भी घरेलू उद्योग-धंधों के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। इस प्रकार, कारख़ानों में बनी हुई व घरेलू चीज़ों की सुन्दरता बहुत कुछ कम हो जाती है।

पूँजीवाद के पुजारी उपर्युक्त दोषों को स्वीकार करते हैं। परन्तु वे कहते हैं कि यह काम केवल इने-गिने निम्न श्रेणी के उत्पादकों व व्यापारियों का ही है, समस्त का नहीं। फिर यदि पूँजीवाद में यह दोष है, तो उसमें इस दोष को दूर करने की सम्भावना व साधन भी

है। उत्पादक-गण केवल मूल्य में ही स्पर्धा नहीं करते; स्पर्धा वस्तुओं की कोटि या श्रेष्ठता में भी होती है, इसलिये उत्पादक-गण स्वाभाविक रूप से श्रेष्ठ वस्तुएँ बनाने की चेष्टा करते हैं। इसके अतिरिक्त सरकार भी इस दिशा में जाँच-पड़ताल करती रहती है। सरकारी निरीक्षण, विश्लेषण और हस्तक्षेप माल में मिलावट करने या उसकी कोटि खराब करने को बहुत-कुछ रोकते हैं।

यह कथन कुछ हद तक ठीक है। पूँजीवाद में यह दोष दूर करने की "सम्भावना" हो सकती है। इस कथन में कोई विरोध की बात नहीं। परन्तु पूँजीवाद में इस बात की वास्तविकता नहीं। वास्तव में पूँजीवाद में यह दोष दूर नहीं होता। फिर केवल "सम्भावना" पर ही कैसे विश्वास कर लिया जाय? माल में खराब वस्तुएँ मिलाकर अधिक लाभ उठाने की इच्छा बहुत ही प्रबल प्रमाणित हुई है—इतनी कि इसके सामने व्यापारियों या उत्पादकों को माल को उच्च कोटि का बनाये रखने की लाभप्रद इच्छा को दबाना पड़ता है। सरकारी निरीक्षण और जाँच-पड़ताल भी व्यर्थ होते हैं। जितनी देर में सरकार प्रवंचना का एक ढंग दूर करने का यत्न करती है, उतनी देर में कई नये ढंग निकाल लिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त पूँजीपति चतुर वकीलों व कानून के द्विवानों को अपने यहाँ रखते हैं जो ऐसे-ऐसे उपाय निकालते और बतलाते हैं जिनसे कि पूँजीपति आसानी से धोखा देते रहते हैं, और साथ ही साथ क़ानून के चंगुल में फँसने से बचे भी रहते हैं। यदि यह प्रवंचना समाप्त हो जाय तो श्रेष्ठ वस्तुएँ तो मिलने ही लगें, साथ ही साथ बहुत-सा शारीरिक तथा मानसिक श्रम व्यर्थ के कार्यों में न लगे, और लाभदायक वस्तुओं के उत्पन्न करने तथा समाज को धन-धान्य पूर्ण बनाने में लगाया जा सके। समाजवाद के युग में सरकारी निरीक्षक और उनके सहायक, और धोखे की चालें निकालने वाले बुद्धिमान वकील अधिक उपयोगी कार्यों में लगाये जा सकेंगे और वर्तमान निकम्मे कामों से वे विमुख किये जा सकेंगे।

अध्याय ८

पूँजीवाद के दोष—उत्तरार्द्ध

आर्थिक प्रतारणा

उपर्युक्त प्रवंचना से भी बढ़कर आर्थिक और पूँजा व रोकड़ सम्बन्धी प्रतारणा है। पुराने समय के मुद्रा-युग में (money economy) में जब साझेदारी होती थी और औद्योगिक धंधों के साधारण जन स्वामी होते थे, तब औद्योगिक विषयों में निर्णय व विचार करना ऐसे मनुष्यों के हाथ में होता था जिनका हित समाज के हित से केवल एक अंश दूर होता था। परन्तु वर्तमान उधार-युग[1] (credit economy) में यह बात नहीं। आजकल पूँजी बहुत से मनुष्यों से भाग (share) बेचकर या उधार लेकर, एकत्र की जाती है और उससे काम चलाया जाता है। अतएव उद्योग-धंधों पर अधिकार

---

[1] सर्व प्रथम संसार में वस्तुओं के अदलने-बदलने की प्रथा थी: जो वस्तु अपने पास आवश्यकता से अधिक होती थी उसको बदल कर मनुष्य दूसरों से आवश्यक वस्तुएँ ले लेते थे। इसे बार्टर (darter) कहते हैं। इस प्रथा की कठिनाइयाँ दूर करने के अभिप्राय से मुद्रा चलाई गई। उस युग को मुद्रा युग (money economy) कहते हैं। परन्तु वर्तमान समय में माल का उत्पादन इतने अधिक परिमाण में होता है कि उधार से काम करना आवश्यक हो गया है। यह बात इतनी महत्वपूर्ण हो गई है कि वर्तमान युग को उधार-युग (credit economy) कहा जाता है।

रखने वाले और औद्योगिक नीति का निर्णय करने वाले मनुष्य और होते हैं तथा पूँजी और कारखानों के स्वामी और। परिणाम यह होता है कि कारखानों के प्रबन्ध करने वालों का हित कारखाने के स्वामियों के हित से एक अंश दूर हो गया है और समाज के हित से दो अंश दूर।[२] उद्योगों के प्रबन्धकर्ता अपने हित की बात सोचते हैं और वास्तविक अधिपतिओं की पूँजी और उनके हित के मूल्य पर अपनी स्वार्थ-साधना करते हैं। वास्तव में प्रबन्धकर्ता कारखानों पर इतना अधिकार रखते हैं कि समस्त महत्वपूर्ण पदों पर उनके मित्र तथा संबंधी नियुक्त रहते हैं। कम्पनी के अधिकतर भाग (Shares) भी उनके या उनके परिचित व्यक्तियों के पास होते हैं अतएव भागाधिकारी-वर्ग (Share-holders) उनका कुछ भी विरोध नहीं कर सकता, और प्रबन्धकर्ता अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं। प्रबन्धकर्ताओं को इस बात की भी चिन्ता नहीं होती कि वे जो माल बना रहे हैं वह अच्छा और समाज के लिये उपयोगी है या नहीं। भागाधिकारी-वर्ग (Share-holders), उपभोक्ता और समाज की चाहे कितनी ही क्षति क्यों न हो, परन्तु वे तो अपने स्वार्थ-सिद्धि से ही सम्बन्ध रखते हैं

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रेसीडेंट रूज़वेल्ट ने इस आर्थिक प्रतारणा की बहुत कड़े शब्दों में आलोचना की थी। उन्होंने एक बार कहा था कि जो मनुष्य क़ानून बनाने वाली संस्थाओं और म्युनिसिपलटियों को घूंस देकर व भागाधिकारीवर्ग और साधारण जनता को लूटकर कोष एकत्र करता है वह सदाचार के पलड़े में उतना ही ओछा है जितना कि वह घृणित व्यक्ति जो जुआ-घर और मदिरालय के रुधिर से मिश्रित रुपयों को खा-खाकर पुष्ट और धनी होता है।

---

२ Veblen, *Theory of Business Enterprise*, pp. 158-159.

बेकार व्यवसाय

पूँजीवाद में एक और दोष यह है कि यह बहुत से बेकार व्यवसायों को प्रोत्साहन देता है। वस्तुतः ऐसे व्यवसायों का होना पूँजीवाद के संचालन के लिये नितान्त आवश्यक है। बेकार व्यवसायों से तात्पर्य यह है कि ऐसे व्यवसायी पुरुष वस्तुओं का उत्पादन नहीं करते न उत्पादन-क्रिया में सहायता ही करते हैं। ऐसे मनुष्यों के उदाहरण हमें ऊपर पर्याप्त संख्या में मिल चुके हैं। एक और अच्छा और प्रसिद्ध उदाहरण वकीलों का है। वकील लोग केवल अभियोग लड़ाते हैं। उनके परिश्रम से देश या समाज अधिक धन-धान्य से परिपूर्ण नहीं होता जैसे कि वह मज़दूर व कृषकों के परिश्रम से बनता है। अतः यदि वकीलों को वकालत से हटाकर दूसरे उत्पादक कार्यों में लगा दिया जाय तो समाज का बहुत कल्याण हो। हर दस अभियोगों में से ९ अभियोग जायदाद के झगड़ों से सम्बंध रखते हैं या ऐसी बातों से सम्बन्ध रखते हैं जो पूँजीवाद के ही परिमाण या आवश्यक लक्षण हैं। इस कारण समाजवादियों को विश्वास है कि यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property) की प्रथा का लोप हो जाय तो वकीलों की आवश्यकता स्वतः बहुत कम हो जायगी; और ऐसी दशा में उन्हें उचित उत्पादक कार्यों में नियुक्त कर देना सरल और सम्भव हो जायगा।

समाजवादी केवल वकीलों के व्यवसाय को ही बेकार नहीं कहते। व्यापार, रुपये-पैसे के लेन-देन, व अन्य आर्थिक क्षेत्रों में जितने मध्यवर्ती पुरुष हैं, वे सब ही बेकार हैं। समाजवादी केवल उत्पादकों और उपभोक्ताओं को ही आवश्यक समझते हैं, शेष समस्त मनुष्य व्यर्थ हैं। वे बीच में पड़कर धनोपार्जन करते हैं, और यह रुपया बेचारे उपभोक्ताओं को ही देना पड़ता है, क्योंकि ये सब मध्यवर्ती लोग वस्तुओं का मूल्य बढ़ाते चले जाते हैं जिससे कि उनको स्वयं

कुछ लाभ हो। मान लीजिए, मिल में कुछ कपड़ा बना, और वह एक बड़े थोक व्यापारी को दो आने गज़ दिया गया। बड़ा थोक व्यापारी अन्य थोक व्यापारियों को कपड़ा देगा और उसे दो आने से अधिक—ढाई आने—प्रति गज़ के भाव के बेचेगा। अब थोक व्यापारी फुटकर बेचने वालों को कपड़ा बेचेंगे, और वे तीन आना प्रति गज़ का मूल्य लगावेंगे। फुटकर बेचने वाले दो पैसे प्रति गज़ और बढ़ाकर उपभोक्ताओं को बेचेंगे। यदि बीच में एक और मध्यवर्ती व्यक्ति हुआ तो माल का मूल्य चार आने प्रतिगज़ हो जायगा। इतने मनुष्यों का बीच में पड़ना एक बहुत ही साधारण बात है। वास्तव में इससे भी अधिक व्यक्ति बीच में पड़ते हैं और माल का मूल्य अधिक बढ़ा देते हैं। भारतीय केन्द्रीय कपास कमेटी (Indian Central Cotton Committee) ने कृषि कमीशन के सामने एक स्मृति-पत्र (Memorandum) उपस्थित किया था इसमें उपर्युक्त कमेटी ने पृष्ठ ८४ पर चित्र द्वारा यह बतलाया था कि कपास पैदा करनेवाले और रूई के उपभोक्ताओं के बीच में कितने मनुष्य होते हैं।

जैसा कि उस चित्र से स्पष्ट है, बीच में पड़ने वालों की संख्या बहुत अधिक है और इसमें विभिन्न प्रकार के परिवर्तन सम्भव हैं। इन मध्यवर्तियों के कारण वस्तुओं का मूल्य बहुत बढ़ जाता है। यदि हम अपना पहला वस्त्र वाला उदाहरण लें, तो हमको पता चलेगा कि वस्त्र का वास्तविक मूल्य दो आने प्रति गज़ था, पर उसका अंतिम मूल्य चार आने प्रति गज़ हो गया। उपभोक्ताओं को दुगुना मूल्य देना पड़ा इन्हीं उपभोक्ताओं के मूल्य पर मध्यवर्ती पुरुष लाखों रुपया कमाते हैं, अत्यंत रम्य स्थानों में भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करते हैं और मोटरों पर चढ़ते तथा वायुयानों पर उड़ते हैं। यह अत्याचार केवल उपभोक्ताओं पर ही नहीं, बल्कि छोटे और असहाय उत्पादकों पर भी होता है। बेचारे कृषक परिश्रम करके तथा अनेक
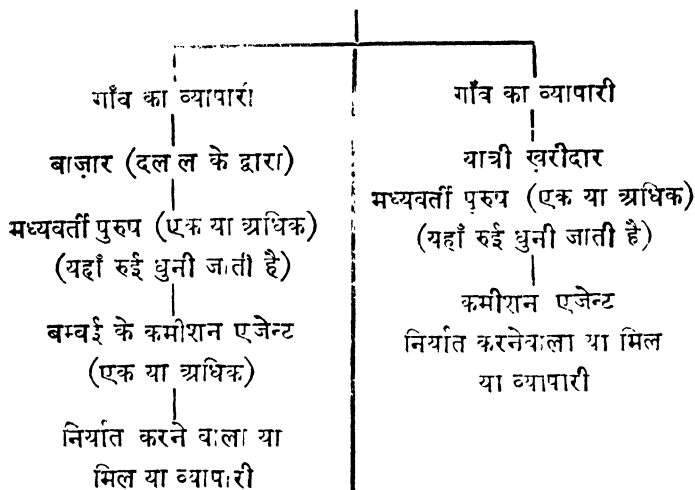
कठिनाइयाँ सहन करके माल पैदा करते हैं। उनके माल का मूल्य वे अपनी इच्छानुसार तो रख ही नहीं सकते। कृषि-सम्बन्धी उपज का बाज़ार अन्तर्राष्ट्रीय है। अतः गेहूँ, कपास आदि का मूल्य अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार की माँग और पूर्ति पर निर्भर है। जो अंतर्राष्ट्रीय मूल्य गेहूँ का होगा, उसी मूल्य पर भारतीय गेहूँ भी बिकेगा, अन्यथा अन्य देशों से गेहूँ भारत में आकर सस्ता पड़ेगा और गेहूँ का आयात प्रारम्भ हो जायगा। परिणाम यह होगा कि भारतीय किसान का गेहूँ नहीं बिक सकेगा और पड़ा-पड़ा नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार लगभग समस्त वस्तुओं का बाज़ारू मूल्य किसी सीमा तक पहले ही से निश्चित है।

अब जितने अधिक मध्यवर्ती पुरुष होंगे, उतना ही अधिक वे उस मूल्य में से निजी लाभ घटाकर कृषकों से गेहूं खरीदेंगे। इस प्रकार कृषकों को कम मूल्य मिलेगा, परंतु मध्यवर्ती पुरुष उससे लाभ उठायेंगे। सारांश यह है कि ये मध्यवर्ती पुरुष स्वयं तो कुछ उत्पन्न नहीं करते, और न उत्पादन-क्रिया में ही सहायता पहुँचाते हैं; परन्तु निर्धन कृषकों व असहाय उपभोक्ताओं से अनुचित रूप से धन अपहरण करके अपने कोष भरते हैं। यही कारण है कि समाजवादी मध्यवर्ती पुरुषों को बेकार समझते हैं। यदि कोई काल्पनिक समाजवादियों (Utopian Socialists) के विचारों को पढ़े, तो उसे पता चलेगा कि वे मध्यवर्ती पुरुषों से बुरी तरह चिढ़े हुये थे। किसी-किसी ने तो हृदय खोल कर इन लोगों के प्रति अपशब्दों का उच्चारण किया है। बिच्छू, मकड़ी, साँप, छुछूंदर इत्यादि शब्द तो साधारण रूप से प्रयुक्त हुये हैं। कोई चाहे इस 'अपशब्दवाद' से सहमत न हों, पर प्राचीन समाजवादियों के कथन की वास्तविकता से तो सहमत होना ही पड़ता है।

मजदूरों की दुर्दशा

उल्लिखित दोष पूँजीवाद की उत्पादन-क्रिया के क्षेत्र से सम्बन्ध रखते हैं। अब हम समालोचना के दूसरे भाग पर विचार करना प्रारम्भ करते हैं, अर्थात् अब हमें यह देखना है कि मज़दूरों को किन-किन परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, उन्हें वेतन कितना मिलता है और उनका रहन-सहन किस कोटि का है। समालोचना के इस दृष्टिकोण पर समाजवादियों ने विशेष ध्यान दिया है। यह है भी स्वाभाविक, क्योंकि समाजवाद की उत्पत्ति निर्धनों, दुःखी और दीनों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करने में ही हुई है। हम अब समाजवादियों की, पूँजीवाद की वर्तमान अवस्था के प्रतिकूल ज़ोरदार शब्दों में, तीव्रतम आलोचनाओं की ओर ध्यान देंगे।

मज़दूरी या दासता ?

समाजवादी कहते हैं कि कहने को तो मज़दूर स्वतंत्र हैं, परन्तु वास्तव में वे दास हैं। उनकी अवस्था दासों से भी गिरी हुई है। पूँजीपति उनका शोषण करते हैं; और उनके मूल्य पर स्वयं आनन्द उठाते हैं। उन पर किस प्रकार अत्याचार किया जाता है इसका विवेचन पहले ही हो गया है और हम देख चुके हैं कि मज़दूरों का शोषण करना ही पूँजीवाद का आधार है। पूँजीवादी कहते हैं कि पूँजीवाद-युग में मज़दूरी को दासता कहना अन्याय है। दास अपने स्वामी से कभी विमुख नहीं हो सकता, वह पूर्ण रूप से स्वामी के आधिपत्य में रहता है। परन्तु मज़दूर इच्छानुसार कारखाने से चला जा सकता है, और किसी अन्य स्थान पर नौकरी कर सकता है। फिर मज़दूर दास किस प्रकार हुआ ? इसका समाजवादियों के पास यह उत्तर है कि मज़दूर केवल नाममात्र को ही स्वतंत्र हैं। अन्य स्थान पर जाकर भी उसे उसी प्रकार की कठिन परिस्थितियों में काम करना पड़ता है। वास्तव में उसमें और दास में कोई अंतर नहीं। मज़दूरों को काम देने या न देने का अधिकार पूँजीपतियों का होता है। यह अधिकार पूँजीपतियों को वह शक्ति प्रदान कर देता है जिससे कि वे पुराने दासों के स्वामियों से अधिक अत्याचार कर सकते हैं। यह सत्य है कि कोई क़ानून मज़दूरों को इस बात के लिये बाध्य नहीं करता है कि वे किसी पूँजीपति के यहाँ काम करें, परन्तु पूँजीपतियों के पास उत्पादन के सामान का एकाधिकार होता है। अतः यदि मज़दूरों को कहीं काम मिल सकता है तो पूँजीपतियों के कारखानों में ही। यदि उनके लिये जीविका उपार्जन करने का कोई भी साधन है, तो पूँजीपतियों के यहाँ नौकरी करना। ऐसी दशा में वे पूँजीपति की नौकरी छोड़कर और जा ही कहाँ सकते हैं ? और यदि इस दशा को दासता नहीं कहते तो फिर दासता किसको कहा जा सकता है ? हाँ, इस दशा को दासता से

भी निम्न कोटि का अवश्य कहा जा सकता है, क्योंकि प्राचीन दासों के स्वामियों को कम से कम अपने दासों को भूखों मरने से तो बचाना ही पड़ता था, पर वर्तमान कारखानों के स्वामी तो मज़दूरों का इतना भी उत्तरदायित्व नहीं लेते। केवल पूँजीपति ही यह निर्णय करता है कि कब और कहाँ कार्य प्रारम्भ किया जायगा, किस मज़दूर को काम दिया जायगा और किसे नहीं, और काम किस ढंग से किया जायगा। मज़दूर तो किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं। उन्हें तो मुँह खोलने तक का अवसर नहीं मिलता।

एक विद्वान[3] ने लिखा है कि पूँजीवाद के युग में मज़दूर इस बात का अनुभव कर रहा है कि उसने एक प्रकार की दासता से मुक्ति पाकर अब दूसरी दासता को अपनाया है; और उदर पूर्ति की समस्या प्राचीन दासों के स्वामियों के कोड़ों के घावों से भी अधिक कष्टप्रद है। उसे नौकरी माँगने का कोई अधिकार नहीं; कोई भी उसके लिये काम ढूँढ़ने का उत्तरदायी नहीं; और न वह स्वयं ही किसी प्रकार का व्यवसाय कर सकता है, क्योंकि उसके पास उत्पादन के सम्पूर्ण साधन नहीं। वह एक बेकार की भाँति जीवन व्यतीत करता है। जहाँ कहीं भी नौकरी मिलने की सूचना मिलती है, वह वहीं दौड़ता हुआ चला जाता है। चाहे वह भूखों मर रहा हो, पर उसे अन्न पैदा करने का अधिकार नहीं; नंगा शीतकाल में सिकुड़ रहा हो, पर उसे कपड़ा बुनने का हक़ नहीं; बिना झोंपड़ी मारा फिरता हो, पर घर बनाने का उसके पास कोई साधन नहीं। काम करते समय पूँजीपति को छोड़कर शायद ही कोई यह देखने वाला होता है कि कारखानों में किस प्रकार काम कराया जाता है। कोई भी यह निर्णय करनेवाला नहीं होता कि कितना काम कराना चाहिए और कैसे कराना चाहिये। मज़दूर का कर्तव्य केवल इसी से प्रारम्भ होता

---

[3] Keir Hardie, *From Serfdom to Socialism*.

है कि उसे जो आज्ञा दी जाय उसी कार्य को करे और यहीं उसके कर्तव्य की इति-श्री हो जाती है। समीपवर्ती मज़दूर से बात करना अक्षम्य है और इसके लिये उसे दण्ड भुगतना पड़ता है; यदि काम करते-करते कहीं सीटी भी बजा दी, तो भी दण्ड मिलता है। प्रातःकाल को निश्चित समय पर कारख़ाने के घंटे द्वारा उसे यह सूचना मिलती है कि कार्य प्रारम्भ हो गया; एक दूसरे निश्चित समय पर घंटा उसे सूचना देता है कि उदर-पूर्ति कर लो; और एक घंटे के पश्चात् उसे घंटे द्वारा फिर सूचना मिलती है कि कार्य फिर से प्रारम्भ कर दो जिस कल से मज़दूर काम करता है वह उसकी नहीं; और जो माल वह पैदा करता है वह उसका नहीं। वह तो केवल किराये के टट्टू की भाँति है; जहाँ कहीं उसकी उदर-पूर्ति होती है वहीं कार्य करने को प्रस्तुत हो जाता है।

मज़दूर-वर्ग दासता तो करता ही है, परन्तु इससे भी अधिक कष्टप्रद बात यह है कि उसे बहुत सा नीरस कार्य करना पड़ता है। कारख़ानों में थोड़े ही दिन काम करने के पश्चात् मज़दूरों की शक्तियाँ मन्द पड़ जाती हैं, और उनका दृष्टिकोण सीमित हो जाता है। उनकी बनाई हुई वस्तुओं पर उनके व्यक्तित्व की छाप नहीं रहती उनके सम्मुख केवल अधिक से अधिक माल पैदा करने का उद्देश्य रक्खा जाता है; और अधिक उत्पादन के लिये उनके व्यक्तित्व का बलिदान किया जाता है। प्रत्येक मज़दूर को एक कार्य-विशेष पर नियुक्त कर दिया जाता है; और वह केवल उसी कार्य को करने में अपना जीवन व्यतीत कर देता है एक ही काम प्रति-दिन करते-करते, उसे कल की भाँति एक काम करने का अभ्यास पड़ जाता है; और उसे अपनी बुद्धि को प्रयोग करने की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इससे उसकी बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है और उसकी मौलिक शक्ति का ह्रास हो जाता है। फलतः व्यापार-कुशलता प्राप्त करने के लिये

उसे सामाजिक, शारीरिक और मानसिक गुणों से वंचित रहना पड़ता है।[४]

इसके अतिरिक्त कारखाने की दशा मज़दूरों के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डालती है। कार्ल मार्क्स 'कैपीटल' (Das Kapital) में कहते हैं : हम यहाँ पर केवल कारखानों में काम करनेवालों की शारीरिक दशा का वर्णन करेंगे। कृत्रिम उच्च तापक्रम, धूल धूसरित वातावरण, कर्ण-भेदी शब्द प्रत्येक इन्द्रिय को बहुत हानि पहुँचाते हैं। पूँजीपति सामाजिक उत्पत्ति के साधनों का जी भर कर दुरुपयोग करते हैं, और मज़दूरों के जीवन की अत्यंत आवश्यक वस्तुओं का भी अपहरण कर लेते हैं। वे स्थान, प्रकाश, वायु और रक्षा के साधनों से मज़दूरों को वंचित कर देते हैं। इसके अतिरिक्त कारखाने का काम और वहाँ का दूषित वातावरण मज़दूरों के स्वास्थ्य को अत्यंत हानिप्रद होता है; वह मांस-पेशियों के स्वतंत्र संचलन में बाधा उपस्थित करता है; और स्वतंत्रता के प्रत्येक अंश का अपहरण कर लेता है जिससे शारीरिक और मानसिक क्रिया निष्प्राण हो जाती हैं।

इससे भी अधिक हानिकारक बात यह है कि मज़दूरों को कठिनतम परिश्रम करने के लिये बाध्य किया जाता है जिससे कि उनकी जीवन-शक्ति का शीघ्र ही ह्रास हो जाता है कुछ समय पश्चात् ही वे निष्क्रिय हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त असंख्य मज़दूर प्रतिवर्ष प्राणघातक रोगों द्वारा अथवा कारखानों और खानों में मृत्यु के लक्ष्य हो जाते हैं, और उससे भी अधिक संख्या में व्रणपूर्ण तथा प्रपीड़ित होते। हैं। परन्तु इन समस्त परिस्थितियों में भी रुपया बचाने के लोभ से पूँजीपति प्राणरक्षक उपायों का प्रयोग नहीं करते हैं। जब उनका जीवन पूँजीपतियों के लाभ के मार्ग में बाधा डालता है,

[४] देखिये Adam Smith *Wealth of Nations*, Book V. Chapter 1.

तो वह अकिंचन वस्तु की भाँति तिरकृत कर दिया जाता है।"[५] यह सत्य है कि कुछ क़ानून ऐसी परिस्थितियों में पूँजीपतियों द्वारा मज़दूरों की सम्यक् हानि-पूर्ति का आयोजन करते हैं, परन्तु मज़दूरों के पास अभियोग चलाने के लिये धन ही नहीं होता है। यदि वे किसी प्रकार अभियोग प्रारम्भ भी करें, तो पूँजीपतियों के चतुर और उच्च वेतनवाले वकीलों के सामने अभियोग में सफलता प्राप्त करना अत्यंत कठिन हो जाता है। इस प्रकार कुटुम्ब के एकमात्र धन उपार्जन करनेवाले व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात्, उसके अन्य कुटुम्बी क्षुधा की विभीषिका में जलते हैं।

पूँजीपति इस दोषारोपण को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि मज़दूरों का पूँजीपतियों पर निर्भर होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध समानता का है। यदि मज़दूर न हों तो उनको कारख़ाना चलाना असम्भव हो जाय। अतः पूँजीपति मज़दूरों पर उसी प्रकार निर्भर हैं जिस प्रकार मज़दूर-वर्ग पूँजीपतियों पर। परन्तु यह तर्क अनुपयुक्त है कारण यह है कि मज़दूरों के पास पूँजी का पूर्णरूप से अभाव होता है, अतः वे पूँजीपतियों से समानता का व्यवहार नहीं कर सकते। उन्हें तो अपने दैनिक वेतन से उदर-पूर्ति करनी पड़ती है। अतएव उन्हें अपनी जीविका उपार्जन करने के लिये न्यूनतम वेतन पर कार्य करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। पूँजीपति मज़दूरों की इस दुर्बलता का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं, और उनको न्यूनतम वेतन प्रदान करते हैं। इस प्रकार पूँजीपतियों का मज़दूरों पर निर्भर रहने का कोई क्रियात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। पूँजीवाद के युग में मज़दूरों का शोषण एक स्वाभाविक सी बात हो गई है।

पूँजीवाद के समर्थक यह भी कहते हैं कि प्रत्येक देश में सरकार

[५] Ghent *Mass and Class*, p. 202.

स्वच्छता, प्रकाश और स्थान आदि के विषय में न्यूनतम अवस्था निर्धारित कर देती है। यदि कोई कारखाने का अधिपति अपने कारखाने की दशा उससे गिरी हुई रखता है तो वह दंड का भागी होता है। इसके अतिरिक्त मज़दूर-सभायें संगठित रूप में पूँजीपतियों की अनधिकार चेष्टा को रोकती हैं, इससे अत्याचार तथा शोषण का रूप भीषण नहीं हो पाता। परन्तु मज़दूर-सभायें सभी स्थानों पर सफल और संगठित नहीं रहतीं। विशेषतः तंगी और आर्थिक संकट के समय, जब कि वेतन कम हो जाता है और बेकारी बढ़ जाती है, मज़दूर-सभाओं की शक्ति भी कम हो जाती है। ऐसी दशा में पूँजीपतियों की स्वेच्छाचारिता सफल हो जाती है।

धन का वितरण

अब हम उस धन के वितरण का विवेचन करेंगे जो मज़दूर, पूँजीपति और ज़मींदार इत्यादि मिलकर पैदा करते हैं। पूँजीवाद के युग में मज़दूरों को इस संयुक्त-धन का बहुत थोड़ा सा भाग मिलता है। इसका परिणाम यह होता है कि उन्हें जीवन-पर्यन्त निर्धनता का लक्ष्य बना रहना पड़ता है। वास्तव में पूँजीवाद में मज़दूरों का पुरस्कार न तो उनको आवश्यकतानुसार निर्धारित किया जाता है और न उनके उत्पन्न किये हुये माल के मूल्य के अनुसार ही। मज़दूरों का मूल्य अन्य पदार्थों के मूल्य की भाँति ही निर्धारित होता है। माँग और पूर्ति ही वेतन को निर्धारित करते हैं। क्योंकि मज़दूरों की पूर्ति अधिक और उनकी आवश्यकताएँ आग्रहपूर्ण (Urgent) होती हैं, अतः उनका पुरस्कार भी अत्यंत कम होता है। इस प्रकार मज़दूरों को निर्जीव वस्तु की भाँति माना जाता है। वस्तुतः उनका पुरस्कार उनकी आवश्यकतानुसार होना चाहिये, अन्यथा उनके उत्पन्न किये हुये माल के अनुसार तो न्याय-संगत है ही। परन्तु पूँजीवाद में इसका कुछ भी ध्यान नहीं रक्खा जाता।

मज़दूरों को संयुक्त-धन का केवल एक अल्प भाग ही नहीं मिलता, वरन् उनको पूँजीवाद और व्यापारिक चक्र (Business cycle) में पड़ कर अपना जीवन तक समर्पित कर देना पड़ता है। उनको सदैव यह डर लगा रहता है कि आर्थिक-कल के एक भाग से कहीं उन्हें दूसरे भाग में (जहाँ कम वेतन मिलता है) न जाना पड़े, अथवा कहीं बेकार न हो जाना पड़े। वैज्ञानिक-प्रबन्ध (Scientific Management) के अंतर्गत भी, जहाँ मज़दूरों को वेतन 'पर्याप्त' दिया जाता है और न्यायपूर्ण माना जाता है, उनको संयुक्त धन का पर्याप्त अंश नहीं मिलता।

इतने कम वेतन पर मज़दूरों का भले प्रकार रहना कठिन हो जाता है न तो वे अच्छा खाना ही खा सकते हैं, न अच्छे वस्त्र ही पहन सकते हैं, और न आरोग्यवर्धक तथा हवादार स्थानों में ही रह सकते हैं। कलकत्ता, बम्बई तथा अन्य व्यापारिक नगरों की संकीर्ण गलियों में, वहाँ के दूषित वातावरण, में और मदिरालयों तथा वेश्यालयों में उनके जीवन का सर्व श्रेष्ठ और मुख्य भाग नष्ट होता है। एंगिल्स मर्म-स्पर्शी शब्दों में कहते हैं : आजकल के समय में समाज का निर्धनों के प्रति दुर्व्यवहार देखकर हृदय काँप उठता है। ग्रामों में उदर-पूर्ति के साधन न होने के कारण उनको नगरों में जाना पड़ता है, जहाँ उन्हें दूषित वातावरण में रहना पड़ता है। उनको उन प्रान्तों में जाना पड़ता है जहाँ के मकानों में स्वच्छ वायु का भी प्रवेश नहीं होता। वे स्वच्छ जल भी नहीं पी सकते, क्योंकि नल का किराया देने के लिये उनके पास रुपया नहीं होता और नदियों और तालाबों का पानी बहुत गंदा हो जाता है। उन्हें घरों का कूड़ा करकट तथा कीचड़ इत्यादि घृणित पदार्थ सड़कों पर फेकने के लिये बाध्य होना पड़ता है। उन्हें छोटी-छोटी कोठरियों में रहना पड़ता है, जहाँ न तो धूप-वर्षा से ही रक्षा हो सकती है, और न स्वच्छ जल-वायु का ही सेवन सम्भव हो सकता है। उनके कमरे ऐसे हैं कि वहाँ

से दूषित वायु बाहर नहीं निकलने पाती। मैनेचेस्टर के विषय में आप लिखते हैं कि नगर में अर्क (Irk) नदी बहती है या सड़ती रहती हैं जिसमें कूड़ा-करकट तथा कीचड़ भरा रहता है और जिसका पानी कोयले व धुएँ से काला-काला दृष्टिगत होता है। इस संकीर्ण नदी के किनारे मज़दूरों के मकान बहुत पास-पास बने होते हैं जिनका वातावरण भीतर भी उतना ही दूषित होता है जितना कि बाहर। इस प्रकार विस्तृत तथा हृदय विदारक वर्णन करने के पश्चात् भी वे कहते हैं कि मेरा वर्णन इतना अपूर्ण है कि उससे वास्तविक अस्वच्छता का अनुमान नहीं किया जा सकता।

ऐसे गन्दे वातावरण का प्रभाव मज़दूरों के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा पड़ता है। वे नाना प्रकार के रोगों में ग्रस्त हो जाते हैं और समय-समय पर प्लेग इत्यादि भीषण महामारियों से पीड़ित होते हैं। बहुत से तो अकाल-मृत्यु के लक्ष्य हो जाते हैं, और जो जीवित रहते हैं उनकी उत्पादन-शक्ति बहुत कम हो जाती है और उनका जीवन अत्यंत दुःखपूर्ण हो जाता है। इस दुर्दशा का भयंकर प्रभाव यहीं सीमित नहीं रहता। यह उनका चरित्र भी नष्ट कर देता है। मज़दूरों को यहाँ पर मदिरापान का दुर्व्यसन पड़ जाता है, जिससे उनकी अल्प आय का बड़ा भाग व्यय हो जाता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि एंगल्स का कथन है, उनमें अनियमित और असंगत सहवास की अनिष्टकारी दुर्वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि मज़दूर लोग कारखानों में काम करने के पश्चात् स्वतंत्र हो जाते हैं। अपने शेष समय को भली भाँति व्यतीत करने का कोई अच्छा साधन उनको नहीं प्राप्त होता। न तो व्यायाम आदि में ही वे भाग ले सकते हैं और न उनके लिये उपवन इत्यादि का ही कोई प्रबन्ध हो सकता है। अतएव वे इन कुकर्मों में ही अपना समय व्यतीत करते हैं। पूँजीपतियों ने मज़दूरों को केवल ये ही दो विनोद के साधन छोड़ दिये हैं जिनका वे असीमित मात्रा में प्रयोग करते हैं, और उनमें

इस प्रकार से आवद्ध हो जाते हैं कि उनसे मुक्ति पाना असंभव हो जाता है।

ऐसी दशा में कुटुम्ब-जीवन भी असम्भव है। जब कि एक कमरे में तीन-तीन चार-चार कुटुम्बों को रहना पड़ता है, और दूषित वातावरण में जीवन व्यतीत करना पड़ता है, तब कुटुम्ब के सुख को सोचना पूर्णतः असंगत है। पति, पत्नी और पुत्र—सब भिन्न-भिन्न स्थानों पर काम करते हैं, वे केवल रात्रि में तथा प्रातःकाल को मिलते हैं, और जब कभी संयोग होता है तो मदिरा-पान के स्वाद का ही आनन्द लेते हैं। ऐसी अवस्था में कुटुम्ब-जीवन पूर्णतः असंभव हो जाता है।

इस प्रकार जब मज़दूरों का जीवन नष्ट कर दिया जाता है, उनको उच्चकोटि का जीवन व्यतीत करने की सामर्थ्य से विहीन कर दिया जाता है, उनको उच्च भावनाओं तथा विचारों के अनुभव से वंचित कर दिया जाता है, कारख़ानों में उनका शारीरिक तथा मानसिक विकास रोक दिया जाता है, अधिक कार्य के कारण उनको रोगग्रस्त बना दिया जाता है, जीवन के सब से तीक्ष्ण दुःख, निर्धनता, के भय से उनकी आत्मा प्रपीड़ित कर दी जाती है, उनके स्त्री-बच्चों के पालन का कोई उचित साधन नहीं प्रदान किया जाता है, तब हम यह देख कर दुखी होते हैं कि वे जीवन से निराश हैं, अपनी चिंताओं को मदिरा के प्याले में डुबा देने की चेष्टा करते हैं, और उस कुचक्र में फँस जाते हैं जहाँ निर्धनता दुष्कर्म कराती है और दुष्कर्म निर्धन बनाते हैं। फिर हम अपनी आत्मा को यह कहकर शान्ति देते हैं कि यह उन्हीं के दुष्कर्मों का परिणाम है, अन्यथा वे भी अपने जीवन को उन्नत बना सकते हैं; और उनको उपदेश देते हैं कि वे मितव्ययी बनें, मदिरापान का परित्याग कर दें, चतुर तथा गुणवान बनें, पर सब से अधिक इस बात की शिक्षा देते हैं कि वे सदैव परिश्रमी बने रहें जिससे कि आर्थिक-कल चालू रहे, पूँजीपति मज़दूर के

शोषण द्वारा असंख्य धन एकत्र करते रहें और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करें।

यह सत्य है कि निर्धनता के दुष्परिणामों को दान और भिक्षा कम कर देते हैं। परन्तु उनका प्रभाव स्थायी नहीं होता। यह भी सत्य है कि समाज सामान्यतः किसी के प्राणों का ग्राहक नहीं, अकाल अथवा कठिनाई के समय निर्धनों को आवश्यक सहायता प्रदान की जाती है। परन्तु ऐसी सहायता का प्रभाव उनके लिए बहुत हानिकारक सिद्ध होता है, क्योंकि वे दूसरों के आश्रय पर अपनी उदर-पूर्ति करने के अभ्यस्त हो जाते हैं और उनमें स्वाभिमान का अंश तक भी नहीं रहता।

इन समस्त विषयों को ध्यान में रखते हुये समाजवादियों का कथन है कि पूँजीवाद का प्रत्येक अंग विषाक्त है। पूँजीवाद स्वयं घुन की भाँति समाज की नींव को अस्थिर बना रहा है। समाज के कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के हित-साधन तथा भोग-विलास के लिये समस्त साधारण वर्ग को नारकी जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इस नरक से मनुष्यों को मुक्ति प्रदान करने का केवल यही एक उपाय है कि इस घुन को—समाज के पूँजीवादी संगठन को—नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाय और उसके स्थान पर समाजवाद का स्थापन किया जाय, जिसका उद्देश्य सुदृढ़ रूप से समाज के समस्त व्यक्तियों का सामूहिक जीवन उन्नत करना है, उसके वर्ग-विशेष के कुछ व्यक्तियों को भोग-विलास की सामग्री प्रदान करना नहीं; दरिद्रता का विनाश करना है, निर्धनता की वृद्धि करना नहीं; मनुष्य-जाति की आध्यात्मिक उन्नति को उच्चतम शिखर पर पहुँचाना है जहाँ पर मनुष्य का अस्तित्व ईश्वर के अस्तित्व में लय हो जाता है, आध्यात्मिक हीनता के गर्त में गिराना नहीं।

अध्याय ९

पूँजीवाद संकट में

पूँजीवाद के अत्याचारों की अब पराकाष्ठा हो चुकी है और उनके भारी बोझ के नीचे वह स्वयं ही दबा जा रहा है। इंगलैंड, संयुक्त राष्ट्र आदि संसार के पूँजीवाद प्रधान देशों में लगभग सभी जगह त्राहि-त्राहि मची हुई है। बेकारी, आर्थिक-संकट, व्यापारिक शिथिलता, आर्थिक यंत्र की अस्थिरता—इन समस्त कठिनाइयों से सभी देश प्रपीड़ित हो उठे हैं। इस अवस्था को देख कर विद्वानों का कथन है कि अब पूँजीवाद अंतिम साँसें ले रहा है।

पूँजीवाद की असफलता, जैसा कि पूर्व अध्याय में बताया गया है, मुख्यतः दो रूपों में पाई जाती है—धन के उत्पादन में तथा धन के वितरण में। धन के उत्पादन के सम्बन्ध में पूँजीवाद के अंतर्गत बहुत से दोष हैं, परन्तु यह कहना असमीचीन न होगा कि पूँजीवाद इस क्षेत्र में अधिक असफल नहीं है। विशेष रूप से कठिनाई तथा असफलता धन और आय के वितरण में पाई जाती है। संसार के सभी उन्नतिशील देशों में उत्पादन शक्ति पर्याप्त मात्रा में बढ़ गई है, और अब उस श्रेणी तक पहुँच गई है जहाँ तक वह अभी तक नहीं पहुँच सकी थी। रॉबर्ट ओविन, एंगिल्स और कार्ल मार्क्स आदि प्रसिद्ध समाजवादियों ने पूँजीवाद की इस सफलता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। क्रप्स और फोर्ड जैसे व्यक्तियों ने अपने कारखानों में उत्पादन के साधनों की ऐसी उन्नति की है कि देखकर आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। यह कहा जाता है कि उत्पादन-शक्ति इतनी बढ़ गई है

कि अमेरिका का कॉलर बनाने वाला एक कारखाना प्रत्येक अमरिका-निवासी के लिये तीन कॉलर प्रति वर्ष बना सकता है। सन् १९३७ की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सभा में चैम्बरलेन ने घोषणा की थी कि वर्तमान दशा में माल का उत्पादन किसी भी सीमा तक एक क्षण भर में बढ़ाया जा सकता है।

पूँजीवाद के ये अद्भुत कृत्य वास्तव में आश्चर्यजनक हैं। परन्तु असली प्रश्न यह उठता है कि यह असीम उत्पादन-शक्ति मनुष्यों की निर्धनता को कम करने में, उनकी कठिनाइयों को दूर करने में, कहाँ तक सफल हुई है। इस विषय में निस्संदेह कहा जा सकता है कि पूँजीवाद ने मनुष्यों की भलाई पर लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया। सहस्रों स्त्री-पुरुष शीतकाल में ठिठुर-ठिठुर का जीवन के दिन व्यतीत करते हैं। पूँजीवादी युग में देश के होनहार नवयुवकों के सम्मुख उदर-पूर्ति का प्रश्न अत्यंत ही कठिन हो गया है जो कि शक्ति और बुद्धि का ह्रास करता है, और जो उनको निरंतर सड़कों पर उद्देश्यहीनों की भाँति घुमाता है। स्वभावतः प्रश्न यह उठता है कि इस भीषण अवस्था का कारण क्या है? खाने-पीने की सामग्री प्रचुर मात्रा में उत्पन्न की जाती है। आवश्यक तथा भोग-विलास की वस्तुओं का भी कोई अभाव नहीं। परंतु यह सब होते हुए भी माल का क्रय-विक्रय नहीं होता, और मनुष्यों को खाने-पहिनने और रहने की साधारण वस्तुओं तक का अभाव रहता है! कारण इसका केवल यही है कि मनुष्यों के पास वस्तुएँ क्रय करने के लिए धन नहीं है। वे आवश्यक वस्तुओं को क्रय करना चाहते हैं, परन्तु धन के अभाव से ऐसा नहीं कर सकते। इस प्रकार वस्तु-बाहुल्य के होते हुए भी मनुष्यों के क्षुधा पीड़ित होने की समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। मनुष्यों के पास रुपये के अभाव का एकमात्र कारण है बेकारी की बढ़ती हुई समस्या। पूँजीवाद तभी सफलापूर्वक चालू रह सकता है जब कि मज़दूरों का वेतन कम हो, अथवा उनकी संख्या अधिक हो। ऐसी

अवस्था में बेकारी का बढ़ना अनिवार्य है। फलतः मज़दूर धनोपार्जन नहीं कर सकते, और न अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति ही कर सकते हैं।

इस प्रकार बेकारों के पास तो धन का अभाव है ही; पर कार्य-संलग्न मनुष्य भी अच्छी अवस्था में नहीं। वे निशि-दिन कल की भाँति काम में संलग्न रहते हैं और प्राणपण से माल उत्पन्न करते हैं। वितरण में उन्हें उत्पन्न किये हुए संयुक्त धन का बहुत थोड़ा सा अंश प्राप्त होता है। उनका वेतन केवल इतना ही होता है जिससे वे जीवित रह सकें, उनको मृत्यु के घाट न पहुँचना पड़े। परन्तु इससे अधिक उनको कुछ भी प्रदान नहीं किया जाता। परिणाम यह होता है कि उन्हें जीवन की समस्त आवश्यक वस्तुएँ क्रय करने के लिये पर्याप्त धन नहीं मिलता। अनुमान लगाया गया है कि संसार के लगभग आधे स्त्री-पुरुषों को खाने-पहनने और रहने को पर्याप्त वस्तुएँ प्राप्त नहीं होतीं।

अब प्रश्न यह उठता है कि मज़दूरों को उत्पन्न किये हुये संयुक्त धन का न्यायपूर्ण भाग क्यों नहीं दिया जाता। इस बात का विवेचन किया जा चुका है कि मज़दूरों को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नित्य-प्रति काम करना पड़ता है। यदि वे एक दिन भी कार्य न करें तो उनको सकुटुम्ब भूखा रहना पड़े। ऐसी दशा में पूँजीपति उनका पूर्णतः शोषण करते हैं, और उनको न्यूनतम वेतन देने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि पूँजीवाद का युग प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता का युग है। अतएव पूँजीपतियों की पारस्परिक स्पर्धा उन्हें मज़दूरों को पर्याप्त वेतन प्रदान करने को बाध्य कर देगी। परन्तु अर्थशास्त्र का यह साधारण सिद्धान्त है कि ऐसा तभी सम्भव है जब कि मज़दूरों की माँग उनकी पूर्ति से अधिक हो। परन्तु उनकी वास्तविक दशा इससे विपरीत ही है। उनकी संख्या माँग से अधिक ही होती है। अतएव पूँजीपति-वर्ग मज़दूरों को अपनी धन-

लिप्सा का लक्ष्य बनाते हैं, और उनका शोषण करके स्वयं आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हैं।

जब माल माँग से अधिक मात्रा में बन जाता है, तब वह पूँजीपतियों के पास पड़ा रहता है। यह माल गोदामों और दूकानों में भरा रहता है, और कीड़े-मकोड़ों द्वारा नष्ट होता है। जो माल शेष रह जाता है, वह जान बूझकर नष्ट कर दिया जाता है। यदि पूँजीपति इस माल को नष्ट न करके निर्धनों को अमूल्य प्रदान कर दें, तो उनका बहुत भला हो। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते, तो माल का मूल्य कम कर दें जिससे कुछ माल बिक जाय। परन्तु वे ऐसा भी नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से उनको कम लाभ होता। माल का मूल्य ऊँचा रखने के लिये वे करोड़ों मन गेहूँ में आग लगवा देते हैं। रुई के पेड़ और कपास के पेड़ को नष्ट कर देने वाले कीड़े पाल कर लाखों मन रुई नष्ट करवा देते हैं और असंख्य नारंगियाँ आदि वस्तुएँ समुद्र में विलीन कर दी जाती हैं। यह पूँजीवाद की अत्यंत शोचनीय और हृदय-विदारक समस्या है। एक ओर तो असंख्य मनुष्यों का भूखों मरना और वस्त्रहीन होना और दूसरी ओर असीम उपयोगी वस्तुओं का विनाश, इस मत के प्रतिपादन हैं कि वर्तमान सामाजिक संगठन में कुछ तात्विक दोष हैं।

पूँजीवादी में एक यही विरोधात्मक बात नहीं, वरन् और भी बहुत सी बातें हैं। एक ओर तो बहुत सा काम करने के लिये मनुष्यों की आवश्यकता है। गंदी और दुर्गन्धपूर्ण नालियों, कच्ची झोपड़ियों तथा संकीर्ण गलियों आदि की स्वच्छता में वहाँ के वातावरण को शुद्ध बनाने तथा रहन-सहन संबंधी सामग्री को संगठित करने में सहस्रों मनुष्यों को नियुक्त किया जा सकता है। परन्तु इसके प्रतिकूल दूसरी ओर संसार के आधे मनुष्य बेकार हैं। मनुष्य काम चाहते हैं, काम का अभाव नहीं, परन्तु फिर भी चारों ओर बेकारी दृष्टिगत होती है।

पूँजीवाद अब निराश तथा निस्सहायावस्था में है। स्वाभाविक रूप से अब उसका विनाश होने वाला है। संयुक्त राष्ट्र में ही सहस्रों मन गेहूँ जलाया जाता है। इंगलैंड असंख्य नारंगियाँ समुद्र के गहन गर्तों में विलीन कर देता है। ब्राजील कहवे को रेल के इञ्जिनों में कोयले की भाँति जला डालता है। परन्तु कोई भी देश यह घोषणा नहीं कर सकता कि उसके मनुष्य पूर्णतः सुखी तथा संतुष्ट हैं। संसार भर में बेकारी अपना तिमिरांचल विस्तृत किये हुये है, परन्तु कोई भी देश नहीं कह सकता कि उसे काम कराने के लिये मनुष्यों की आवश्यकता नहीं है! यह दशा बहुत ही विरोधात्मक तथा दुःखदायक है। श्रीमती बारबारा बूटन (Mrs. Barbara Wootton) लिखती हैं कि भूखों मरना, अथवा अत्यन्त निर्धन होना अथवा बेकार रहना सदैव ही हृदय-विदारक होता है। परन्तु बाहुल्य के बीच में भूखों मरना तथा वस्त्रहीन रहना करुणोत्पादक ही नहीं, वरन् हास्यास्पद भी है। साथ ही साथ काम के रहते हुये और काम की सामग्री उपस्थित होते हुये भी बेकार रहना और भी हास्यास्पद है।

क्या ऐसे विरोधात्मक सामाजिक संगठन में बुद्धि-दौर्बल्य का कुछ अंश नहीं? क्या भावी संतान यह देखकर कि हम इस प्रणाली के दोषों तथा असफलताओं से परिचित होते हुए भी इसके दास बने रहें, हमारी हँसी नहीं उड़ायगी और हमारी दुर्बलताओं पर खेद नहीं प्रकट करेगी? क्या अब वह समय नहीं आ गया है जब कि हम खाली पेट और भरे हुये गोदामों, बेकार मनुष्यों के अस्तित्व और काम के बाहुल्य के कुचक्र को नष्ट करने की चेष्टा करें? इन प्रश्नों का केवल एक ही उत्तर है, और वह है "अवश्य"। पूँजीवाद में अब उपयगिता का अंश लेशमात्र भी नहीं रह गया है। यदि संसार का किसी प्रकार कल्याण हो सकता है तो केवल इसी में कि हम पूँजीवाद का परित्याग कर समाजवाद को अपनावें।

समाजवाद के आदर्श और रीतियाँ

[अध्याय : १०—समाजवाद के उद्देश्य। ११—समाजवादी राष्ट्र का राजनीतिक रूप। १२—समाजवादी राष्ट्र का आर्थिक रूप। १३—समाजवादी राष्ट्र में धर्म, कुटुम्ब, आदि। १४—समाजवाद की रीतियाँ—विकासवाद और क्रांतिवाद।]

अध्याय १०

समाजवाद के उद्देश्य

पूँजीवाद का विवेचन करने के पश्चात् अब हम समाजवाद के उद्देश्य और रीतियों पर आते हैं। इस विषय पर समाजवादियों में बहुत मतभेद है। इन मतभेदों की विवरणात्मक व्याख्या हम समाजवाद के रूपों पर प्रकाश डालते समय करेंगे। यहाँ पर हम केवल उन उद्देश्यों का संक्षेप में वर्णन करेंगे जिनसे शायद अधिकांश समाजवादी सहमत हैं और जो समाजवाद के वास्तविक तथ्य को बताते हैं।

प्रत्येक समाजवादी आदर्शवादी होता है। क्योंकि समाजवाद एक विरोधी आन्दोलन है और समाजवादी वर्तमान सामाजिक संगठन का आलोचक होता है, इसलिये उसे वर्तमान दशा को एक विशेष पैमाने से नापना पड़ता है। यही पैमाना उसका आदर्श होता है। वह वर्तमान स्थिति को अपने आदर्शवाद (क्या हो सकता है? अतएव क्या होना आवश्यक है?) की कसौटी पर जाँचता है, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रयत्न करता है।

समाजवाद का रूप संसार-व्यापी है। इसके दो प्रधान अंग हैं। पहले तो यह आन्दोलन संसार के समस्त व्यवसायिक देशों के राजनीतिक जीवन की प्रगतिशील और शक्तिशाली धारा है। दूसरे, इसका अंतिम उद्देश्य सब देशों के मज़दूरों को संगठित करके समस्त संसार में प्रजातंत्रशासन स्थापित करना है।[1]

---

[1] देखिये Spargo, *Social Democracy Explained.*

पूँजीवाद समस्त देशों के मज़दूरों का शत्रु है। इसीलिये मार्क्स कहते थे कि यदि सब देशों के मज़दूर लोग संगठित होकर पूँजीवाद से युद्ध करें तो सफलता की विशेष आशा की जा सकती है। तभी उन्होंने श्रमी की अंतर्राष्ट्रीय मज़बूती को प्रत्यक्ष बनाने पर बहुत ज़ोर दिया और इसमें अपना समय लगाया। तभी उन्होंने समाजवाद की जन्म-पुकार, कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो, में सब देशों के मज़दूरों को संगठित होने के लिये प्रोत्साहित किया। मार्क्स के इस विचार को क्रियात्मक रूप दे दिया गया है। राष्ट्रीय मज़दूर-संघों के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई है जहाँ सब देशों के मज़दूर मिलकर अपने एकसे अधिकारों को बढ़ाने का उद्योग करते हैं। समाजवाद के नेता भी स्वाभाविक रूप से विश्ववादी होते हैं। लेनिन, जो पक्के समिष्टवादी (communist) थे, पूर्ण रूप से अंतर्राष्ट्रीय संगठन के समर्थक थे। वे केवल रूस के हित के लिये ही नहीं, वरन् अन्य देशों के भले के लिये भी चिंतित रहते थे। वे एक अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक क्रांति की वेदी पर शायद रूस की बलि देने में भी न हिचकते।[२] इस प्रकार सब देशों के मज़दूरों का संगठन वास्तव में एक ऐसे युद्ध के लिये होता है जो सारे भावी अंतर्राष्ट्रीय युद्धों का अंत कर सके।

समाजवाद के अंतर्राष्ट्रीय होने का यह अर्थ नहीं कि यह राष्ट्रीय सिद्धान्त या देश-प्रेम के विरुद्ध है। वैंवेल ने डच अराजकवादी नेता डॉमेला-न्यूवेन ह्यूज के साथ एक वाद-विवाद में स्पष्ट शब्दों में कहा था कि यदि जर्मन पर रूस हमला करे तो जर्मनी का समाजवादी राष्ट्र अपनी समस्त शक्ति संगठन करके शत्रुओं से सामना करेगा। क्योंकि उनका आदर्श अंतर्राष्ट्रीय है, इसका यह अर्थ नहीं कि समाजवादियों को स्वदेश-विरोधी होना चाहिये। एक उचित तथा विचारयुक्त देश प्रेम जो दूसरे देशों से घृणा तथा द्वेष करना नहीं

---

[२] Bertrand Russel, *Bolshevism.*

सिखाता, विस्तृत अंतर्राष्ट्रीय प्रेम के आदर्श के विरुद्ध उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार कि एक प्राणी का दूसरे प्राणी के साथ प्रेम। समाजवाद का आदर्श है कि संसार के सब देश एक दूसरे के भले के लिये काम करते हुये भ्रातृभाव रक्खें।

अतर्राष्ट्रीयता का स्वाभाविक परिमाण अंतर्राष्ट्रीय शांति है जो समाजवाद का दूसरा आदर्श है। प्रोफेसर थियोडोर मॉम्सन सामाजिक लोक-तंत्रवाद को जर्मनी के साम्राज्य का सबसे बड़ा शांति संघ कहते थे। सब देशों के समाजवादी दल सैनिक शक्ति द्वारा दूसरों के अधिकार को छीनने की प्रथा के विरोधी, और संसार की समस्त जातियों में मैत्री भाव बढ़ाने के वचन-बद्ध हैं।

समाजवाद में युद्धों का केवल इसलिये बहिष्कार नहीं हो जाता कि वे संसार की शांति, विकास और उन्नति के लिये हानिकारक है, वरन् समाजवाद में उनके होने की दशाएँ ही नष्ट हो जाती हैं। पूँजीपति अपने लाभ के लिये अंतर्राष्ट्रीय युद्धों में भाग लेते हैं। एक देश के शोषक यह ताकते रहते हैं कि किस देश के मज़दूर सबसे अधिक अतिरिक्तार्घ उत्पन्न कर रहे हैं, और उस देश पर विजय प्राप्त करने की सम्भावना है अथवा नहीं। यदि हैं, तो वह उसको धर दबाते हैं। पर समाजवाद के अंतर्गत शोषक वर्ग नष्ट हो जाता है, इसलिये शोषण की लालसा का भी अंत हो जाता है। इसके अतिरिक्त, युद्ध का भार ग़रीबों पर ही पड़ता है। सर्वहारावर्ग ही मनुष्य और कर के रूप में युद्ध का दण्ड देते हैं और पूँजीपति विजय प्राप्त करके धन प्राप्त करते हैं। ऐसी दशाओं में, समाजवाद की व्यवस्था में, अंतर्राष्ट्रीय युद्ध का बहिष्कार होना नैतिक विचारों का परिणाम ही नहीं, वरन् आदर्शवादी अवस्थाओं के मनन का भी परिणाम है।

अंतर्राष्ट्रीय शांति से राष्ट्रीय शांति का स्थापन कुछ कम महत्वशाली नहीं। यह शांति राष्ट्र के अंतर्गत सामाजिक संघर्ष का अंत कर देने से होती है। धनी और निर्धन में, शोषक और शोषित में, पूँजीपतियों

और मज़दूरों में सर्वदा भीषण प्रतिद्वंद्विता चलती रहती है। इस वर्गीकरण का आधार उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार होना होता है। अधिकारी वर्ग पूँजीपति या शोषक वर्ग कहलाता है और अनाधिकारी वर्ग, सर्वहारा या शोषित वर्ग के नाम से पुकारा जाता है। समाजवाद उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीकरण कर देता है। इस प्रकार वर्गों का लोप हो जाता है, और सामाजिक शांति स्थापित हो जाती है। वास्तव में सिसरो (Cicero) के लक्ष्य को, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का हित-साधन और समस्त मनुष्यों का हित साधन एक ही होना चाहिये, समाजवाद ही क्रियात्मक रूप दे सकता है। इस प्रकार संगठित समाजवादी आंदोलन केवल उन्हीं शक्तियों के एकत्रीकरण को लक्ष्य में नहीं रखता जो कि अंतर्राष्ट्रीय युद्धों की इतिश्री कर देती हैं वरन् इसके अतिरिक्त उसका उद्देश्य ऐसी शक्तियों को संगठित करना भी है जो अंततोगत्वा जातियों के सामाजिक युद्धों का भी अंत कर दे।

समाजवाद उन्नति के अवसरों में समानता करना चाहता है, और व्यक्तित्व (Individuality) को नष्ट नहीं करना चाहता। इसके विपरीत, वह व्यष्टिवाद का क़ायल है। समाजवादी समाज में ही व्यष्टिवाद का पूर्ण विकास सम्भव है। जब तक कि व्यक्ति सभ्यता के साधनों की इच्छानुकूल कुल वस्तुएँ प्राप्त नहीं कर सकता, तब तक पूर्ण व्यक्तित्व की स्थापना हो ही नहीं सकती। इसलिये समाजवाद और व्यष्टिवाद के विरोधी होने की धारणा असत्य है।

हर्बर्ट स्पैंसर ने सब से पहले इस विरोध पर प्रकाश डाला; उन्होंने कहा कि समाजवाद मनुष्यों को दास बना देगा और उनकी स्वतंत्रता का अपहरण कर लेगा।[3] पर जॉन स्टुअर्ट मिल ने, जो समाजवादी नहीं थे, स्पैंसर की त्रुटि की ओर संकेत किया और बताया कि यही

---

[3] देखिये Herbert Spencer, *Man. Versus State*

मत बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण है। समाजवाद में मनुष्यों को ज़बर्दस्ती अनुचित समय तक साथ-साथ नहीं रक्खा जावेगा, और न वे अपने आय के व्यय करने या उस बड़े आराम के समय को जो सम्भवतः वे प्राप्त कर सकेंगे, अपनी इच्छानुसार व्यतीत करने से रोके जावेंगे। उन्हें एक ही व्यवसाय अथवा एक ही स्थान के बन्धन में भी नहीं बाँधा जायगा। वास्तव में यह विरोध वर्तमान सामाजिक प्रणाली में ही अधिक दीख पड़ता है। आजकल अधिकतर मज़दूर स्वतंत्र नहीं होते और व्यवहारिक रूप से दूसरों की इच्छा पर इसने आश्रित रहते हैं कि उन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता की छाया तक नहीं मिलती।

यह भ्रान्त भावना समाजवाद और समष्टिवाद (Communism) को ठीक-ठीक न समझ सकने का परिणाम है। समष्टिवाद में सर्वहारावर्ग की अधिनायकशाही स्थापित होने पर व्यष्टिवाद में अवश्य ही थोड़ा बहुत हस्तक्षेप किया जायगा, पर समाजवाद के अन्य रूपों में ऐसा नहीं होगा।

यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि व्यष्टिवाद का यह आशय नहीं कि व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता दे देनी चाहिये, चाहे उनके कार्यों का प्रभाव दूसरों पर अच्छा पड़े अथवा बुरा। व्यक्ति और राष्ट्र के एक हित वाले सिद्धान्त को तो अब कोई नहीं मानता। पूँजीवाद में भी राष्ट्र जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करने का भार अपने ऊपर ले लेता है, क़ानून बनाता है और बिजली और पानी प्रदान करने का प्रबंध करता है। इसलिये यदि समाजवाद में राष्ट्र उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीकरण करे, क्योंकि ऐसा करना समाज के लिये हितकर है तो इसमें शिकायत के लिये कौन सा स्थान है और इसमें व्यष्टिवाद पर कौन-सा कुठाराघात होता है?

अध्याय ११

समाजवादी राष्ट्र का राजनीतिक रूप

समाजवाद के मूल सिद्धान्त और आदर्शों को समझने के पश्चात् अब हम समाजवाद में राष्ट्र के रूप और कार्य-प्रणाली की विवेचना करेंगे। समाजवादी इस विषय में कोई विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं देते, क्योंकि प्रत्येक युग अपनी समस्याओं को, उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल, स्वयं ही ठीक-ठीक सिद्ध कर सकता है। एक युग के मनुष्यों का आगामी युग के मनुष्यों की आवश्यकताओं का वर्णन करना और उनकी समस्याओं को सुलझाना अनाधिकार चेष्टा है। यह ख़तरे से भी ख़ाली नहीं क्योंकि उसके अक्रियात्मक होने की बहुत सम्भावना है। जर्मन सामाजिक लोकतंत्रवाद के एक माननीय नेता विल्हेम लेबनेट से एक बार किसी ने समाजवाद के राष्ट्र का विस्तृत वर्णन करने का निवेदन किया। इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि हमारे दल ने मज़दूरों को भविष्य के राष्ट्र के विषय में कभी कुछ नहीं बताया। यदि कोई कहे कि "हमारे उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात्, मज़दूरों की दासता और शोषण का अंत हो जाने के बाद, जिस राष्ट्र की स्थापना होगी, मैं उसका चित्र खींच सकता हूँ", तो बहुत अच्छा है। विचार स्वतंत्र होते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार समाजवादी राष्ट्र की कल्पना कर सकता है। जो कोई उसमें विश्वास करना चाहे, वह करे; जो न करना चाहे, वह न करे। ये चित्र केवल स्वप्न हैं। सामाजिक लोकतंत्रवाद ने उन्हें किसी अन्य रूप में नहीं देखा।

इस कथन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि समाजवादी भविष्य के विषय में कुछ भी निर्धारण नहीं कर सकते। हम अगले परिच्छेदों में जितना भी इस विषय पर अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है, उतना बताने की चेष्टा करेंगे। हमारे अध्ययन का यह खंड तीन भागों में विभक्त हो सकता है—(१) समाजवादी राष्ट्र का राजनीतिक रूप, (२) समाजवादी राष्ट्र का आर्थिक रूप, और (३) समाजवादी राष्ट्र में धर्म, कुटुम्ब इत्यादि। पहले हम राजनीतिक पहलू पर विचार करेंगे।

समाजवादी सरकार को शोषण का साधन मानते हैं। कम्यूनिस्ट मैनिफैस्टो में सरकार को "वर्गीय विरोधों की उत्पत्ति तथा प्रदर्शन" और "वर्गीय शासन का साधन" कहकर पुकारा गया है। पूँजीपति-वर्ग और सर्वहारावर्ग के संघों में सरकार सदैव पूँजीपतियों का पक्ष लेती है और मज़दूरों के आन्दोलन को दबाने का प्रयत्न करती है। इसलिए समाजवादी सरकार और पूँजीपतियों को एक ही चीज़ समझते हैं और दोनों को सर्वहारावर्ग का शत्रु मानते हैं। वे दोनों का ही स्वाभाविक रूप से अंत कर देना चाहते हैं। कम से कम अराजकतावादी तो सरकार को जड़ से उखाड़ कर फेंक देने को लालायित हैं।

पर अधिकांश समाजवादी समझते हैं कि राष्ट्र के बहुत से कार्य जैसे न्याय, संरक्षण और औद्योगिक कार्य अपरिहार्य हैं और सरकार का अस्तित्व अनिवार्य बना देते हैं। इसलिये वे सरकार को नष्ट नहीं करना चाहते बल्कि उस पर अपना अधिकार करना चाहते हैं जिससे कि वे उसका समस्त समाज के हित के लिये प्रयोग कर सकें, और निर्धनों का शोषण रोक सकें।

वर्तमान समाजवादियों का सरकार के सम्बन्ध में यही विचार है। वास्तव में, सरकार की क्षय के पक्ष करने वाले समाजवादी (मार्क्सवादी) 'सरकार' शब्द का संकीर्ण अर्थ में प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ,

एंगिल्स लिखते हैं कि 'सर्वप्रथम कार्य, जिसके द्वारा सरकार अपने को वास्तव में समाज की प्रतिनिधि संस्था बनाती है—समाज के नाम में उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार कर लेना है। यही उसका अंतिम स्वतंत्र कार्य भी है। कुछ ही समय के पश्चात्, सामाजिक जीवन में राष्ट्र का हस्तक्षेप अनावश्यक हो जाता है, और तब सरकार स्वयं ही नष्ट हो जाती है। तब मनुष्यों के शासन का स्थान वस्तुओं और उत्पत्ति की क्रियाओं का प्रबन्ध ले लेता है। सरकार को नष्ट नहीं किया जाता, वह स्वयं ही लुप्त हो जाती है।' इसी विषय पर वैवेल लिखते हैं कि वर्गीय शासन पर अवलम्बित समाज के लिये राष्ट्र का संगठन नितान्त आवश्यक है। जिस क्षण व्यक्तिगत सम्पत्ति के नष्ट होने से वर्गीय शासन नष्ट हो जाता है, उसी क्षण राष्ट्र के अस्तित्व की न तो कोई आवश्यकता ही रह जाती है और न आशा ही। लेकिन वे इसके आगे लिखते हैं कि 'ऐसा शासन प्रबन्ध आवश्यक है जिसके अंतर्गत सभी सामाजिक कार्य आ जावें। हमारी म्यूनिसिपलटियाँ इसका एक बहुत प्रभावशाली आधार है। स्थानीय शासन-प्रबन्ध (Local administraion) के ऊपर केन्द्रीय शासन-प्रबन्ध होना ज़रूरी है जिसका उद्देश्य शासन करना नहीं, वरन् प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्त कार्यों को संचालित करना होना चाहिये।'

इन उद्धरणों से दो बातें मालूम पड़ती हैं। एक तो यह कि ये महापुरुष राष्ट्र शब्द का प्रयोग प्रचलित अर्थ में नहीं, वरन् संकीर्ण अर्थ में कर रहे हैं; और दूसरी यह कि इसी अर्थ में, राष्ट्र के अंत हो जाने के पश्चात् प्रबन्धकारिणी समिति का होना आवश्य होगा। यह बहुत साधारण भावना है। बिना किसी संस्था के प्रबन्ध हो ही कैसे सकता है? इसलिये प्रचलित भाषा में, मार्क्सवादियों के कथनानुसार, राष्ट्र की सत्ता तो क़ायम रहेगी, पर उसके रूप तथा कार्यों में अवश्य परिवर्तन हो जायगा।

समाजवाद में राष्ट्र का लोकतंत्र (Democratic) रूप होगा। समाज के सब सदस्यों के हित की बातों में सभी का मत लेना चाहिये। बिना लोकतंत्रवाद के समाजवादी राष्ट्र का होना असम्भव है। फिर वर्तमान काल में लोकतंत्रवाद की ओर हर एक का विशेष झुकाव है। इस झुकाव को व्यक्तिगत सम्पत्ति रोकती है। जब व्यक्तिगत सम्पत्ति नष्ट हो जायगी, तब इसके मार्ग से बाधा हट जायगी और लोकतंत्रवाद के स्थापित होने में विलम्ब न होगा।

समाजवादी लोकतंत्रवाद में केन्द्रीकरण के विनाश का अंश बहुत शक्तिशाली होगा। आजकल केन्द्रीय शासन और उसकी शाखा उच्च वर्गीय शासन (bureaucracy) के विरुद्ध विचार धारा फैल गई है। मनुष्यों ने अपनी इच्छानुसार अनेक छोटे-छोटे संघ स्थापित कर लिये हैं, जिनके उद्देश्य विभिन्न हैं, जो राष्ट्र को भिन्न भिन्न प्रकार से विभाजित कर देते हैं, उसके अनेक कार्यों को अपने हाथ में ले रहे हैं और नागरिकों के हित के अनेकों कार्य कर रहे हैं। इन संघों का राजनीतिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कोई विशेष महत्व नहीं; पर कम से कम यह स्पष्ट है कि व्यक्ति विशेष की इच्छा के प्रकटीकरण का अत्यंत प्रभावशाली साधन, मानवीय साहचर्य की ताज़गी और मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की योग्यता, अब राष्ट्र में नहीं, वरन् छोटे-छोटे भिन्न-भिन्न प्रकार के संघों में है।

समाजवादी राष्ट्र की सहायता से नहीं, वरन् इन्हीं संघों के द्वारा अपना उद्देश्य और कार्य क्रम पूरा करना चाहते हैं। राष्ट्र इतना बड़ा है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा प्रकट नहीं कर सकता। समाज में कार्यशील शक्तियाँ इतनी विस्तृत हैं, सरकार का ढाँचा इतना टेढ़ा-मेढ़ा तथा बढ़ा-चढ़ा है, घटनाओं को निश्चित करनेवाले कारण इतने कठिन हैं कि उन पर अधिकार करना तो जहाँ-तहाँ रहा, उनको समझना ही दुस्तर है। इस प्रकार के कुंचित सामाजिक संगठन के सामने व्यक्ति निस्सहाय तथा शक्तिहीन-सा मालूम पड़ता है। मनुष्यों

में यह विश्वास होने लगता है कि वे शक्तिहीन हैं और उनकी इच्छाओं का होना या न होना समाज के विकास पर कोई प्रभाव नहीं डालता। इसलिये यदि सामाजिक कार्यों में मनुष्य का विश्वास पुनः जाग्रत किया जाय, तो राष्ट्र को विभक्त करके उसके कार्यों को बाँट देना चाहिये। एक व्यक्ति को बहुत से संघों का सदस्य होना चाहिये जिनको उत्पत्ति सम्बन्धी और स्थानीय शासन सम्बन्धी कार्यकारिणी शक्ति हो, जिससे वह यह अनुभव कर सके कि समाज उसके लिये है और समाज की घटनाएँ तथा विधान उसके हाथ में हैं। अराजकतावादी का भी यही उद्देश्य रहता है; तभी तो वह कहता है कि समाज छोटे-छोटे संघों के उत्थित ढंग (hierarchy) के आधार पर संगठित करना चाहिये; यह साधारण संघ से प्रारम्भ होकर कठिन की ओर क्रियाशील होना चाहिये।

पर ऐसे समाज में वर्तमान राष्ट्र की तरह एक केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी, क्योंकि बहुत सी समस्याएँ राष्ट्रीय आधार पर हल की जाती हैं। इसके अतिरिक्त एक मनुष्य के कार्य अथवा एक बस्ती के कार्य अन्य व्यक्तियों अथवा बस्तियों को प्रभावित करते हैं, और यह निश्चित करने के लिये कि यह दूसरों के लिये हानिकार नहीं है, एक केन्द्रीय संस्था आवश्यक प्रतीत होती है।

समाजवादी राष्ट्र के कार्यों में बहुत परिवर्तन होंगे। राष्ट्र के जो कम से कम कार्य हैं, जैसे शांति स्थापित करना, क़ानून के उल्लङ्घन करनेवालों दंड को देना और अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का संचालन करना आदि, उनको तो समाजवादी राष्ट्र पूँजीवादी राष्ट्र की ही तरह संचालित करेगा। पर इनके अतिरिक्त पूँजीवादी राष्ट्र का उद्देश्य केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करना है। समाजवाद के अंतर्गत व्यक्तिगत सम्पत्ति केवल नाममात्र को रह जायगी। इसलिये उसकी रक्षा करना राष्ट्र का कोई प्रपुख कार्य नहीं रहेगा। उस समय राष्ट्र के दो मुख्य कार्य होंगे। एक तो समष्टि की स्वतंत्रता के साथ-साथ व्यक्तिगत

स्वतंत्रता को क़ायम रखना—दूसरे शब्दों में, व्यक्तियों तथा व्यक्तियों के समूहों की शोषण से रक्षा; और दूसरे, राष्ट्रीय सम्पत्ति का शासन और विधान। लोकतंवादी राष्ट्र सामज का ऐसा आसान संगठन है, जो अपने सदस्यों के भले के लिये सामूहिक रूप से कार्य करता है।

समाजवाद के अंतर्गत इस प्रकार जो राष्ट्र बनेंगे वे एक दूसरे के साथ भाई-भाई की तरह शांतिपूर्वक रहेंगे। अधिकतर अंतर्राष्ट्रीय युद्ध बाज़ारों पर अधिकार करने के उद्देश्य से किये जाते हैं। समाजवाद इस संघर्ष की जड़ ही उखाड़ देता है, इसलिये वह युद्धों का होना असम्भव बना देता है। जातियों का पूर्णरूप से एकाकीकरण होना तो कठिन है क्योंकि भाषा, संस्कृति, आर्थिक तथा सामाजिक अवस्थाओं का अंतर मिटाया नहीं जा सकता। ऐसी दशा में कभी-कभी एक-दूसरे में भेद भी उत्पन्न हो जायँगे जिनका फैसला करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय-समझौता-संघ की स्थापना की जायगी। पर इस संघ का काम बहुत थोड़ा होगा। समाजवाद का अर्थ राष्ट्र में लोक-तंत्रवाद का और संसार में अंतर्राष्ट्रीय-संघ का स्थापित होना है।

अध्याय १२

समाजवादी राष्ट्र का आर्थिक रूप

समाजवाद का केन्द्रित लक्ष्य शोषण का अंत करना है। इस कारण वह शोषण के साधनों का अंत कर देना चाहता है। उत्पत्ति और विनिमय के ऐसे साधनों का, जिनके द्वारा शोषण किया जाता है, राष्ट्रीकरण कर देना उसका प्रमुख राष्ट्रीय कार्य है।

कुछ विद्वान् यह लिखने के आदी हो गये हैं कि समाजवादी राष्ट्र उत्पत्ति और विनिमय के कुल साधनों का राष्ट्रीकरण करना चाहता है। इस कथन के अनुसार उपभोग के माल के अतिरिक्त और कहीं भी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहेगी। कुछ असमाजवादी तो यहाँ तक कह डालते हैं कि समाजवादी उपभोग के साधनों का भी राष्ट्रीकरण कर देंगे। परन्तु यह कहना युक्ति-युक्त नहीं। इन समस्त साधनों का राष्ट्रीकरण कर देने की बात हास्यास्पद तथा अनुपयुक्त है। भला ऐसा कौन सा देश होगा जिसके मनुष्य साग-भाजी लाने वाली टोकरियां और तरकारी काटने वाले चाकुओं का राष्ट्रीकरण करने के लिये क्रांति या आन्दोलन करें? समाजवाद उत्पत्ति के प्रमुख साधनों का राष्ट्रीकरण करेगा जो शोषण के साधन हैं। यदि कोई वस्तु शोषण में सहायक नहीं है, तो वह व्यक्तियों के अधिकार में ही रहेगी। मार्क्स और एंगिल्स लिखते हैं कि "तुम यह देखकर कि हमारा विचार व्यक्तिगत सम्पत्ति को नष्ट कर देना है, भयभीत होते हो। परन्तु तुम्हारे वर्तमान समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति जनसंख्या के लगभग ९/१० भाग से नष्ट कर ही दी गई है। कुछ मनुष्यों के हाथ में इसका अधिकार होने का तात्पर्य यह है कि शेष ९/१० जन-संख्या के लिये इसका कोई अस्तित्व नहीं है। हम

सम्पत्ति के इस रूप को मिटाना चाहते हैं जिसके अस्तित्व की प्रधान शर्त एक बहुसंख्यक जनता को सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकारों से वंचित रखना है। इसलिये तुम हमें बुरा-भला कहते हो।" समाजवाद किसी व्यक्ति को समाज की उत्पत्ति के उचित प्रयोग से वंचित नहीं रखता। जो कुछ यह करता है वह केवल यही है कि यह व्यक्ति-विशेष को, दूसरों को उनके अधिकारों से वंचित करके, उनके परिश्रम से स्वयं अनुचित लाभ उठाने से रोकता है।

एक दूसरी भ्रान्त-भावना यह फैली हुई है कि समाजवादी राष्ट्र की उत्पत्ति के कुल साधनों पर अधिकार करके व्यक्तिगत व्यवसाय (Private industry) का नाम-निशान मिटा देना चाहते हैं। छोटे से छोटे काम से लेकर बड़ी से बड़ी चीज़ सब सरकार पैदा करेगी। पर यह बात भी एकदम सत्य नहीं। व्यक्तिगत व्यवसाय का एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ उसे अद्वितीय सफलता प्राप्त होती है और जहाँ बड़े पैमाने की मिलें और कारख़ाने नहीं टिक सकते। ऐसे स्थान पर व्यक्तिगत व्यवसाय ही सर्व श्रेष्ठ है, और यहाँ समाजवादी सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी। उदाहरणार्थ, अधिक मूल्यवाली सिल्क की साड़ी अथवा अन्य भोग-विलास सम्बन्धी पदार्थ जो व्यक्ति-विशेष की रुचि के अनुकूल हैं कारख़ानों में उतने सस्ते पैदा नहीं हो सकते जितने सस्ते कि जुलाहे आदि बना लेते हैं। मान लीजिये कि समाजवादी राष्ट्र में एक आदमी अपनी टोपियों को जोड़-जोड़ कर एक पतलून बनाना चाहता है। ऐसा काम राष्ट्रीय कारख़ाने तो करते नहीं। इसलिये या तो वह उसको स्वयं बनाये या किसी अन्य व्यक्ति को रुपया देकर बनवाये। भला समाजवादी सरकार को इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? बनवाने वाला शोषण कर ही नहीं सकता क्योंकि यदि बनानेवाला यह समझता है कि उसे इस काम में कम मज़दूरी मिल रही है, तो वह सरकारी कारख़ानों में जाकर काम करेगा। यदि वह .खुशी से कम मज़दूरी ले या उसे बनवाने वाला अधिक मज़दूरी दे, तो

सरकार को बीच में पड़ने का कोई कारण नहीं; क्योंकि यहाँ शोषण का कोई प्रश्न ही नहीं।

व्यक्तिगत व्यवसाय तो समाजवादी राष्ट्र में उन्नतिशील होंगे ही, साथ ही साथ कुछ ऐसे व्यवसाय भी संचालित किये जायँगे जो इच्छा-नुसार सहकारिता के आधार पर चलाये जा सकते हैं और इस रूप में अन्य रूपों से अच्छे होते हैं। इस प्रकार समाजवाद के अंतर्गत तीन प्रकार के व्यवसाय होंगे :—

(१) सरकार द्वारा चलाये जाने वाले व्यवसाय;

(२) इच्छानुसार सहकारिता द्वारा संचालित किये जाने वाले व्यवसाय; तथा

(३) व्यक्तिगत व्यवसाय।

अब हम वितरण के प्रश्न पर विचार करेंगे। समाजवादी राष्ट्र में भूमि, पूँजी, श्रमी और संगठन के सहयोग से जो सम्पत्ति पैदा होगी, वह कैसे बाँटी जाय ? इस सम्पत्ति के भागाधिकारी मुख्यतः मज़दूर ही होंगे। क्योंकि समाजवादी राष्ट्र में सरकारी व्यवसाय ही सब से अधिक व्यापक होंगे। इस पहलू का समाजवादियों ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। वितरण तीन मुख्य रीतियों में किया जा सकता है : (१) सब व्यक्तियों की कार्य-तत्परता तथा आवश्यकताओं पर ध्यान न देकर, सामान विभाजन; (२) मनुष्यों की आवश्यकताओं के अनुसार वितरण और (३) उनके कार्य के अनुसार वितरण।

समान विभाजन वाले सिद्धान्त का कोई भी आधुनिक समाजवादी सम्प्रदाय समर्थक नहीं। हाँ, कैबेट (Cabet) ने अवश्य इस सिद्धान्त का बहुत ज़ोरदार शब्दों में समर्थन किया था। उन्होंने लिखा था कि उन लोगों को दंड देना किसी प्रकार से न्याय-संगत नहीं होगा जिसको भाग्य ने ठीक-ठीक सुविधायें प्रदान नहीं की हैं। इसलिये उनके भाग को दूसरे मनुष्यों को देना जो अधिक चतुर तथा योग्य हैं, उचित नहीं। इसीलिये उनका मत है कि सबको समान भाग

मिलना चाहिये। इस विश्वास को नैतिक अथवा चारित्रिक दृष्टिकोण से भले ही उचित कहा जा सके, पर यह क्रियात्मक नहीं हो सकता, क्योंकि यह मनुष्यों को काम करने के लिये कोई आकर्षण नहीं प्रदान करता।

आवश्यकताओं के अनुसार वितरण समष्टिवादियों का सिद्धान्त है। उनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम के अनुसार धन देने के स्थान पर उसकी आवश्यकता के अनुसार धन देना अधिक युक्तियुक्त होगा। पर अन्य समाजवादी इसे दो कारणों से अक्रियात्मक समझते हैं। पहले तो यह काम करने के लिये कोई आकर्षण नहीं प्रदान कर सकता जैसा कि पहले सिद्धान्त के विषय में भी सत्य है। दूसरे, मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी अनिश्चित, विभिन्न तथा परिवर्तनशील होती हैं कि उनके आधार पर कोई निश्चित वितरण-प्रणाली नहीं बनाई जा सकती। इसलिये कार्य के अनुसार धन-वितरण करना ही अधिकांश समाजवादियों का सिद्धान्त है।

जहाँ तक मेरा विचार है ये दो पिछले सिद्धान्त विरोधात्मक नहीं बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। समाजवाद की स्थापना होने पर सब से पहले कार्य के अनुसार वितरण करना पड़ेगा। उनके पश्चात् समय की प्रगति के साथ-साथ जब मनुष्यों की आध्यात्मिक उन्नति होगी, जब उनमें त्याग की भावना प्रौढ़ होगी, तब आवश्यकता के अनुसार वितरण का सिद्धान्त आसानी से लागू हो सकेगा। यह समष्टिवाद के विकास का सोपान होगा।

समाजवाद में बेकारी का अंत हो जायगा। 'समाजवादी राज इस बात का जिम्मा लेगा कि हर स्वस्थ व्यक्ति को काम दिया जायगा, कोई बेकारी के कारण नंगा भूखा नहीं रहने पायेगा। जब तक काम नहीं दिया जाता तब तक उसका भरण-पोषण सरकारी कोष से होगा। पर काम देने का तात्पर्य वैसा काम देना नहीं है जैसा हमारे देश में कभी-कभी कहत के ज़माने में दिया जाता है। काम इतना लिया जायगा

जितना स्वास्थ्यकर हो। यह भी ध्यान में रखना होगा कि देश के सब लोगों को काम देना है, अतः किसी एक आदमी से बहुत काम कराने का फल यह होगा कि दूसरों की बारी न आयेगी। काम अधिक न होने से सब के पास पर्याप्त अवकाश रहेगा।"[1] अवकाश व्यतीत करने के लिये सरकार शिक्षा, अच्छे-अच्छे भाषण, थिएटर, पार्क, पुस्तकालय और चित्रागार आदि का प्रबन्ध करेगी।

समाजवादी राष्ट्र में अरुचिकर और भयानक काम कौन करेगा? उदाहरणार्थ मेहतर का काम किसे दिया जायगा? ऐसे प्रश्न बहुधा किये जाते हैं और काल्पनिक समाजवादियों ने इस समस्या को सुलझाने के लिये बड़े-बड़े नुस्खे बताए थे। परन्तु आधुनिक समय में यह कोई कठिन समस्या नहीं होनी चाहिये। समाजवादी कहते हैं कि यदि हम वैज्ञानिकों को ऐसी मशीनों खोजने के लिये संलग्न करें और सहायता दें जो गंदा काम कर सकें, तो ऐसी मशीनो के आविष्कार होने में देर न लगेगी। पहले इंगलैंड में कारख़ानों की ऊँची-ऊँची चिमनियों को साफ़ करने के लिये छोटे-छोटे लड़के-लड़कियाँ नियुक्त किये जाते थे। यह काम बहुत गंदा और भयानक था। इसलिये इसके विरुद्ध आन्दोलन हुआ और सरकार को यह प्रथा रोकने के लिये क़ानून बनाने पर बाध्य होना पड़ा। शीघ्र ही इस काम को करने के लिये मशीनों का आविष्कार हुआ। इस प्रकार संसार के अत्यन्त गंदे, भद्दे और भयानक काम साफ़-सुथरे और सुरक्षित बनाये जा सकते हैं, बशर्ते कि जाति की सृजनात्मक प्रतिभा को ऐसा करने के लिये प्रोत्साहित किया जाय।

बहुत से लोगों को भ्रांति है कि समाजवाद में मुद्रा का प्रयोग बन्द हो जायगा; उसके स्थान पर श्रमी के चैक प्रयुक्त होने लगेंगे। ऐसा करने या न करने के विषय में समाजवाद मौन है, क्योंकि यह

---

[1] श्री सम्पूर्णानन्द, *समाजवाद*, पृष्ठ २५१-२५२

समाजवाद का कोई सिद्धान्त नहीं। इस समस्या का हल करना तो उपयोगिता पर निर्भर है। जो वस्तु विनिमय के माध्यम होने का कार्य सबसे अच्छी भाँति पूरी कर सकती है, वही मुद्रा हो जायगी। मुद्रा चाहे सोने की हो, या चाँदी की हो या कागज़ की हो। स्वयं पूँजीवाद के ही अंतर्गत आजकल स्वर्ण की सत्ता उठ-सी रही है। इसके स्थान पर कागज़ी-मुद्रा प्रचलित हो चली है। मुद्रा का प्रश्न उपयोगिता का प्रश्न है, सिद्धान्त का नहीं। अतएव इससे समाजवाद का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं।

इस अध्याय को समाप्त करने के पूर्व हम मार्क्स और एँगिल्स का कम्यूनिस्ट मैनोफैस्टो में बताया हुआ सुधार सम्बन्धी कार्य-क्रम देना आवश्यक समझते हैं जिससे समाजवादी राष्ट्र का ठीक-ठीक ज्ञान हो सकेगा :—

(१) भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंत करना और सब लगान को समाज के कामों में लगाना।

(२) एक भारी वृद्धिशील आय-कर का लगाना।

(३) विरासत (Inheritance) के अधिकार का अंत कर देना।

४) निर्वासितों और विद्रोहियों की कुल सम्पत्ति पर सरकारी अधिकार कर लेना।

(५) ऋण का राष्ट्रीकरण करना।

(६) यातायात के साधनों का राष्ट्रीकरण करना।

(७) राष्ट्रीय कारखानों और आर्थिक क्रियाओं को बढ़ाना। ऊसर भूमि आदि को जोतना।

(८) सब मज़दूरों को समान स्वतंत्रता देना।

(९) कृषि का व्यवसायों से संयुक्त कर देना, नगर तथा देहात के बीच का अंतर, जनसंख्या के सम विभाजन की नीति के द्वारा, मिटा देना।

(१०) राष्ट्रीय स्कूलों में सब बच्चों को मुफ्त शिक्षा देना।

अध्याय १३

समाजवादी राष्ट्र में धर्म, कुटुम्ब, आदि

समाजवादी राष्ट्र में धर्म, कुटुम्ब, विवाह आदि की कैसी प्रथा होगी ? इस विषय में लोगों में बहुत सी भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। असमाजवादियों का ख्याल है कि समाजवादी धर्म और धार्मिक विश्वास के विरुद्ध हैं। परन्तु यह धारणा निमूल है। समाजवाद का धर्म इत्यादि से कोई ख़ास प्रयोजन नहीं। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने श्रीमती प्रेमा बहिन को एक पत्र में लिखा था कि "विवाह और स्त्री अथवा पुरुष सम्बन्धी प्रश्नों से समाजवाद का क्या ताल्लुक ? बहुत व्यापक अर्थ में समाजवाद जीवन की एक फ़िलासफ़ी है और इसलिये जीवन के सभी पहलुओं को इसके दायरे में गिना जा सकता है। लेकिन साधारण तौर पर यह एक आर्थिक सिद्धांत माना जाता है। जब मैं समाजवाद की बात कहता हूँ तो मेरा मतलब उस आर्थिक सिद्धांत से होता है। और मेरी राय में धर्म, विवाह अथवा नैतिकता की बातों को इससे सम्बद्ध करना बेहूदा है।" असमाजवादियों की भ्रांति कम्यूनिस्ट मैनिफैस्टो के निम्नलिखित लेख पर आधारित है, "क़ानून, सदाचार और धर्म सामान्य जनता के लिये पूँजीपतियों की रूढ़िगत भावनाएँ हैं जिनके आधार पर उनके बहुत से स्वार्थों की सिद्धि होती हैं।" इस कथन का यह तात्पर्य नहीं की धर्म स्वयं बुरी वस्तु है। यह बहुत उत्तम वस्तु हो सकती है; परन्तु पूँजीवाद समाज ने इसे दूषित कर डाला है। पूँजीपति पुजारियों और धर्म के ठेकेदारों को आर्थिक सहायता देते हैं जिससे वे उस धर्म का प्रचार करें जो उन्हें शोषण करने में सहायता दे। वे मनुष्यों में ये विचार फैलाते हैं कि

उनकी दरिद्रता परमात्मा की देन है, पूँजीपति अत्यंत धर्मात्मा होते हैं क्योंकि वे मंदिर तथा धर्मशालाएँ बनवाते हैं, आदि। यदि वे ऐसा न करें तो उनको आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया जाय। समाजवाद इस दोष को दूर करना चाहता है। वह पुजारियों के पद का अंत कर देना चाहता है। समाजवादी किसी भाँति के धर्म के विरोधी नहीं। जर्मनी के सामाजिक लोकतंत्रवाद ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया था कि धर्म से मनुष्य का व्यक्तिगत सम्बन्ध है जिससे समाज का सामूहिक रूप में कोई विरोध नहीं। समाजवाद का मत धर्म के विचारों से परे है। इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी—सभी धर्म के स्त्री-पुरुष कंधे से कंधा मिलाकर उन्नति के मार्ग की ओर अग्रसर हो सकते हैं।[1]

कुछ मनुष्यों की यह धारणा है कि समाजवादी स्त्रियों और बच्चों का राष्ट्रीकरण कर देंगे अर्थात् ये किसी व्यक्ति-विशेष के अधिकार में नहीं होंगे, वरन् अन्य वस्तुओ की भाँति राष्ट्र की—समस्त व्यक्तियों की—सम्पत्ति होंगे। इसलिये विवाह और कुटुम्ब सम्बन्धी प्रथाओं का अंत हो जायगा। यह विचार पूर्णतः मिथ्या है। विवाह एक उदात्त

---

[1] "समाजवादी धर्म के प्रति क्या करेंगे?—जहाँ तक धर्म का अर्थ मनु-प्रोक्त धृतिक्षमादि दशलक्षणात्मक वस्तु से है वहाँ तक कोई चिन्ता की बात नहीं है। वह तो सचमुच सनातन है। पर वैष्णव शैव शाक्त, इस्लाम, ईसाई मत, हीनयान, आदि सम्प्रदायों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। इनकी क्या गति होगी इस सम्बन्ध में इतना निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि समाजवादी राज में उपासना में बाधा नहीं डाली जायगी। यह भी तय है कि सम्प्रदाय की आड़ में जो अनाचार होते हैं या विशाल सम्पत्तियाँ थोड़े से व्यक्तियों के भोग की सामग्री बन जाती हैं उन पर रोक होगी।"—श्री सम्पूर्णानन्द, *गांधीवाद : समाजवाद*, पृष्ठ १७१-१७०

संस्था है। स्त्री और पुरुष में प्रेम होना प्रकृति का नियम है। विवाह इसी प्रेम का सामाजिक स्वीकरण है। इससे समाजवाद को क्या आपत्ति हो सकती है ? समाजवादी विवाह-प्रणाली के दोषों को दूर करना चाहते हैं। वे बालविवाह का निषेध कर देंगे। दहेज़-प्रथा की इतिश्री हो जायगी। शारीरिक तथा मानसिक दोषों और घातक बीमारियों से पीड़ित व्यक्तियों के विवाह को रोक देंगे। वे तलाक़ की प्रथा को कठिन बना देंगे जिससे नित्य-प्रति तलाक़ न दी जाया करें। वेश्या सहगमन को नियम के विरुद्ध ठहराया जायगा। समाजवादियों का तो विश्वास है कि कुटुम्ब समस्त सामाजिक संस्थाओं में सबसे अधिक स्थायी है, तथा व्यक्ति और समाज पर अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। वे कहते हैं कि पूँजीवाद ने कुटुम्ब से भावनात्मक पर्दा हटा दिया है और पारिवारिक सम्बन्ध को केवल धन की वस्तु बना दिया है। वे आर्थिक अवस्था की उन्नति करके पारिवारिक सम्बन्ध की श्रेष्ठता को फिर से स्थापित करना चाहते हैं।

समाजवादी बच्चो का राष्ट्रीकरण नहीं करना चाहते, और न उन पर माता-पिता का अधिकार ही कम करना चाहते हैं। बच्चे ही पारिवारिक जीवन को आनन्दमय बनाते हैं। उनको छीन लेना पारिवारिक सुख की आत्मा का गला घोंटना है। जहाँ बच्चों के माता-पिता ऐसे कार्य करते हैं जो उनके बच्चों के लिये अहितकर हों, वहाँ समाजवादी राष्ट्र अवश्य हस्तक्षेप करेगा। यह उनके खिलाने-पिलाने तथा शिक्षा देने तक का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर उस समय के लिये ले लेगा जब तक कि वे जीवन में स्थायी रूप से प्रवेश न करें।

अध्याय १४

समाजवाद की रीतियाँ—विकास और क्रान्तिवाद[1]

समाजवादी पूँजीवाद को दोषपूर्ण बताते हैं और इस बात की घोषणा करते हैं कि उसके स्थान पर एक नवीन सामाजिक प्रणाली का स्थापित करना आवश्यक है। भावी सामाजिक प्रणाली कैसी हो, इसका भी वे चित्र देते हैं। इन बातों की हम समीक्षा कर चुके हैं। अब प्रश्न यह है कि समाजवादी राष्ट्र का स्थापन किस प्रकार हो।

इस विषय में समाजवादियों में बहुत मतभेद है कुछ समाजवादी पूँजीवाद के दोषों से इतना उकता गये हैं, और वर्तमान उन्नति की धीमी प्रणाली से इतने असंतुष्ट हैं कि उनकी राय में वर्तमान समाज को पूर्ण रूप से बदल देने पर ही उनके उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। समष्टिवादी, अराजकतवादी, गिल्डसमाजवादी और सिन्डीकैलिस्ट का विश्वास है कि वैधानिक तरीके समाजवाद के स्थापन में कभी भी सफल न हो सकेंगे। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए सीधा मार्ग ही ग्रहण करना पड़ेगा। यदि वैधानिक तरीके सफल भी होंगे तो युगों के पश्चात्। यही परिणाम क्रान्ति से एक दिन में हो सकता है। इसलिए वे क्रांति शीघ्रगामी बनाने के लिये उत्सुक दीख पड़ते हैं। इस प्रकार का समाजवाद 'क्रांतिकारी समाजवाद' कहलाता है।

---

[1] Evolution and Rveolution

नर्म दल के समाजवादी इस बात को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि हमारा आन्दोलन क्रांतिकारी इसलिए नहीं कहलाता कि सामाजिक परिवर्तन के लिए हम क्रांति को आवश्यक समझते हैं, बल्कि इसलिए कि जिस सामाजिक रूपांतर का हम समर्थन करते हैं वह क्रांतिकारी है। इस क्रांति का सम्बन्ध परिवर्तन से है, परिवर्तन की रीति से नहीं; यह कार्य है, कारण नहीं। उनकी राय में शांतिमय सुधार और प्रगतिशील वैधानिक तरीक़े से ही समाजवाद स्थापित हो सकता है। रेमज़े मैक्डानल्ड लिखते हैं कि क्रांति कभी समाजवाद को जन्म नहीं दे सकती, क्योंकि जिस परिवर्तन का समाजवादी समर्थन करते हैं, वह ऐसा है जो समाज के प्रत्येक अंग पर प्रभाव डालेगा। और इसलिए वह अवश्य ही व्यवस्थित प्रक्रिया के रूप में होना चाहिये। सरकार की वाह्य तथा सामान्य वस्तुओं में क्रांति के द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, किसी देश में प्रजान्त्रवाद (Republic) अथवा साम्राज्यवाद का स्थापन, मनुष्यों को शक्ति प्रदान करना अथवा राजनीतिक दासता में रखना आदि बातों का तलवार के द्वारा हो सकता है। परन्तु इस प्रकार का परिवर्तन, जो धन की उत्पत्ति तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय यातायात की प्रक्रियाओं का पुनर्विधान कर सके, जो नौकरी और वेतन के सम्बन्ध को न्यायपूर्वक स्थापित कर सके, और जो उस आर्थिक संगठन को नष्ट कर सके जिसके द्वारा एक ओर तो असंख्य धन उत्पन्न होता है और दूसरी ओर दरिद्रता का साम्राज्य होता है, यह ऐसा परिवर्तन नहीं है जिसकी उन्नति के लिये क्रांति से सहायता मिल सके।[२] इस विचारधारा को विकासवाद (क्रांतिकारी विकासवाद) कहा जाता है।

---

[२] देखिए MacDonald. *The Socialist Movement*, pp. 103-104.

विकासवाद और क्रांतिकारी दल, दोनों ही मार्क्स को अपना गुरु मानते हैं। क्रांतिकारियों के नेता लैनिन का मत था कि मार्क्स कट्टर क्रांतिकारी थे। वे प्रमाण में कम्यूनिस्ट मैनिफैस्टो को उद्धृत करते हैं: "समष्टिवादी अपने विचार तथा उद्देश्यों को छिपाने से घृणा करते हैं: वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उनके लक्ष्य समस्त वर्तमान सामाजिक अवस्थाओं को पलट देने से ही सिद्ध हो सकते हैं। शासक वर्ग साम्यवादी क्रांति से भयभीत हो जाँय।" लेनिन इसे मार्क्स की सच्ची शिक्षा समझते हैं।

विकासवदियों के नेता कार्ल कात्स्की हैं। वे कहते हैं कि मार्क्स प्रारम्भ में क्रांतिकारी ही थे, पर जब उन्होंने सन् १८८४ ई० फ्रांसीसी क्रांति को रोमांचकारी घटनाओं को देखा तो उनका हृदय बहुत द्रवित हुआ और वे विकासवादी सिद्धांत को मानने लगे। वे इस बात पर जोर देने लगे कि समाज स्थिर नहीं वरन् क्रियाशील और विकासात्मक है। आखेट-युग, प्रस्तर-युग, कृषि-युग, सामन्तशाही, शिल्प-युग और फिर व्यवसायवाद अथवा पूँजीवाद का उदय हुआ। इसी प्रकार पूँजीवाद के पश्चात् समाजवाद आवेगा। इस विकास स्वभाविक को क्रियात्मक रूप देने के लिए हमें वैधानिक तरीकों का प्रयोग करना चाहिये। इसीलिए उन्होंने १८५० ई० में साम्यवादी संघ (Commuuist League) की कार्यकारिणी सभा से पद त्याग कर दिया, क्योंकि संघ के सदस्य "क्रांतिकारी विकास" के स्थान पर "क्रांति" शब्द लिखने पर जोर दे रहे थे। कार्ल कात्सकी के अनुसार लैनिन के विचार मार्क्स की शिक्षा के विरुद्ध हैं।

पर सत्य क्या है? मार्क्स विकासवादी थे या क्रांतिकारी? क्या इन दोनों दलों में किसी प्रकार समझौता नहीं हो सकता? बात यह है कि प्रत्येक देश की अवस्था भिन्न हुआ करती है। इसलिए एक देश में विकासवाद का मार्ग ग्रहण करने से समाजवाद स्थापित हो सकता है; पर दूसरे में क्रांति की आवश्यकता हो सकती है। रूस में समाजवाद

का बिना क्रांति के स्थापित होना सम्भव ही नहीं था। यदि समाजवाद किसी प्रकार सफल हो सकता था तो केवल क्रांति के द्वारा, क्योंकि ज़ार के स्वेच्छाचारी शासन में शांतिप्रिय सुधारों के लिए कोई स्थान नहीं था।[3] पर आधुनिक इंगलैंड में, जहाँ पार्लियामेंट-प्रणाली का काफ़ी ज़ोर है और जहाँ अभी मज़दूर सरकार का स्थापन भी हो चुका है, विकासवाद का मार्ग ही उचित है। इसलिए अंग्रेज़ी समाजवादी-फ़ाबियन्स (Fabians)—विकासवादी हैं।

---

[3] देखिये Paul Miliukov, *Bolshevism*.

मार्क्सवाद

समाजवाद के विभिन्न रूप

[अध्याय : १५—समाजवाद के रूप। १६—मार्क्सवाद। १७—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। १८—इतिहास की भौतिक व्याख्या। १९—श्रेणी-युद्ध। २०—मार्क्स का अर्थ सिद्धान्त। २१—अतिरिक्तार्घ। २२—मार्क्स की भविष्य-वाणी।]

अध्याय १५

समाजवाद के रूप

समाजवाद के आदर्श, उद्देश्य और उन्हें क्रियात्मक रूप देने की रीतियों में भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के समाजवादियों में काफ़ी मतभेद है। इसलिये समाजवाद के प्रत्येक रूप का विवेचन किये बिना समाजवादी लेखक का कार्य अधूरा-सा रह जाता है हमारा उद्देश्य इस पुस्तक में आधुनिक समाजवाद पर विचार करना है। इसलिये हमने कार्ल मार्क्स के पूर्व के समाजवादियों को छोड़ दिया है। इनको काल्पनिक समाज-वादी कहते हैं। ये विस्तारपूर्वक एक ऐसे आदर्श जगत का चित्र खींचते थे जो तत्कालीन समाजिक प्रणाली के सभी दोषों से मुक्त हो। उनका भ्रम था कि कुछ समय बाद ही संसार में उनकी बनाई हुई प्रणाली स्थापित हो जायगी। स्पष्टतया उनके विचार कोरी कल्पना थे। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही विद्वान् क्यों न हो, भविष्य के समाज का विस्तृत चित्रण नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करने का उपक्रम करेगा तो यह उसकी अनाधिकार चेष्टा होगी, और उसे सफलता मिलने की सम्भावना शून्य के बराबर होगी। पर काल्पनिक समाजवादियों ने इस प्रकार का कार्य करना ही अपना उद्देश्य समझा। यही नहीं, उनका यह विश्वास कि उनकी प्रणाली शीघ्र स्थापित हो जायगी, बच्चों का-सा है। उन्होंने यह नहीं सोचा कि पूँजीपति अपने अधिकार, लाभ तथा भोग-विलास पर स्वयं ही क्यों कुठाराघात करेंगे। मज़ेदार बात तो यह है कि उन्होंने पूँजीपतियों के हित के विरुद्ध प्रणाली स्थापित करने के लिये उन्हीं से सहायता माँगी! आख़िर जो होना था, वही हुआ। काल्पनिक समाजवाद केवल ऐतिहासिक

विषय रह गया। उसको व्यावहारिक सफलता लगभग नहीं के बराबर मिली।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में काल्पनिक समाजवाद का पतन होने लगा और वैज्ञानिक समाजवाद उन्नत होने लगा। इसके नेता मार्क्स और ऐंगिल्स थे। इस वाद के कट्टर रूप को मार्क्सवाद कहते हैं। वैज्ञानिक समाजवादियों ने भविष्य के राष्ट्र का निरूपण करने की त्रुटि नहीं की। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि ऐसा करना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करना है। पर उन्होंने कहा कि पूँजीवाद का अंत अवश्य होगा, क्योंकि विकास और परिवर्तन संसार के नियम हैं। इतिहास की आर्थिक व्याख्या, श्रेणी-संघर्ष, अर्घ का श्रमी सिद्धान्त और अतिरिक्तार्घ का सिद्धान्त मार्क्सवाद के आधार-स्तम्भ हैं। इनके आधार पर उन्होंने भविष्य को देखा और बताया कि धीरे-धीरे पूँजी का केन्द्रीकरण होता जायगा। इसके फलस्वरूप एक ओर तो मज़दूरों की दरिद्रता बढ़ती जायगी जिससे वे क्रांतिकारी होते जायँगे और दूसरी ओर आर्थिक संकट पूँजीवाद की जड़ मज़बूत कर देंगे और एक दिन उज्ज्वल प्रातःकाल में सर्वहारावर्ग पूँजीपतियों पर विजय प्राप्त कर राष्ट्र की बागडोर अपने हाथ में ले लेगा। मार्क्स और ऐंगिल्स के मुख्य ग्रंथ 'कैपीटल' (Das Capital) और कम्यूनिस मैनिफेस्टो (Communist Manifesto) हैं। पिछली पुस्तक तो समाजवादियों की भगवद्गीता है।

कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो के प्रकाशन के लगभग पैंतीस वर्ष बाद, उदार समाजवाद के एक रूप, फ़ाबियनिज़्म (Fabianism) का इंगलैंड में जन्म हुआ। फ़ाबियंस का दर्शन रिकार्डो के किराये के नियम (Law of Rent) पर स्थिर है, अर्घ के श्रमी-सिद्धान्त पर नहीं। उनका विश्वास है कि सामाजिक परिवर्तन में मज़दूरों का तो हाथ रहेगा ही, पर उसमें मध्यम-वर्ग से भी सहायता मिल सकती है। इसलिये उन्होंने इस वर्ग के सदस्यों में समाजवाद का प्रचार करना

प्रारम्भ किया। उद्योग-धंधों पर संयुक्त-संघों का बढ़ता हुआ अधिकार, वैधानिक तथा कार्यकारिणी सभाओं के पदों पर श्रमा की बढ़ती हुई शक्ति, सहयोगी समितियों, मज़दूर संघों तथा शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलनों की उन्नति तथा सामाजिक जाग्रति का विकास—संक्षेप में राजनीतिक, आर्थिक, और बौद्धिक क्षेत्रों से समाज का लोकतंत्रवाद के अंतर्गत आने का बढ़ता हुआ प्रयास देखकर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब समाजवाद आने वाला है।[1] इस सम्प्रदाय के नेता बर्नार्ड शॉ, सिडनी वैब, श्रीमती बीअट्रिस वेब और श्रीमती ऐनी बेसेंट हैं।

फ़ाबियनवाद के साथ-साथ जर्मनी में बर्न्स्टाइन (Bernstein) के नेतृत्व के सुधारवाद (Revisionism) का जन्म हुआ। बर्न्स्टाइन ने मार्क्स के सभी स्तम्भों की कड़ी आलोचना की, और समाजवाद में सुधार की आवश्यकता बतलाई तथा उसकी रेखाएँ खींची। उन्होंने समाजवाद को एक आंदोलन की दृष्टि से देखा, न कि एक अकाट्य आदर्श की दृष्टि से। बर्न्स्टाइन के इस प्रयत्न की कट्टर मार्क्सवादियों ने निन्दा की। कार्ल-कात्स्की ने मार्क्सवाद की रक्षा करने का बीड़ा उठाया। सन् १८६० ई० से योरोपीय महायुद्ध के समय (१९१४ ई०) तक सारे योरुप में मार्क्सवाद और सुधारवाद का वाद विवाद ख़ूब चला; और यदि संगठन में नहीं तो बौद्धिक और सैद्धांतिक वाद-विवाद में समाजवाद विच्छिन्न-सा हो गया। मार्क्सवादी सिद्धान्त अब भी समाजवाद की घोषित नीति के रूप में रहा पर सुधारवाद दिन प्रति दिन के आंदोलन में ज़ोर पकड़ता गया है।

इसी समय फ्रांस इत्यादि में 'वाम अंग के सुधारवाद' (Revisionism of the Left) का उदय हो रहा था। इसे सिंडीकैलिज़्म (Syndicalism) कहते हैं। सिंडीकैलिज़्म ने मार्क्स के

[1] देखिये Laidler, *A History of Socialist Thought.*

श्रेणी-युद्ध के सिद्धांत में अटूट विश्वास प्रकट किया। इसने एक ऐसे समाज को अपना आदर्श माना जिसमें सब शक्तियाँ और अधिकार मज़दूरों के हाथ में रहें, और मज़दूर तथा व्यवसायिक सभायें समाज के आर्थिक साँचे को ढालें तथा उसका परिचालन करें। वे क्रांतिकारी तरीक़ों में विश्वास करते थे और हड़ताल को समाज में परिवर्तन करने का प्रधान साधन मानते थे।

सिंडीकैलिज़्म और प्राचीन गिल्डों (Guilds) के सिद्धांतों के संयोग से एक और आंदोलन का "गिल्ड समाजवाद" के नाम से जन्म हुआ। गिल्ड समाजवादियों ने कहा कि सिंडीकैलिज़्म का यह आदर्श कि समाज के व्यवसायों पर असली उत्पादकों, अर्थात् मज़दूरों, का अधिकार रहे, ठीक तो है, पर मज़दूरों के साथ उपभोक्ताओं को भी रखना चाहिये। राष्ट्र को शोषण का साधन नष्ट तो कर देना चाहिये, पर उसके स्थान पर समाज के नगर-सम्बन्धी कार्यों का भार लेने के लिये किसी नई संस्था को भी स्थापित करनी चाहिये।

इसके पश्चात् संसार की अपूर्व घटना हुई। योरोपीय महायुद्ध आया। क्रांतियाँ आईं। समष्टिवाद (Communism) रंगमंच पर कौतुक रचने लगा। बोल्शेविज़्म क्रांतिकारी विचार-धारा के एक नवीन तथा गंभीर अंग के रूप में संसार को अपनी ओर आकर्षित करने लगा।

समष्टिवाद के पश्चात् अराजकतावाद का स्थापन होगा, ऐसा कुछ विद्वानों का विश्वास है। हम इस भाग में मार्क्सवाद, उदार समाजवाद, फ़ाबियनिज़्म, सिंडीकैलिज़्म, गिल्ड-समाजवाद और अराजकतावाद का क्रम से वर्णन करेंगे।

अध्याय १६

मार्क्सवाद

कार्ल मार्क्स ही समाजवाद के ऐसे प्रथम लेखक हैं जिनके ग्रंथ वैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। उन्होंने केवल आदर्श जगत् का ही वर्णन नहीं किया, वरन् उन्होंने यह भी बताया कि उस आदर्श जगत् का किन-किन सीढ़ियों द्वारा विकास होगा और क्यों होगा इस विकास का आंतरिक दर्शन क्या है। इस प्रकार उन्होंने वैज्ञानिक समाजवाद को जन्म दिया। उन्हीं के सिद्धान्त इस आंदोलन के बौद्धिक आधार रहे हैं और अभी तक उनका व्यक्तित्व संसार के लाखों मस्तिष्कों पर अधिकार स्थापित किये हुये है।

यहाँ यह बता देना असंगत न होगा कि वैज्ञानिक समाजवाद की नींव डालने में तीन मनुष्यों का नाम लिया जाता है—मार्क्स, रोडबर्टस और लासेली। परन्तु मार्क्स के अतिरिक्त सामान्य रूप से माने गये अन्य लेखकों को हम छोड़ सकते हैं। रोडबर्टस प्रमुख रूप से एक दार्शनिक थे जिन्होंने समाजवादी सिद्धान्त को पारिभाषिक रूप दिया। वह कुछ-कुछ फ़ाबिअन (Fa Iian) थे, रूढ़िवादी अथवा भोग-विलासवादी नहीं। तह तीव्र वाद-विवाद कि मार्क्स ने रोडबर्टस से बहुत से विचार चुराये या नहीं, कुछ मनुष्यों को क्षणिक आनन्द प्रदान करता है। इनमें से तीसरे व्यक्ति लासेली थे जो वास्तविक क्रांतिकारी थे और जो एक भयंकर जीवन के पश्चात् भयंकर मृत्यु के भागी हुये; अंत में अत्यंत प्रसिद्ध हुये; और जार्ज मेरेडिथ ने उन्हें अपने एक उपन्यास का प्रमुख पात्र बना कर अमर कर दिया। परन्तु मार्क्स, पुरातत्व अन्वेषकों को छोड़कर, अन्य मनुष्यों द्वारा वैज्ञानिक

समाजवाद के प्रतिनिधि मान जाते हैं। द्वेष-पूर्ण और अव्यवस्थित राष्ट्र-प्रेम इस बात की ओर संकेत कर सकता है कि मार्क्स ने अंग्रेज समाजवादी सम्प्रदाय से जिसमें हाप्सकिन, थॉम्पसन और ब्रे आदि सम्मिलित थे, बहुत कुछ प्रेरणा ली। रोडबर्टस के अनुयायी शायद यह समझें कि उनके नेता को उचित श्रेय नहीं प्रदान किया गया। परन्तु ये अकिंचित्कर प्रश्न हैं। यह बात निर्विवाद सत्य है कि मार्क्स के पश्चात् समाजवाद पर उनका पूर्ण प्रभाव रहा, और प्रत्येक समाजवादी सम्प्रदाय उनके सिद्धान्तों से प्रेरणा प्राप्त करता है।[1]

वास्तव में, मार्क्सवाद ही इस समय समाजवाद का सब से अधिक प्रभावशाली समाजवाद का रूप है। केवल त्रस्त मज़दूरों के शोषण के नाश करने का दर्शन और साधन ही नहीं, वरन् संसार के विद्वानों को भी इसी संसार की समस्यायों का हल और शांति मिलती है। वेब्लेन (Veblen) का कथन है कि जो समाजवाद आज आशायें तथा भय उत्पन्न करता है वह मार्क्सवादी समाजवाद है। अन्य किसी समाजवादी आन्दोलन से कोई भी भयभीत नहीं होता। सब देशों के समाजवादी मार्क्सवाद की ओर आकर्षित हो रहे हैं। जैसे ही कोई आन्दोलन सार्वजनिक, प्रौढ़ता और सजग अभिप्राय में उन्नति करता है, वैसे ही वह मार्क्सवाद का अधिकाधिक रूप-रंग ग्रहण करता जाता है। मार्क्स का समाजवाद में वही स्थान है जो ऐडम स्मिथ का अर्थशास्त्र में है। उनके पूर्व के महापुरुषों ने उनके लिये मार्ग तैयार किया, और उनके पश्चात् के विद्वान् उन्हें प्रारम्भिक-विन्दु (Starting Point) मानते हैं। कार्ल मार्क्स की मृत्यु हुये लगभग ६० वर्ष व्यतीत होने को आये, परन्तु उनका प्रभाव पहले से अधिक ही होता जाता है। 'आधुनिक समाजवाद मार्क्स हैं, और मार्क्स आधुनिक समाजवाद। इसके अतिरिक्त समाजवाद का और कोई आधार नहीं।'

[1] Gray, *History of Economics Doctrins.*

मार्क्स के विचार और लेखों ने संसार में बहुत प्रभाव डाला है। परन्तु मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के ठीक-ठीक अर्थों में बहुत मतभेद है। इन्हीं विभिन्न अर्थों के अनुसार समाजवादियों के विभिन्न सम्प्रदाय बन गये हैं।

मार्क्सवाद के विषय में एक और बात बता देते आवश्यक है। वह यह है, कि मार्क्स ने जो बात लगभग अर्ध शताब्दी पूर्व लिखी थी, वह आज अक्षरशः सत्य नहीं हो सकती। यह सोचना कि मार्क्स यदि आज जीवित होते तो वे वही बातें लिखते जो उन्होंने सन् १८४८ या १८५६, १८६७ या १८८३ में लिखी थीं, मार्क्स के साथ अन्याय करना है। मार्क्स में परिवर्तन की पहचान बहुत बलवती थी। मार्क्स के समय और वर्तमान समय में आकाश-पताल का अन्तर हो गया है। कोई भी विचारक अपने समय के आगे नहीं देखता; अर्थात् उसके विचार उसी के समय के लिये उपयुक्त होते हैं, भविष्य के लिये पूर्णतः लागू नहीं होते। फिर भी वह ऐसी नीव डाल सकता है जो भावी संतान के लिये लाभप्रद हो। इसलिये यदि मार्क्स से हमें कोई लाभ उठाना है, तो हमको तोते की भाँति उनके वाक्यांशों को रटना अथवा उनके सिद्धान्तों को दुहराना उचित नहीं, वरन् उन्होंने जो कुछ कहा और लिखा उसके आधार पर हमको भी अपनी भावी संतान के लिये कुछ करना चाहिए।[२] यदि यदि हम केवल इस बात की ओर ध्यान दें कि उनके सिद्धान्त आज कहाँ तक लागू हो सकते हैं, तो हम अपनी समस्याओं पर कुछ भी प्रकाश न डाल सकेंगे, प्रत्युत आलोचना की आपत्ति में पड़ जायँगे। इन्हीं विचारों को मानकर आधुनिक समाजवादियों ने आर्थिक, राजनीतिक, एवं सामाजिक अवस्थाओं के परिवर्तन के साथ अमिश्रित

[२] देखिये G. D. H. Cole. *What Marx Really Meant*, pp. 8-10

मार्क्सवाद में भी परिवर्तन करना आवश्यक समझा है। यह मार्क्स की मानहानि नहीं। मार्क्स का यह गौरव है कि उन्होंने जो कुछ लिखा वह आज भी मनुष्य-जाति की सहायता कर सकता है और उनके विचार मनुष्य के हित के लिये स्थायी नींव डाल सकते हैं।

मार्क्सवाद के सिद्धान्त

हम मार्क्सवाद को कुछ निश्चित सिद्धांतों में बांट सकते हैं। यदि हम सामाजिक क्रांति के पश्चात् समाज के संगठन पर विचार न करें (क्योंकि इस विषय पर मार्क्स ने अधिक नहीं लिखा; न तो इसका संबंध राजनीति से है, न अर्थशास्त्र से ही है और इसलिये मार्क्सवाद के क्षेत्र से परे है), तो मार्क्स के सिद्धांतों को हम मूल्य और लाभ (शोषण) के सिद्धान्त कह सकते हैं जिनका मूल इतिहास के विकास के एक ख़ास दृष्टिकोण में है और जो वर्तमान पूँजीवाद के क्षय की भविष्यवाणी करता है। मार्क्सवाद के ६ प्रमुख सिद्धांत हैं जिनमें से दो का इतिहास से सम्बन्ध हैं, दो आर्थिक हैं जिनका मूल्य से सम्बन्ध है, और दो भविष्यवाणी के रूप में हैं।

(१) मार्क्स के प्रथम सिद्धांत को 'आर्थिक परिस्थिति का निश्चयात्मक स्वभाव' या 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या'[3] के नाम से पुकारा जाता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के इतिहास में प्रमुख और निश्चय करने वाला अंश आर्थिक है।

(२) यह भौतिक विचार श्रेणी-युद्ध के रूप में प्रकट होता है। इतिहास केवल श्रेणी-युद्ध का इतिहास है। जैसे ही एक युद्ध समाप्त हो जाता है, वैसे ही दूसरे प्रारम्भ हो जाता है। मार्क्सवाद के सामाजिक आधार इतिहास का भौतिक विचार और श्रेणी-युद्ध हैं।

(३) मूल्य का नियम मार्क्सवाद का तीसरा सिद्धांत है। मार्क्स

---

[3] Economic Determinism or Economic Interpretation of History

का विश्वास था कि किसी वस्तु का मूल्य उसके बनाने में व्यय की गई आवश्यक-सामाजिक-श्रमी पर निर्भर है।

(४) इससे हमें 'अतिरिक्तार्घ' का संकेत मिलता है। मज़दूर जितने में अपनी श्रमी बेचता है उससे बहुत अधिक की उत्पत्ति करता है। यह अन्तर अतिरिक्तार्घ कहलाता है। यह पूँजीपति स्वयं खा जाते हैं। यही शोषण का माप और रूप है। यहीं मज़दूर और पूँजीपतियों के युद्ध का कारण मिलता है।

(५) पूँजीपतियों की अतिरिक्तार्घ को हर प्रकार से बढ़ाने की अतृप्त पिपासा तथा मज़दूरों की दुर्दशा, उनके उत्तरोत्तर पतन में सहायक होगी। इससे दरिद्रता और दीनता का प्रसार होगा।

(६) बड़ा पूँजीपति सदैव छोटे पूँजीपति को हड़प कर जाने लालसा रखता है। इसका परिणाम यह होगा कि उत्पत्ति के साधन थोड़े ही मनुष्यों के हाथ में केन्द्रित हो जायँगे। फिर असंख्य दीन निर्धन मनुष्य मुट्ठी भर शोषकों को अधिकारच्युत करने के लिये क्रांति करेंगे और समाजवाद का स्थापन करेंगे।

हम अब इन्हीं सिद्धांतों का क्रम से वर्णन करेंगे।

अध्याय १७

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्सवाद का विवेचन करने के पूर्व हम मार्क्स की विचार-रीति का वर्णन करना आवश्यक समझते हैं। इसके तीन कारण हैं। एक तो यह कि रीति समझने के पश्चात् उस रीति द्वारा निर्मित विचार-प्रणाली भली भाँति समझ में आ सकती है। दूसरे, मार्क्सवाद के विषय में बहुत से भ्रमपूर्ण और ग़लत विचार मार्क्स की सूक्ष्म रीति को भली भाँति न समझने के कारण फैल गये हैं। तीसरे, मार्क्स की रीति एक स्थायी वस्तु है। मार्क्स के निष्कर्षों से अधिक हमें उनकी रीति से सहायता मिल सकती है। यह रीति, जैसा कि आगे चलकर प्रतीत होगा, सामाजिक अध्ययन के लिये अनिवार्य है।

मार्क्स की रीति को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) के नाम से पुकारा जाता है। इसमें हैगेल के तर्क की छाप स्पष्ट है। हैगेल का मार्क्स पर बहुत प्रभाव पड़ा था। मार्क्स के विद्यार्थी-जीवन के पत्र इस बात के द्योतक हैं कि उक्त दार्शनिक ने युवक कार्ल पर कितना प्रभाव डाला था। बड़े होकर भी मार्क्स ने खुल्लमखुल्ला हैगेल का उपकार माना। लेकिन मार्क्स कहते थे कि स्वयं हैगेल ने अपने दर्शन के सच्चे अर्थ का अनर्थ कर दिया है और उन्होंने (मार्क्स ने) उसे ठीक कर दिया है।[1] मार्क्स स्वयं इस बात को मानते थे कि उन्होंने हैगेल के द्वंद्वात्मक सिद्धान्तों को अपनाया, परन्तु उनको उस अर्थ में नहीं जिसमें हैगेल ने

---

[1] देखिये, Marx, *Capital*, p. XXX

उनका प्रचार किया, वरन् उस अर्थ में जिसको स्वयं उन्होंने (मार्क्स ने) उचित समझा।

हेगेल शाब्दिक तर्कशास्त्र (Formal logic) के सिद्धान्तों की अंतिम सच्चाई को अस्वीकार करते हैं। शाब्दिक तर्कशास्त्र का तात्विक सिद्धान्त यह है कि विरोधात्मक बातों का बहिष्कार हो। शाब्दिक तर्क के अंतर्गत एक वस्तु का अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों बातें एक ही साथ नहीं मानी जा सकतीं। यदि हम सत्य (reality) को स्थायी मान लें, तो स्थिर वस्तु का ऐसा आचरण हो सकता है। परन्तु सत्य स्थायी नहीं, वरन् अस्थायी और प्रगतिशील है और यदि कोई तर्क-शास्त्र वस्तुओं के तात्विक स्वभाव का सत्य-सत्य निरूपण करना चाहता है, तो उसे भी अस्थायी और प्रगतिशील होना पड़ेगा। वह विरोध की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसका आधार इस बात की स्वीकृति होना चाहिये कि विरोध प्रगति के नियम का एक आवश्यक अंग है।

शाब्दिक तर्क का उचित स्थान स्थिर (Static) संसार में है, परन्तु वास्तविक जगत् को समझने के लिये द्वंद्वात्मक रीति ही एक मात्र साधन है। सत्यता के अध्ययन के लिये, प्रथम तर्क द्वारा प्राप्त किये गये निष्कर्ष, जो विरोध के बहिष्कार पर आधारित हैं, पूर्णरूप से अपर्याप्त हैं। इस कार्य के लिये उस श्रेष्ठ तर्क की आवश्यकता पड़ती है जिसके द्वारा प्राणी की स्थिर अवस्था के स्थान पर प्रगतिशील अवस्था का प्रतिपादन हो सके। सत्य की व्याख्या करने के लिये हेगेल ने बड़े पद (Major premise), छोटे पद (Minor premise) और निष्कर्ष के स्थान पर वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और युक्तवाद (Synthesis) का प्रयोग किया।

'द्वन्द्वात्मक' शब्द का समानार्थी अंग्रेजी शब्द डाइलेक्टिकल (Dialectical) है। यह एक ग्रीक शब्द से निकला है जिसका

अर्थ है बात-चीत या वाद-विवाद करने की कला। ग्रीसवालों का विश्वास था कि सत्य का निश्चय करने के लिये विरोधी विचारों का संघर्ष ही सबसे श्रेष्ठ ढंग है, बशर्ते कि विरोधी पार्टियाँ सत्य के खोजने की लालसा से प्रेरित हों और कोरे वाद-विवाद को ही अपना ध्येय न बना लें। इसलिये 'द्वन्द्व' शब्द बतलाता है कि एक विषय पर विरोधी धारणायें ही एक दूसरे को ठीक करती हैं, और उनके पारस्परिक संघर्ष से ही सत्य के दर्शन होते हैं; उस संघर्ष से ऐसा परिणाम निकलता है जो दोनों के लिये मान्य हो।

हैगेल और मार्क्स का विश्वास है कि सत्य और उन्नति विरोधी तत्वों या प्रवृत्तियों के संघर्ष से ही अनुभूत होते हैं। मार्क्स के इस शब्द के प्रयोग में विशिष्ट बात यह थी कि उन्होंने इस सिद्धांत का केवल विचारों में ही लागू होना नहीं माना; परंतु उन्होंने प्रगतिशील ऐतिहासिक आंदोलन में भी उसे प्रयुक्त किया। इस प्रकार द्वंद्वात्मक संघर्ष के द्वारा उन्नति होने का नियम, विचार और घटनाओं, दोनों में प्रयुक्त होता है। मनुष्यों के इतिहास में जैसे ही एक प्रवृत्ति उन्नतिशील होती है, वैसे ही एक दूसरी विरोधात्मक प्रवृत्ति का उत्पादन होता है जो पहली प्रवृत्ति के दोषों को दूर कर के उसके स्थान को स्वयं प्राप्त करने का उद्योग करती है। इन दोनों के संघर्ष से एक तीसरी प्रवृत्ति पैदा होती है जो फिर एक विरोधी प्रवृत्ति को जन्म देती है। इस प्रकार सभ्यता का प्रत्येक दर्जा एक वाद (Thesis) है जो विचार (Idea) का एक अपूर्ण समानार्थी है। स्वाभाविक रूप से यह बात ठीक है कि यदि यह अपूर्ण है तो कोई पूर्ण समानार्थी भी होगा। इन दोनों में संघर्ष होना अवश्यंभावी है। वाद और प्रतिवाद के संघर्ष के परिणाम स्वरूप एक युक्तवाद (Synthesis) बनता है जो दोनों के अच्छे तत्वों का सम्मिश्रण करता है। यह युक्तवाद फिर एक नवीन संघर्ष के लिये वाद बन जायगा और अपना प्रतिवाद स्वयं निर्मित करेगा। इन दोनों के संघर्ष से फिर एक

नये युक्तवाद का प्रादुर्भाव होगा। इन दर्जों को पार करता हुआ, वाद, प्रतिवाद और युक्तवाद के चक्र में घूमता हुआ मानव इतिहास धीरे-धीरे विकसित हो रहा है।

संघर्ष के द्वारा ऐतिहासिक उन्नति होने का विचार हैगेल और मार्क्स दोनों में उपस्थित है। परन्तु फिर भी मार्क्स का हैगेल से मतभेद है क्योंकि मार्क्स का संसार हैगल के संसार से भिन्न है। हैगेल का विश्वास था कि वस्तुएँ विचार का प्रतिबिम्ब-मात्र हैं। इसलिये विचारों का संसार ही सच्चा संसार है। लेकिन मार्क्स इसे नहीं मानते। उनके लिये प्रतिदिन के अनुभव का संसार वास्तविक है। जो वस्तुएँ हम प्रतिदिन देखते और अनुभव करते हैं वे अंतिम हैं। इसके आगे जाना अभीष्ट नहीं, क्योंकि इसके आगे कुछ भी नहीं है। प्रतिदिन का संसार किसी उच्च श्रेणी के सत्य का, जो स्थान तथा समय से परे है, व्यक्तीकरण नहीं है। प्राणी विचार से पहले आता है, क्योंकि विचार मनुष्य के द्वारा मनुष्य के विषय में ही उत्पन्न हो सकता है। बिना किसी दृश्य वस्तु के कुछ भी देखा अथवा समझा नहीं जा सकता, वस्तुओं के अनुभव के बिना उनके विषय में किसी प्रकार की धारणा नहीं हो सकती। बाह्य जगत् बाह्य जगत है। वह हमारे मस्तिष्क का एक विचार अथवा हमारे अनुभव से दूर किसी आदर्श सत्य का प्रतिबिम्ब नहीं है। स्वयं मार्क्स ने कैपीटल के द्वितीय संस्करण की भूमिका के निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्यों में अपना और हैगेल का मतभेद बतलाया है; "हैगेल के विचार से मानवीय मस्तिष्क की क्रिया अर्थात् सोचने की क्रिया जिसको विचार (The Idea) के नाम से वे एक स्वतंत्र विषय में परिवर्तित कर देते हैं सच्चे संसार का निर्माण करती है। उनके अनुसार वास्तविक संसार विचार (The Idea) का बाह्य या प्रत्यक्ष रूप है। इसके विपरीत मेरे लिये विचार उस भौतिक संसार के प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो मनुष्य का

मस्तिष्क प्रतिबिम्बित करता है और विचार-धारा में अनुवादित करता है।[२]

क्योंकि वस्तु, न कि विचार, परम सत्य है; इसलिए वस्तु, न कि विचार, मानवीय इतिहास की अन्तिम संचालन शक्ति है। वस्तुओं से मार्क्स का तात्पर्य उत्पादन शक्तियों (Powers of production) से है। जैसे ही मनुष्यों की बुद्धि और अवसरों के साथ-साथ ये शक्तियाँ बढ़ती हैं, वैसे ही मानवीय इतिहास प्रगति की सीढ़ियों को पार करता हुआ चला जाता है। उत्पादन की शक्तियों की उन्नति की प्रत्येक सीढ़ी मानवीय प्रगति की सीढ़ी है। उत्पादन शक्तियों के विकास की प्रत्येक सीढ़ी मनुष्यों में, उन शक्तियों में प्रयोग के लिए आर्थिक सम्बन्धों की एक नवीन अवस्था उत्पन्न कर देती है। ये आर्थिक सम्बन्ध उचित राजनीतिक एवं सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं जो स्वयं आर्थिक समस्या को प्रभावित करते हैं। ये सम्बन्ध मनुष्यों को वर्गों में विभक्त कर देते हैं और इन्हीं वर्गों में संघर्ष होता है। मार्क्स के अनुसार ये वर्ग ही वाद और प्रतिवाद है। युक्तवाद नया वर्ग है जो इतिहास के परिवर्तन बिन्दु पर एक वर्ग के दूसरे वर्ग के साथ संघर्ष से उत्पन्न होता है। यह संघर्ष इतना बढ़ जाता है कि एक नवीन वर्गहीन समाज स्थापित हो जाता है और वर्ग-युद्ध का अंत हो जाता है। इस प्रकार मार्क्स के लिए हैगल का द्वन्द्व जब ठीक अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब इतिहास की आर्थिक व्याख्या हो जाता है।

इस स्थान पर यह प्रश्न उठता है कि यदि संसार वाद और प्रतिवाद के संघर्ष का लेखा है तो फिर वर्गहीन समाज के पश्चात् क्या होगा? इसके उत्तर में मार्क्सवादी कहते हैं कि हम कुछ नहीं

---

[२] देखिए Marx, *Capital*, p. XXX. विशेष ज्ञान के लिए देखिये, Lindsay, *Karl Marx's Capital*, Chapter 1.

जानते। मार्क्स ने कहा है कि प्रत्येक युग केवल अपनी ही समस्याएँ सुलझाने का प्रयत्न करता है और केवल उन्हीं को हल करने की उसे सामर्थ्य भी है। मनुष्य जाति को समाजवाद के भविष्य की समस्याएँ सुलझाने की न तो आवश्यकता है और न सामर्थ्य ही। वे केवल इतना ही कह सकते हैं कि वर्गहीन समाज के बाद जो कुछ भी आयेगा वह स्थिर नहीं होगा। जब तक मनुष्य जाति रहेगी, तब तक उसका इतिहास होगा और वह इतिहास द्वंद्वात्मक रूप में बढ़ेगा।

अध्याय १८

इतिहास की आर्थिक व्याख्या

मार्क्सवाद का दार्शनिक सिद्धांत इतिहास की आर्थिक व्याख्या है। ऐतिहासिक घटनाओं के निश्चय करने में आर्थिक कारण का निश्चयात्मक प्रभाव होना ही इतिहास की आर्थिक व्याख्या कहलाता है। इसके महत्व पर मार्क्स ने ही सब से पहले जोर दिया। मार्क्स के पूर्व कुछ विद्वानों में इस सिद्धांत के चिह्न मिलते हैं और उन्होंने निस्संदेह इस सिद्धांत की नींव डाली। अरस्तू ने, जिनका समस्त विद्वानों पर प्रभाव पड़ा, स्वयं लिखा है कि मनुष्य के पेशे उनके जीवन के ढंगों पर प्रभाव डालते हैं। एपीकूरस (Epicurus), हैरिंगटन (Harrington), डालरिम्पल (Dalrymple), मोजर (Moser) और गार्नियर (Garnier) ने इस विचार पर प्रकाश डाला था। सांटसीमों ने फ्रांस की क्रान्ति को एक आर्थिक क्रान्ति बताया था, न कि राजनीतिक क्रान्ति। फ़ोरियर ने तो इस सिद्धांत को क्रियात्मक रूप तक दिया। लेकिन उन्होंने इस सिद्धांत को स्थिर (Static) दशा में प्रयुक्त किया, ऐतिहासिक प्रगति पर उन्होंने विचार भी नहीं किया। मार्क्स ने इस सिद्धांत को क्रमपूर्वक विकसित किया, उसे प्रगतिवादी दृष्टिकोण से देखा, और अपनी विचार-प्रणाली का इसे केन्द्रीय स्तम्भ बनाया। इसलिये यह उनका मौलिक सिद्धांत माना जाना चाहिये।

मनुष्य जाति का जंगलीपन से सभ्यता की ओर विकास हुआ है। इस विकास का कारण क्या है? कुछ लेखकों ने सामाजिक संगठन

में परिवर्तन होना मनुष्य की इच्छा और बड़े-बड़े नेताओं के प्रभाव का परिणाम बताया है। "लोग कहते हैं जमाना है बदलता अक्सर, मर्द वे हैं जो ज़माने को बदल देते हैं।" यह सत्य है कि कभी-कभी बहुत से महापुरुष अपने वातावरण से ऊपर उठ जाते हैं और उस पर प्रभाव डालते हैं। परन्तु महापुरुषों का सिद्धांत सामाजिक और भौतिक वातावरण की सीमाओं पर काफ़ी से अधिक जोर देता है। कुछ अन्य विद्वान् दूसरी पराकाष्ठा पर चले गये हैं और कहते हैं कि ऐतिहासिक उन्नति भौतिक वातावरण से निश्चित होती है। जैसे जैसे भौतिक वातावरण का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य जाति भी उन्नति के पथ पर अग्रसर होती जाती है।

मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास के एक नवीन सिद्धांत का प्रचार किया जिसे 'इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या' (Materialist or Economic Intepretation of History) कहते हैं। इसका सारांश यह है कि सामाजिक विकास की प्रगति और दिशा उत्पत्ति और विनिमय की रीतियों पर निर्भर रहती है। अन्य अनार्थिक कारण भी अपना प्रभाव डालते हैं परन्तु वे आर्थिक कारणों के बराबर शक्तिशाली नहीं। मार्क्स ने एक पुस्तक (Contribution to the Critique of Political Economy) में इस सिद्धान्त का विवेचन किया है। वे लिखते हैं कि मैं अपने अध्ययन से इस परिणाम पर पहुँचा कि क़ानूनी सम्बन्ध तथा राष्ट्र के रूप न तो अपने आप समझ में ही आ सकते हैं और न मानवीय मस्तिष्क की सामान्य उन्नति से सोचे जा सकते हैं। परन्तु वे जीवन की भौतिक अवस्था में मूल रूप से मौजूद हैं जो हैगेल द्वारा 'नागरिक समाज' (Civic Society) के नाम में एकत्र किये गये हैं। इस नागरिक समाज का विश्लेषण राजनीतिक अर्थशास्त्र में पाया जाता है। इस राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन को, जिसको मैंने पैरिस में प्रारम्भ किया था, मैंने ब्रूसेल्ज़ में जारी

रक्खा जहाँ पर मैं गूज़ट द्वारा निकाले गये आज्ञापत्र के अनुसार चला गया था। यह सामान्य निष्कर्ष जो कि मैंने निकाला और जिसको मैं अपने अध्ययन का प्रधान सूत्र मानकर पालन करता रहा, सूक्ष्म रूप से इस प्रकार रक्खा जा सकता है : सामाजिक उत्पत्ति में लोग निश्चयात्मक सम्बन्धों में प्रवेश करते हैं जो अपरिहार्य हैं और उनके संकल्पों से स्वतंत्र हैं। उत्पत्ति के ये सम्बन्ध उत्पत्ति की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चयात्मक सीढ़ी के समानान्तर चलते हैं। उत्पत्ति के इन सम्बन्धों का योग समाज के ढाँचे को बनाता है। यही वह वास्तविक नींव है जिस पर क़ानूनी तथा राजनीतिक ढाँचे खड़े होते है और सामाजिक जाग्रति के निश्चयात्मक रूप बनते हैं। भौतिक जीवन में उत्पत्ति का ढंग, जीवन के सामाजिक, राजनीतिक तथा अध्यात्मिक प्रणालियों के सामान्य रूप को निश्चित करता है। मनुष्य की जाग्रति उसके अस्तित्व को नहीं निश्चित करती, परन्तु इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी जाग्रति को निश्चित करता है।[१]

एंगिल्स ने इस सिद्धान्त का इन शब्दों में संक्षिप्त वर्णन किया है—"समस्त सामाजिक परिवर्तनों तथा राजनीतिक क्रांतियों के अन्तिम कारण न तो मनुष्यों के मस्तिष्क में, और न उनके चरम सत्य और न्याय सम्बन्धी विशेष ज्ञान में पाये जाते हैं, वरन् वे उत्पत्ति तथा विनियम के ढंगों में ही मिल सकते हैं।"[२]

मार्क्स और एंगिल्स ने इन सिद्धान्तों के प्रचार करने में कभी कभी आर्थिक कारणों पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर दिया। किसी भी नवीन सिद्धान्त के प्रतिपादकों में, विशेष रूप से जब कि वे अपने आविष्कृत सिद्धान्त को फैलाने का उद्योग कर रहे हों और आवश्यक

---

[१] देखिये Karl Marx. *Contribution to the Critique of Political Economy* (*Stone's Translation*), p. 11.

[२] Engels, *Socialism, Utopian and Scientific*, p, 45.

बातों का मनुष्यों के मस्तिष्क पर प्रभाव डालना चाहें, ऐसा होना स्वाभाविक ही है। लेकिन इस बात पर ध्यान न देकर, पूँजीवाद के पुजारियों ने इन महापुरुषों की कड़े शब्दों में आलोचना की है। प्रो० सैलिग्मन लिखते हैं कि विश्व सत्यता के दार्शनिक सिद्धान्त की हैसियत में ऐतिहासिक भौतिकवाद पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इतिहास की केवल आर्थिक व्याख्या ही नहीं है, वरन् एक नैतिक, सौन्दर्यमूलक, राजनीतिक, धार्मिक तथा वैज्ञानिक व्याख्या भी है।[3] प्रो० लास्की कहते हैं कि आर्थिक नींव को ही पूर्ण व्याख्या कह कर उस पर पूर्ण रूप से निर्भर रहना, ग़लत है।[४] डाक्टर स्कैल्टन लिखते हैं कि यह प्रत्यक्ष है कि अपने वास्तविक रूप में इस योजना पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि इतिहास को बोधगम्य होने के लिये घरेलू विषयों को ग्रहण करना चाहिये, परन्तु इसके अतिरिक्त इतिहास में और बहुत सी बातें हैं। यश तथा शक्ति के लिये पिपासा, धार्मिक महत्व कांक्षायें, जातीय पक्षपात, पुरुष-स्त्री का एक दूसरे के प्रति आकर्षण, वैज्ञानिक उत्सुकता आदि भी उतने ही वास्तविक हैं, और आर्थिक वातावरण की प्रधान शक्तियाँ हैं तथा आर्थिक दशाओं की प्रतिक्रिया भी उन्हीं के द्वारा हो सकती है।[५] यही नहीं, स्वयं कुछ समाजवादियों ने भी इस सिद्धान्त को तिलांजलि दे दी है। इनमें बर्नस्टाइन, जो कि मार्क्सवाद के प्रथम सुधारक हैं, प्रमुख हैं। रैमज़े मैकडानल्ड ने भी इसे मिथ्या बताया है।[६]

पर ऐसा कहना सरासर भूल है। मृत्यु के पूर्व एंगिल्स ने स्वयं

---

[३] Seligman. *The Econmic Interpretation of History*, pp. 153-159

[४] Laski, *Karl Marx*, p. 133

[५] Skelton, *Socialism*, p. 104

[६] देखिये MacDonald, *The Socialist Movement*, p. 124

ही भ्रम-निवारण के लिये स्पष्ट शब्दों में अपने एक विद्यार्थी को पत्र में लिखा था कि मैं और कार्ल मार्क्स आंशिक रूप से इस बात के उत्तरदायी हैं कि युवकगण कभी-कभी आर्थिक कारणों पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देते हैं। अपने विरोधियों के आक्षेपों का सामना करने के लिये हमें यह आवश्यक था कि हम उनके द्वारा उपेक्षित किये गये सिद्धान्त पर विशेष ज़ोर देते, और हमको इस बात का समय, स्थान तथा अवसर न मिला कि हम अन्य कारणों की ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते।

एक दूसरे पत्र में वे लिखते हैं कि इतिहास के भौतिकवादी दृष्टि-कोण से वास्तविक जीवन की उत्पत्ति तथा पुनरुत्पत्ति इतिहास को निश्चित रूप देने वाला अंतिम कारण है। इससे अधिक न तो मार्क्स ने ही और न मैंने ही कुछ कहा है। परंतु जब कोई इसके अर्थ यह यह निकालता है कि आर्थिक कारण ही पूर्ण तत्व है, तब वह हमारे कथन को अर्थहीन तथा अबोधगम्य बना देता है। आर्थिक दशा केवल आधार है, परंतु ढाँचे के अन्य तत्व—वर्ग-युद्ध के राजनीतिक रूप और उनके परिणाम, क़ानूनी सुधार, और उन युद्धों का उनमें भाग लेने वालों के मस्तिष्क पर प्रभाव, राजनीतिक, क़ानूनी, दार्शनिक योजनाएँ, धार्मिक सिद्धांत, आदि—समस्त ऐतिहासिक संघर्ष के विकास पर प्रभाव डालते हैं और अनेक उदाहरणों में उनके रूप को निश्चित करते हैं।

यदि कोई इन साफ़ साफ़ कथनों का उपेक्षा करके अपनी व्यक्तिगत व्याख्याओं और विचारों के अनुसार मार्क्स के इस दार्शनिक सिद्धांत को उल्टा और ग़लत रूप दे दे, तो इसका उत्तरदायित्व उसी पर है, मार्क्स पर नहीं। यदि मध्याह्न के समय आकाश में चमकते हुये सूर्य को देखते हुये भी कोई हठी यह कहे कि सूर्य निकलता ही नहीं तो इसमें सूर्य का क्या अपराध? ऊपर के विवेचन से हमारी समझ में इस सिद्धांत का केवल यही अर्थ है कि अधिकांश में सामाजिक उन्नति की

प्रगति और दिशा तत्कालीन आर्थिक अवस्थाओं द्वारा, विशेष रूप से धन को उत्पन्न करने के ढंग और सामाजिक सम्बन्ध द्वारा, निर्धारित होती है।[७]

मार्क्स ने इस सिद्धान्त को इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कहा था क्योंकि वे इसे हेगेल और उनके अनुयायिओं के परतत्वादी (metaphysical) आदर्शवाद से भिन्न होने पर ज़ोर डालना चाहते थे। परन्तु वर्तमान समाजवादी इसे 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' के नाम से पुकारते हैं क्योंकि 'आर्थिक' शब्द 'भौतिक' शब्द से अधिक उपयुक्त अर्थ देता है। दूसरे, यह उस भ्रम को दूर कर देता है जो साधारण मस्तिष्क में 'भौतिकवादी' शब्द और दार्शनिक भौतिकवाद के सिद्धांतों के मेल से उत्पन्न होता है। ग्रेट ब्रिटेन के प्रसिद्ध समाजवादी विद्वान्, जी० डी० एच० कोल, इसे 'इतिहास की वास्तविक व्याख्या', कहते हैं। उनका कथन है कि जहाँ मार्क्स ने 'भौतिकवादी' लिखा, वहाँ अब 'वास्तविक' लिखना स्वाभाविक होगा, क्योंकि हम वास्तवकिता को ही (भौतिकवाद को नहीं), दार्शनिक दृष्टिकोण से, आदर्शवाद से विभिन्नता दिखाते हैं।[८]

स्टैलिन ने ऐमिल लुडविग से इस सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुये एक बार कहा था कि मार्क्सवाद यह नहीं कहता कि बडे पुरुष घटनाओं के निश्चय में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखते, न वह इसी बात को अस्वीकार करता है कि मनुष्य अपना इतिहास स्वयं नहीं बनाते। परन्तु मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार अथवा अपनी कल्पना की प्रेरणा के अनुसार इतिहास का निर्माण नहीं करते। प्रत्येक नवीन पीढ़ी को निश्चित दशाओं का सामना करना पड़ता है जो उस पीढ़ी के जन्म के पहले ही से वर्तमान होती हैं। परन्तु वे इति-

---

[७] Spargo and Arner, *Elements of Socialism*, p. 79.

[८] G. D. H. Cole, *What Marx Really Meant*, p. 16.

हास को उसी सीमा तक बनाते हैं जिस तक कि वे तत्कालिक परिस्थितिओं को ठीक रूप में समझते हैं, और उन परिस्थितियों में परिवर्तन करने का ज्ञान रखते हैं। इस प्रकार के आधार ही परिवर्तन होता है।

कोल लिखते हैं कि बहुत से लोग भौतिकवाद का नाम सुनकर यह समझने लगते हैं कि यह पदार्थ को मस्तिष्क से ऊँचा स्थान देता है। परंतु ऐसी बात नहीं है। यह जिस बात का समर्थन करता है वह यह है कि मस्तिष्क, इतिहास को निर्माण-शक्ति के रूप में, अपने को अन्य वस्तुओं से सम्बद्ध कर के काम करता है। वह उनके रूप और निहित शक्ति में परिवर्तन कर देता है और उनको उन सम्बधों में सीमा-बद्ध कर देता है जिनके परिवर्तित रूप मानवी इतिहास के आधार हैं।

भौतिक वस्तुएँ, जिनको मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की निश्चय करने वाली क्रियात्मक शक्तियाँ समझा था, केवल प्राकृतिक वस्तुएँ ही नहीं हैं, किन्तु वे, सभ्यता के विकास के साथ-साथ, उन वस्तुओं को भी सम्मिलित करती हैं जिनको मनुष्य ने प्राकृतिक पदार्थों को परिवर्तन करके बनाया है। इसके अतिरिक्त, प्राकृतिक पदार्थ भी, मनुष्यों में उनके प्रयोग करने के ज्ञान के द्वारा ही, मानवीय इतिहास पर प्रभाव डालते हैं।

इस प्रकार की वस्तुएँ जिनको मार्क्स भौतिक कहते हैं और जिनको वे सामाजिक विकास का कारण मानते हैं, विशेष रूप से मस्तिष्क की उपज हैं। इसलिये मार्क्स मनुष्य के मस्तिष्क की अवहेलना नहीं करते हैं। इसके विपरीत वे इस बात का समर्थन करते हैं कि मनुष्य अपने इतिहास को स्वयं बनाते हैं, वह ईश्वर की इच्छा अथवा अवसर पर अवलम्बित नहीं हैं। पर, यद्यपि मनुष्य अपने इतिहास को स्वयं बनाते हैं, तथापि वे ऐसा, विशेष रूप से, आर्थिक वातावरण में परिवर्तन करके ही करते हैं।

महापुरुषों के सिद्धांत के विषय में वे कहते हैं कि महान् आविष्कार अनेक अन्वेषकों के कार्यों के संचित फल के रूप में उत्पन्न होता है; और अत्यंत विनाशकारी युद्ध इतिहास में केवल एक मनुष्य की महत्वाकांक्षा अथवा सैनिक चातुर्य से नहीं प्रारंभ हुआ। वास्तव में इतिहास में महान् पुरुष सम्बंधी योजना उपयुक्त नहीं बैठती। परंतु इसकी सत्यता को अस्वीकार करने का तात्पर्य यह नहीं कि महान् पुरुषों का कोई स्थान तथा प्रभाव ही नहीं होता, बल्कि यह कि उनकी महानता उस समय के अवसरों और आर्थिक परिस्थिति के अनुकूल होती है और उन पर निर्भर होती है।

अध्याय १६

श्रेणी-युद्ध

श्रेणी-युद्ध या वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मार्क्सवाद का मूल सिद्धांत है। यह समाजवाद के दर्शन में एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है।[1] एक विद्वान तो यहाँ तक कहते हैं कि समस्त समाजवाद वर्गयुद्ध से बना है। यदि यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण या गलत प्रमाणित हो जाय तो मार्क्सवाद निर्जीव हो जायगा।

वस्तुतः श्रेणी युद्ध का सिद्धांत इतिहास की आर्थिक व्याख्या का एक अंग है। इतिहास का भौतिकवादी विचार, भूत तथा वर्तमान के निरंतर द्वन्द्वात्मक विकास के रूप में परिवर्तित होने की व्याख्या है; विरोधी शक्तियों में लगातार संघर्ष से उत्पन्न होनेवाली उन्नति की सूचना है। ये विरोधी शक्तियाँ मार्क्स के लिये विचार (Idea) की निरंतर अभिव्यक्ति नहीं है, जैसा कि हैगेल का विचार था, वरन् आर्थिक अवस्थाओं द्वारा निर्मित वर्ग या श्रेणियाँ हैं। किसी भी समय की आर्थिक परिस्थितियाँ ही सबसे अधिक महत्वशाली होती हैं। परन्तु मार्क्स ने उन साधनों में से जिसके द्वारा वे प्रभाव डालती हैं, केवल एक पर जोर डाला। वह था शोषक और शोषित वर्गों का निर्माण होना। मार्क्स का विश्वास था कि आर्थिक परिवर्तन के कारण, अथवा उत्पत्ति के साधनों में परिवर्तन होने के कारण ही श्रेणी अथवा वर्गों का निर्माण होता है। अपनी कैपीटल (Das Kapital) नामक पुस्तक में,

---

[1] देखिए Spargo, *Socialism*, p. 123.

पूँजीवाद के वर्णन में, उन्होंने यह भली भाँति दिखाया है कि बड़े पैमाने पर मशीन उत्पत्ति की उन्नति किस प्रकार एक नवीन सर्वहारा-वर्ग (Proletaria) को जन्म देती है।[२] उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में व्यवसायिक क्रांति ने जिस अद्भुत आर्थिक उन्नति को जन्म दिया उसका परिणाम यह हुआ कि एक तो छोटा सा पूँजीवादियों का वर्ग बन गया जिसका उत्पत्ति के साधनों पर स्वामित्व था, और दूसरा एक एक बहुत बड़े धनहीन मज़दूरों के वर्ग का विकास हुआ। वर्तमान राष्ट्र या राज-यंत्र उस स्वामित्व में सहायता करता है, और सर्वहारावर्ग को आर्थिक दृष्टि से, सदैव पूँजीपतियों का सामना करना पड़ता है। यह तीव्र मुकाबला, जो दोनों वर्गों के हितों के मूल अंतर से उत्पन्न होता है, निरंतर युद्ध तथा झगड़ा उत्पन्न करता है जिसे श्रेणी-युद्ध कहते हैं।[3] वर्तमान युग में यह युद्ध उच्च शोषक वर्ग तथा शोषित सर्वहारा-वर्ग में चलता है। यह विरोध वर्तमान उत्पत्ति के सम्बन्धों के अनुसार चलता है। इस प्रकार का युद्ध अंतिम युद्ध होगा। सर्वहारावर्ग की विजय वर्ग-स्वार्थ और वर्गसंघर्ष दोनों का अंत कर देगी। शोषण और श्रेणी युद्ध—ये सिद्धांत मार्क्सवाद के मूलमंत्र हैं।[४]

कम्यूनिस्ट मैनिफैस्टो (Communist Manifesto) की भूमिका में ऐंगिल्स ने श्रेणी-युद्ध के सिद्धांत का निम्नलिखित संक्षिप्त वर्णन किया है :—

प्रत्येक ऐतिहासिक युग में, प्रचलित आर्थिक उत्पत्ति और विनिमय के साधन और उनके फलस्वरूप सामाजिक प्रणाली एक ऐसे आधार

[१] Laqardelle, *Syndicalialisme et Socialisme*, p. 3.

[२] Lindsay, *Karl Marx's Capital*, p. 43.

[3] C. E. M. Joad, *Modern Political Theory*, p. 44.

[४] देखिए Skelton, *Socialism: A Citical Analysis*, pp. 107-8

का निर्माण करते हैं जिस पर उस युग का राजनीतिक और बौद्धिक इतिहास खड़ा किया जाता है, और केवल उससे ही इसकी व्याख्या की जा सकती है। इसलिये मनुष्य-जाति का कुल इतिहास (जङ्गली समाज के, जिसमें भूमि पर सामान्य स्वामित्व था, भंग होने के पश्चात् से) वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है। इन श्रेणी-युद्धों का इतिहास विकास की एक माला है जो आजकल इस अवस्था को पहुँच गई है कि जिसमें शोषित और पीड़ित सर्वहारा-वर्ग, शोषक और शासक उच्चवर्ग के अत्याचारों से तब तक छुटकारा नहीं पा सकता जब तक कि वह कुल समाज को शोषण, अत्याचार, वर्ग-भिन्नता और वर्ग-युद्ध से मुक्त न कर दे।[५]

उपर्युक्त कथन में पाँच प्रमुख सिद्धांत हैं। पहला तो यह कि वर्ग-भिन्नता और वर्ग-संघर्ष समाज के आर्थिक जीवन के फल हैं। दूसरे, जब से आदि समाज (Primitive Soceity), जो समाजवाद पर आधारित था, भंग हुआ है, तब से मनुष्य-जाति वर्गों में विभाजित हो गई है और उसका कुल इतिहास इन वर्गों के युद्ध का इतिहास है। तीसरे, प्रत्येक युग में शासक वर्ग का हित साधन हुआ है। चौथे, समाज के विकास में अब वह परिस्थिति आ गई है जिसमें श्रेणी-संघर्ष सर्वहारावर्ग और पूँजीपति-वर्ग में होगा। पाँचवें, अपने को मुक्त करने के प्रयत्न में सर्वहारा-वर्ग समस्त वर्गों के अस्तित्व को मिटा देगा और सारे समाज को श्रेणी-युद्ध से छुटकारा मिल जायगा।[६]

ऊपर के विवेचन से यह तो पूर्णतया स्पष्ट है कि वर्गों की उत्पत्ति कैसे होती है, उनमें संघर्ष क्यों होता है, उस संघर्ष का वर्तमान रूप क्या है और उसका अंतिम परिणाम क्या होगा। परन्तु प्रश्न यह उठता

---

[५] देखिए *Communist Manifesto*, Introduction.

[६] देखिए Spargo and Arner, *Elements of Socialism*, pp. 100-101

है कि वर्ग क्या है? मार्क्स ने साफ़-साफ़ शब्दों में वर्ग का विवरण और परिभाषा नहीं दी। इसलिये इसमें भ्रांति के किये काफ़ी गुँजाइश है। श्रीयुत लिंडसे ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।[*] हमको इस प्रश्न को हल करने के लिये इस बात का उत्तर देना पड़ेगा कि यदि कुछ व्यक्तियों के आर्थिक हित (Interests) को एक सामूहिक रूप में संगठित कर दें, तो क्या हम उन्हें एक वर्ग कह सकते हैं? या एक वर्ग बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उसके सदस्यों का कुछ सामान्य हित हो जिसके सामने लोगों के व्यक्तिगत-हितों को नीचे रक्खा जाय? यदि पहला मत सत्य है तो इसका मतलब यह हुआ कि मार्क्स वास्तव में व्यक्तिगत हितवादी थे; क्योंकि इसका तात्पर्य यह है कि समाज में जो शक्ति कार्यशील रहती है वह व्यक्ति की अपने हित को बढ़ाने की प्रेरणा है; और यदि मनुष्य संगठित होकर कार्य करते हैं तो इसका कारण यही है कि आर्थिक दशाओं ने संगठित कार्य्यों को प्रत्येक व्यक्ति के हित के अनुसार बना दिया है। इसलिये श्रेणी-युद्ध से ही समाज को उत्पत्ति के साधनों के ऐसे परिवर्तन से छुटकारा मिल सकता है जो मनुष्य के आर्थिक हितों के संघर्ष को असम्भव बना दे। पर यह सोचना कि समाजवाद या और किसी प्रकार के उत्पत्ति के साधनों में परिवर्त्तन इस प्रकार के स्वार्थ में सामंजस्य ला देगा त्रुटिपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त आर्थिक वर्ग की यह धारणा सत्यता के भी विपरीत है। उदाहरणार्थ, उन्नीसवीं शताब्दी के मज़दूर-आंदोलनों में जिन मनुष्यों ने भाग लिया, उन्होंने अपने व्यक्तिगत आर्थिक लाभ के लिये ऐसा नहीं किया। उनके लगभग सभी नेता ऐसे स्त्री पुरुष थे जिन्होंने अपने साथियों के भले के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। जब मनुष्यों में वर्ग-चेतना आ जाती है तब वे अपने वर्ग के दूसरे

*देखिए Lindsay, *Karl Marx's Capital*, pp. 44-47

वर्गों से हित-विरोध पर जोर दे सकते हैं। तब वे एक संकीर्ण देश-प्रेम के गर्त में गिर सकते हैं। परन्तु जो बात उनको संचालित करती है उसका आधार यही है कि वे दूसरों के सहयोग और संगठन में ही अपनी मज़बूती समझें। वर्ग का वह तात्पर्य जो वास्तविकता के अनुसार है, जो मार्क्स के हैगेलवाद और उनकी अन्य शिक्षाओं के अनुकूल है और जो मार्क्स का अध्ययन करने में 'वर्ग-युद्ध' और 'वर्ग-चेतना' आदि वाक्यांशों में निहित है, उस जन-समूह से है जिसके सदस्य एक प्रकार की समूह-भक्ति से बँधे हुए हैं, जो अपने समूह के हित के लिये अपना हित बलिदान कर देने को तत्पर हैं। अन्य प्रकार की समूह भक्ति और देश-प्रेम की भाँति वर्ग-भक्ति के भी स्वार्थमय और एकान्तिक पहलू हैं, परन्तु इसकी आन्तरिक मज़बूती—वह सीमा जिस तक इसके सदस्य इस बात को महसूस करते हैं कि वे सामान्य हित के लिये सब प्रकार का त्याग कर सकते हैं—ही इसकी शक्ति और मज़बूती का उद्गम-बिंदु है, इसकी एकान्तिकता का नहीं। इसलिये श्रेणी-संघर्ष की धारणा का तात्पर्य यह है कि मनुष्यों की संगठित रूप में कार्य करने की शक्ति सार्वजनिक उदारता की अस्पष्ट भावनाओं पर स्थिर नहीं; वरन् सामान्य आशाओं तथा भयों के वास्तविक विभाजन और जीवन के सामान्य तरीक़ों पर आधारित है। तात्विक रूप से यह लघु देश-प्रेम की महत्ता का अनुदार सिद्धांत है। मार्क्सवाद में, वर्ग की पूरी महत्ता मार्क्स के यह बताने में है कि सामान्य धर्म, सामान्य जातीयता, सामान्य पड़ोस के बंधनों का सामान्य आर्थिक दशा और आर्थिक दबाव के बंधनों के सम्मुख कोई महत्व नहीं। यह अंतिम कथन कहां तक सत्य है, एक ऐसा प्रश्न नहीं है जिसका कोई पूर्ण अकाट्य उत्तर हो। वर्गों के बनाने में आर्थिक कारणों का महत्व समयानुसार लगातार परिवर्तित होता गया है।

आर्थिक वर्ग की इन धारणाओं में एक बहुत महत्वपूर्ण क्रियात्मक अंतर है। यदि वर्ग का अर्थ ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जिनके

सामान्य आर्थिक हित उन्हें संगठित क्रिया के लिये प्रेरित करते हैं, तब इस सिद्धांत में उन आर्थिक कारणों पर ज़ोर पड़ेगा जो उन हितों में एकता तथा विरोध उत्पन्न करते हैं। श्रेणी-संघर्ष फिर अवश्यंभावी मानना पड़ेगा। यह न तो नैतिक होगा और न अनैतिक, बल्कि इस आधार पर कि यह किसी न किसी प्रकार अधिक सच्चा है, इसे स्वास्थ्य का चिह्न ही मानना पड़ेगा। कारण यह है कि जब मनुष्य हमारे सिद्धांतों के अनुसार आचरण करते हैं तब हम उन्हें सच्चे और सीधे मानने लगते हैं। कभी-कभी यह सोच लेना कि अन्य मनुष्य हमारे सिद्धांतों को जबर्दस्ती अस्वीकार करते हैं, आसान होता है; परन्तु यह मानना कि वे सिद्धांत ही त्रुटिपूर्ण हैं, कठिन होता है। वह सिद्धांत जिसके अनुसार समस्त मनुष्य आवश्यक रूप से स्वार्थमय हैं, उन मनुष्यों को नैतिक श्रेय देगा जो प्रगट रूप से स्वार्थी हैं, परन्तु उनको नहीं देगा जो स्वार्थहीन से दिखाई देते हैं। इस प्रकार से व्याख्या किये जाने पर पर वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत इतना ही अनैतिक हो जाता है जितना कि वह इस दृष्टि से मूर्खतापूर्ण है।

परन्तु यदि आर्थिक वर्ग चेतना अन्य समूह-भक्तियों से समानता रखती है, तो उनकी तरह इसका अतिक्रमण किया जा सकता है। जब राष्ट्रीयता पागलपन का रूप धारण कर लेती है, तब वह समाज के लिये भयानक हो जाती है, क्योंकि तब वह यह कल्पना कर लेती है कि व्यक्ति अन्य देशों से द्वेष किये बिना अपने देश से प्रेम नहीं कर सकता। परन्तु इन दोषों को दूर करने के लिये राष्ट्रों की भिन्नता अस्वीकार भर कर लेने या यह कह देने से कि राष्ट्रों में हित-विरोध होना असम्भव है, काम नहीं चलेगा। इसकी असली औषध यही है कि मनुष्यों को बताया जाय कि वे अपने राष्ट्र का और उसके साथ-साथ राष्ट्र-समूह का हित देखें; और विरोध के प्रमुख कारणों को दूर करने के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित किया जाय। इसी प्रकार यह सम्भव है कि वर्ग-चेतना एक ऐसी मानसिक अवस्था में परिवर्तित

हो जाय जब कि मनुष्य सोचने लगे कि अन्य वर्ग के सदस्यों से द्वेष करना उनसे प्रेम करने से अधिक आवश्यक है। परन्तु इसकी औषध वर्गों के अस्तित्व को अस्वीकार करना अथवा यह कहना कि समाज में हित-विरोध असम्भव है, नहीं है। इसका उपाय तो यही है कि मनुष्यों को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वे अपने वर्ग तथा समाज दोनों की हित-वृद्धि करें; और समाज को इस रूप में संगिठत किया जाय कि उसमें सामाजिक विभिन्नता को लोप हो जाय।[८]

मार्क्सवाद के और किसी सिद्धान्त की शायद इतनी निंदा और समालोचना नहीं की गई है जितनी कि श्रेणी-युद्ध की धारणा की। कुछ मनुष्यों का विचार है कि यह सिद्धांत सब से अधिक विषपूर्ण सिद्धांत है, क्योंकि इसका आशय मनुष्यों के हृदय में घृणा उत्पन्न करके उनमें युद्ध कराना है।[९] खेद है कुछ समाजवादियों ने बिना ठीक-ठीक विचार किये हुये, इस सिद्धांत की त्रुटि को मान लिया है। रैमज़े मैकडानल्ड लिखते हैं कि वर्ग युद्ध का विचार समाजवाद को संगठित करने वाली तथा समाजवादी आंदोलन को बनानेवाली प्रधान शक्तियों को व्यक्त नहीं करता। वे मनुष्य जो इसको अब भी प्रयोग में लाते हैं उन पिछड़े हुए धार्मिक सम्प्रदायों की भाँति हैं जो अब भी अपने ईश्वरवाद को उन शब्दों व्यक्त करते हैं जो भूगर्भ-विज्ञान के पहले प्रयोग में लाये जाते थे।[१०] इस सिद्धांत की आलोचना के दो

---

[८] Lindsay, *Karl Marx's Capital*, Chapter II. इस विषय पर G. D. H. Cole ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *What Marx Really Meant* में अच्छी और विस्तार पूर्वक विवेचन की है। देखिये-पृष्ठ २४-२४; और अध्याय ४, ५।

[९] देखिये Shadwell, *The Socialist Movement*, p. 108; Kirkaldy, *The Romance of Trade*; *Flent, Sacialism*; इत्यादि।

[१०] MasDonald, *The Socialist Movement*, p. 150

रूप हैं। कुछ लोग तो सामाजिक वर्गों के अस्तित्व को ही नहीं मानते और कुछ मार्क्सवादियो को श्रेणी-द्वेष फैलाने का दोषी मानते हैं।

पहले हम इस बात पर विचार करेंगे कि वास्तव में वर्गों का कोई अस्तित्व है या नहीं। ऊपर के विस्तीर्ण विवेचन से वर्गों के होने में अविश्वास करने का कोई कारण समझ में नहीं आ सकता। वर्गों का अस्तित्व आदिकाल से रहा है। जब युद्ध में कैदियों को मार डालने की प्रथा बंद हो गई और उन्हें दास बनाना प्रारम्भ हो गया उस समय से ही वर्गीकरण का भी सूत्रपात हुआ। दासों के तथा उनके स्वामियों के हितो में विरोध स्पष्ट है। पुराने समय में दास-विद्रोह का भी प्रसंग मिलता है और इन विद्रोहो को क्रूरतापूर्वक दमन करने का भी ज़िक्र इतिहास में है।

सामंत-प्रथा में भी सामाजिक वर्ग विद्यमान थे। भूमिपति और दास (Serf) के स्वार्थ एक दूसरे के विपरीत थे। थोड़े समय पश्चात् एक मध्य-वर्ग का उदय हुआ। दास मध्य-वर्ग में मिल गये। इस नवीन वर्ग और सामंत वर्ग में खूब संघर्ष रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक मध्य-वर्ग शक्तिशाली होकर शासक तथा स्वामी-वर्ग बन गया। यही आज कल का शोषक वर्ग है। समय की प्रगति के साथ और आर्थिक तथा व्यवसायिक उन्नति के फलस्वरूप समाज में एक शोषित-वर्ग का भी जन्म हुआ, और नीचे वर्ग में से ऊँचे वर्ग में जाना कठिन होता गया यहाँ तक कि आजकल ऐसा होना दुष्कर ही है। यह स्पष्ट है कि यथासम्भव सस्ता माल तैयार करना और लाभ की उच्चतम दर पर बेचना जहाँ मालिकों के स्वार्थ का पोषक है वहाँ मज़दूरों के स्वार्थ से उसका विरोध है, क्योंकि वे कम से कम उद्योग के लिये अधिक से अधिक मज़दूरी चाहते हैं और माल सस्ते मूल्य पर खरीदना चाहते हैं। विशेष रूप से स्वामि-भक्त और सुयोग्य व्यक्ति व्यापार में अग्रगण्य अथवा भागी भी हो सकता है, किंतु यदि सभी मज़दूर समान रूप से स्वामि-भक्त और सुयोग्य होते, तो सामूहिक

रूप से उनकी अवस्था आज से अच्छी न होती। यदि वह अधिक माल तैयार करते, तो प्रतियोगितात्मक व्यवस्था के कारण उनकी मज़दूरी और भी कम होती। अतः मालिक और मज़दूरों के व्यक्तिगत स्वार्थों में मौलिक विरोध है। ऐसी दशा में यदि कोई वर्गों का अस्तित्व न माने तो इसका इलाज ही क्या है ! यदि कोई सूर्य के सम्मुख मुँह करके कहे कि सूर्य सामने है ही नहीं, तो उसकी कोई औषध नहीं।

अब हम दूसरी आलोचना पर विचार करेंगे जो मार्क्सवादियों और समाजवादियों को वर्ग-संघर्ष फैलाने का जिम्मेदार ठहराती है। ये आलोचक वर्ग के अस्तित्व को तो मानते हैं, परन्तु उनके हित-विरोध की इस भावना को अस्वीकार करते हैं कि पूँजीपतियों और मज़दूरों के हित में असमानता है। एक ही बात में दोनों का भला और दोनों का बुरा है। जो व्यवसायिक झगड़े जैसे हड़ताल इत्यादि होते हैं वे पूँजी और श्रमी में असामंजस्य का या कट्टर समाजवादियों के कार्यों का दुष्परिणाम हैं। हर्नशा लिखते हैं कि श्रेणी युद्ध त्रुटिपूर्ण ही नहीं वरन् भयंकर है। यह एक त्रुटि-पूर्ण सिद्धांत से अधिक है; यह एक अकारण और घृणास्पद युद्ध की पुकार है। यह उस अवस्था की ओर संकेत करता है जिसमें समष्टिवादी रूढ़िगत सिद्धांत एक क्रियात्मक और क्रांतिवादी आसुरिकता में परिणत हो जाता है। वस्तुतः शांति का चिह्न न होने पर 'शांति-शांति' चिल्लाने वाले मनुष्य की भर्त्सना की जाय। युद्ध का चिह्न न होने पर भी 'युद्ध-युद्ध' चिल्लाने वालों के द्वारा की गई भर्त्सना का क्या परिणाम लगाया जा सकता है ?[११]

ये आलोचक वास्तव में सच्चे और ईमानदार हैं, परन्तु अभाग्यवश इस सिद्धांत के विषय में उनकी धारणा गलत है। इसमें इस बात की कल्पना की गई है कि समाजवादी श्रेणी-युद्ध कराते हैं। मर वास्तव में वे वर्तमान श्रेणी-युद्ध की ओर, जो वर्तमान

[११] देखिये Hernshaw, *A Survey of Socialism*, p. 247

सामाजिक परिस्थितयों का तथा पूँजीपतियों के शोषण और लालच का परिणाम है, समाज का ध्यान आकर्षित करते हैं । समाजवादियों के दृष्टिकोण से से श्रेणी-युद्ध सामाजिक विकास का एक नियम है जिसके लिये समाजवादियों का उतना ही उत्तरदायित्व है जितना कि आइंस्टाइन का सापेक्षिकता के सिद्धांत (Theory of Relativity) के लिये या न्यूटन का आकर्षण-नियम (Law of Gravitation) के लिये । समाजवादी आन्दोलन के प्रारम्भ होने के सहस्रों वर्ष पूर्व से ही श्रेणी-युद्ध चला आ रहा है ।

कुछ समालोचक कभी-कभी यह भी कहते हैं कि समाज में वर्गीकरण तो है, परन्तु वह केवल आर्थिक ही नहीं । आर्थिक वर्गीकरण को अन्य धार्मिक, राजनीतिक, भौगोलिक आदि वर्गीकरण काट देते हैं जिससे शोषित और शोषक वर्गों का कोई महत्व नहीं रह जाता । उदाहरणार्थ, मज़दूर सभा और ट्रस्ट मिलकर संरक्षण की माँग करते हैं । पूँजीपति और मज़दूर मिलकर उपभोक्ताओं से अधिक मूल्य वसूल करते हैं । मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियाँ खुलने से और लाभ विभाजक प्रणाली के सूत्रपात से स्वयं मज़दूर पूँजीपति बन जाते हैं । यह सब कुछ ठीक है, परन्तु यह अन्य वर्गीकरण आर्थिक वर्गीकरण के सम्मुख कुछ भी महत्व नहीं रखते । मार्क्स ने स्वयं वर्तमान समाज में दो से अधिक वर्गों का अस्तित्व स्वीकार किया था ।[१२] परन्तु उनका कथन था कि इन दो वर्गों के अतिरिक्त अन्य वर्ग छोटे और अचिरकालीन हैं । सामूहिक रूप से समाज दो बड़े-बड़े विरोधी दलों में अधिकतर विभक्त हो रहा है ।[१३]

---

[१२] देखिये Marx, *Eighteenth Burmare*. इसमें उन्होंने पाँच वर्ग बनाये हैं : किसान, छोटे पूँजीपति, जमींदार, बड़े-बड़े पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग । *Revolution and Counter Revolution in Germany* नामक पुस्तक में उन्होंने ८ वर्गों का वर्णन किया है ।

[१३] *Communist Monifesto*, p. 13

अध्याय २०

मार्क्स का अर्घ सिद्धांत

अब हम मार्क्सवाद के आर्थिक पहलुओं, अर्थात् अर्घ के श्रमी-सिद्धांत और अतिरिक्तार्घ सिद्धांत, का विवेचन करेंगे। यह मार्क्सवाद का सब से कठिन और सूक्ष्म अंग है। इसको समझने के लिये पर्याप्त धैर्य, बुद्धिमानी और परिश्रम आवश्यक हैं। इसी कारण इसके विषय में इतनी भ्रांतियाँ फैल गई हैं। पूँजीवादी पक्षपात के पर्दे में से मार्क्स के वास्तविक अर्थ को नहीं देख पाये हैं और इसलिये उन्होंने इसकी जी खोल कर निन्दा की है। यही नहीं बल्कि स्वयं समाजवादियों ने भी इसकी सत्यता में अविश्वास प्रकट किया है। इस सिद्धांत के कारण मार्क्स पर जो दोष लगाए गये हैं उन्हें पढ़कर किसी भी अपक्षपाती हृदय पर आघात हुए बिना नहीं रह सकता। उदाहरणार्थ, हर्नशा लिखते हैं[1] कि मार्क्स का अर्घ का श्रमी सिद्धांत (Labour Theory of Value) और उसकी शाखा अतिरिक्तार्घ सिद्धांत मार्क्स के विकृत परिश्रम का दुष्परिणाम है। यह पूर्णरूप से अनुपयुक्त और बनावटी है और अनेक प्राचीन अर्थशास्त्रियों के त्रुटिपूर्ण विचारों से निर्मित किया गया है। मार्क्स ने उसको इस प्रकार से रक्खा है कि साधारण रूप से मनुष्य उसकी त्रुटियों को नहीं पहचान सकते। ब्रेजल का कथन है कि यह एक काल्पनिक कहानी के रूप में है जो अपरिचित मनुष्यों को भुलावे में डालनेके लिये बनाई गई थी।[2] रैमजे मैकडानल्ड ने भी

---

[1] देखिए Hernshaw, *A Survey of Socialism*. p. 25.

[2] Brasol, *Socialism Versus Civilization*, p. 14.

अपनी पुस्तक में लिखा है कि यह कथन कि समस्त धन श्रमी से पैदा किया जाता है पूर्ण रूप से सत्य नहीं है और अर्घ का श्रमी सिद्धांत भाषा के साधारण अर्थ पर आघात पहुँचाता है।[३] तुगन बैरेनास्की का विचार है कि यद्यपि मार्क्स ने अपनी वैज्ञानिक प्रणाली को बनाने के लिये अपनी मानसिक शक्ति का प्रयोग किया और उसका व्यावहारिक राजनीति पर प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा, तथापि अतिरिक्तार्घ का सिद्धांत (Theory of Surplus Value) जैसा कि उनके द्वारा बनाया गया, विज्ञान के द्वारा पूर्ण रूप से अमान्य है। श्रमी अर्घ का सारांश नहीं है।[४] ए० डी० लिंडसे, जिन्होंने मार्क्स के विचारों की ठीक-ठीक व्याख्या करने में काफी सहायता पहुँचाई, लिखते हैं कि मार्क्स के अर्घ के श्रमी सिद्धांत की वर्तमान दशा बहुत अद्‌भुत और असंतोषप्रद है। बहुत से समाजवादी इस सिद्धांत को मार्क्सवाद का प्रमुख अंग मानते हैं, परंतु बहुत से अन्य समाजवादी और लगभग सभी विद्वान् अर्थशास्त्री इसे पुराना और अरक्ष्य सिद्धांत मानते हैं। फ़ावियन समाजवादियों ने बहुत समय से ही इसे अमान्य ठहरा दिया है। लास्की ने, जिन्होंने मार्क्सवाद की संवेदनापूर्ण विवेचना की है, इस सिद्धांत को व्यर्थ बताया है। बीअर भी, जिन्होंने मार्क्स के विचारों में सत्यता का प्रतिपादन किया है, इस सिद्धांत को अरक्ष्य बताते हैं। बहुत से मार्क्सवाद के विरोधी लेखकों का आम व्यापार इस सिद्धांत की बुराइयों को खोलना हो गया है। ये लोग बहुधा इस बात पर बहस करते हैं कि क्योंकि मार्क्स का श्रमी सिद्धांत त्रुटिपूर्ण है, अतएव उनके अन्य सिद्धांत भी दोषपूर्ण है, परंतु वे रिकार्डो के विषय में यही नियम नहीं लगाते। यदि ऐसा मान लेना ठीक है कि एक प्रणाली के दुर्बल स्थल वे हैं जिन पर उसके विरोधी आक्षेप करते हैं, तो अर्घ का

---

३ MacDonald, *Socialism*.

४ Tugon-Barenowsky, *Modern Socialism*, p. 52-55.

अभी सिद्धांत बहुत से मार्क्सवादियों के लिये मार्क्सवाद का दुर्बल स्थल होगा।[५]

इन सब आलोचनाओं के अध्ययन के पश्चात् अमेरिकन समाजवादी, स्पार्गो और आर्नर का विवेचन घाव पर शीतल लेप की तरह काम करता है।[६] उनकी पुस्तक से एक अद्भुत प्रकाश और शांति मिलती है। इसलिये मार्क्सवाद के आर्थिक पहलुओं का वर्णन उन्हीं की पुस्तक का आधार लेकर किया जायगा।

यद्यपि मार्क्सवाद के आर्थिक सिद्धांतों के विद्यार्थियों का कार्य दुर्गम है, तथापि यदि वे अपने मार्ग की कठिनाइयों को पहले ही समझ लें और सावधानी से काम करें तो वह सुगम हो सकता है। पहली बात तो यह कि मार्क्स के बहुत से विद्यार्थी और आलोचक उनके अध्ययन के पूर्व ही अपने मस्तिष्क में उनके विचारों का सारांश निश्चित कर लेते हैं और इस प्रकार निश्चित् किये हुये विचार वास्तव में मार्क्स के विचारों से भिन्न होते हैं। इस कारण वे मार्क्स के बिचारों की असलियत को नहीं पहुँच पाते और मार्क्स के विषय में बहुत से भ्रमपूर्ण और ग़लत विचार फैला देते हैं। इसलिये अपने मस्तिष्क से पूर्व के सब विचारों को बाहर निकाल देना चाहिये और मार्क्स का अध्ययन एक दम नये सिरे से करना चाहिये मानों उन्होंने मार्क्स का नाम पहले कभी सुना ही नहीं। विद्वत्ता का यही सच्चा तरीका है।

दूसरे, किसी भी विषय का अध्ययन प्रारम्भ से करना चाहिये, बीच या अन्त से नहीं। मुख्यतः मार्क्स जैसे बिद्वान् के अध्ययन में ऐसी आदत बहुत भयानक है, क्योंकि मार्क्स उपयुक्त तर्क के साथ एक सीढ़ी के पश्चात् दूसरी सीढ़ी पर क्रमपूर्वक चलते हैं। यदि हम उनको

---

[५] Lindsay, *Karl Marx's Capital*, p. 53.

[६] Spargo and Arner, *Elements of Socialism*.

प्रारम्भ से ही नहीं समझेंगे, तो हमको कठिनाइयों का सामना करना अवश्यंभावी है।

अंतिम बात है यह कि मार्क्सवाद को कई भागों में विभाजित कर देना और प्रत्येक भाग का एकांतिक अध्ययन करना अभीष्ट नहीं। मार्क्स के विद्यार्थी को चाहिये कि वह अर्थ के सिद्धांत को मार्क्स की ऐतिहासिक व्याख्या से अलग न माने; अन्यथा वह आधुनिक विचार, प्रणाली में मार्क्स की देन को ठीक प्रकार नहीं समझ पायगा, और न वह अर्थ-सिद्धांत की सीमाओं को ही भली भाँति समझ सकेगा। दूसरे शब्दों में, जब मार्क्स कहते हैं कि अमुक परिस्थिति में अमुक कारणों के क्या परिणाम होंगे, तब यदि कोई विद्यार्थी उन परिस्थितियों की उपेक्षा करे तो उसे मालूम पड़ेगा कि बहुत सी अवस्थाओं में उन कारणों के कथित परिणाम नहीं होते। इसलिये वह कहने लगेगा कि मार्क्स ग़लती पर थे, यद्यपि उसने स्वयं ही मार्क्स को समझने में गलती की है।

[एक]

मार्क्स का सामाजिक दृष्टिकोण—मार्क्स अपने अमर ग्रंथ "कैपीटल" में, कुछ निश्चित परिस्थितियों के अंतर्गत, केवल धन की उत्पत्ति और उसके विनिमय पर प्रकाश डालते हैं। इन सीमाओं को ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक है। वे अपने ग्रंथ को पूँजीवादी उत्पत्ति का विश्लेषण कहकर वर्णन करते हैं और प्रथम अवतरण में कहते हैं कि उन समाजों का धन, जिनमें उत्पत्ति की पूँजीवादी प्रणाली प्रचलित है, अनेक पण्यों (Commodities) के संग्रह के रूप में प्रकट होता है, और उसकी इकाई पण्य है।

यह वाक्य हमारे लिये बहुत महत्व का है क्योंकि यह मार्क्स के सामाजिक दृष्टिकोण पर तथा उनके सामाजिक विकास के सिद्धांत और आर्थिक सिद्धांतों के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है। पण्य

के रूप में धन केवल उन्हीं समाजों में संचित होता है जहाँ उत्पत्ति की पूँजीवादी प्रणाली प्रचलित है। सामाजिक उन्नति के अन्य दर्जों में धन के अन्य रूप होते हैं, पर उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि हम केवल पूँजीवाद का ही अध्ययन कर रहे हैं। इसलिए हमारा प्रथम कार्य धन की इकाई, अर्थात् पण्य, की प्रकृति को समझ लेना है। साधुओं, वैरागियों या "आर्थिक मनुष्यों" के उदाहरण हमारे काम के नहीं क्योंकि संगठित समाज में उनका कोई स्थान नहीं। इसलिये प्रारम्भ में ही हम मार्क्स के तरीके के तर्क से उनकी सैद्धान्तिक प्रणाली के एकांतिक रूप को मानने के लिये बाध्य हो जाते हैं। उनका आर्थिक-सिद्धांत एक ख़ास युग—पूँजीवादी युग—में उनके ऐतिहासिक विकास के सामान्य सिद्धांत का स्थापन मात्र है।

पण्य की परिभाषा—इस प्रकार सामाजिक विकास के पूँजी-वादी युग में धन की इकाई पण्य है। इसलिये धन की उत्पत्ति पण्य की उत्पत्ति के रूप में होती है। पर पण्य है क्या? मार्क्स इसका उत्तर बहुत स्पष्ट ढंग में देते हैं। पण्य वह भौतिक पदार्थ है जो मनुष्यों की आवश्यकताओं को संतुष्ट करता है। आवश्यकता के स्वभाव से हमें कोई मतलब नहीं। आवश्यकता चाहे विशुद्ध भोजन और स्वच्छ घर की हो, या शराब, भाँग या गाँजे की। असली बात यह है कि पण्य में उपयोगिता होना आवश्यक है, अर्थात् मनुष्यों की आवश्यकता को संतुष्ट करने की सामर्थ्य होना जरूरी है। पदार्थ के इस गुण को भोग्यार्घ (Use-Value) कहते हैं।

परन्तु प्रत्येक भोग्यार्घ वाले पदार्थ का पण्य होना आवश्यक नहीं। बहुत से पदार्थों में भोग्यार्घ होता है, पर वे पण्य नहीं होते। उदा-हरणार्थ, धूप, वायु, प्रकाश इत्यादि। इन वस्तुओं के बिना हमारा जीवन कठिन है, और इसलिये इनके भोग्यार्घ का माप भी नहीं हो सकता। परन्तु ये विनिमयसाध्य नहीं और इसलिये ये पण्य नहीं। इसलिये मार्क्स कहते हैं कि किसी पादर्थ के पण्य कहलाने के लिये दो

गुणों का होना आवश्यक है—(१) भोग्यार्घ का और (२) विनिमय-साध्यता या विनिमयार्घ का। उसमें न केवल उपयोगिता ही होनी चाहिये, वरन् उसका अन्य वस्तुओं के साथ विनियम होने के योग्य होना भी आवश्यकीय है।

विनिमयार्घ—जब हम कहते हैं कि अमुक पदार्थ में विनिमयार्घ है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह पदार्थ बिक सकता है या उसके बदले में हमें दूसरा पदार्थ मिल सकता है। परन्तु विनिमय और बिक्री दो या दो से अधिक मनुष्यों में सामाजिक सम्बन्ध की ओर संकेत करते हैं, पदार्थों के भौतिक गुणों की ओर नहीं। भोग्यार्घ किसी पदार्थ का आंतरिक गुण है। यदि मुझे एक कमीज़ की आवश्यकता है और मैं अपने नाप की एक कमीज़ सीं लेता हूँ, तो कमीज़ में मेरे लिये आंतरिक भोग्यार्घ है। पर यदि मैं उसे बेचना चाहूँ या किसी से उसका बदला करना चाहूँ, तो शायद उसका कोई ग्राहक न मिले। उस कमीज़ की शायद किसी को आवश्यकता ही न हो। उसमें विनिमयार्घ नहीं। स्पष्टतया विनिमयार्घ एक सामाजिक विचार है। यह वांछना पर निर्धारित है। जब तक कि एक पदार्थ अपने स्वामी के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों द्वारा वांछित नहीं होगा, तब तक उसमें विनिमयार्घ नहीं होगा। जब एक वस्तु अन्य व्यक्तियों द्वारा भी वांछित होती है, तब हम कहते हैं कि उसकी सामाजिक उपयोगिता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पदार्थ में पण्य कहलाने के लिये दो बातें होना आवश्यक है। पहले तो वह उपयोगी होनी चाहिये (अर्थात् उसमें भोग्यार्घ होना चाहिये)। अन्य शब्दों में, उसमें अपने स्वामी की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। दूसरे उस पदार्थ में सामाजिक उपयोगिता होनी चाहिये (अर्थात् उसमें विनिमयार्घ होना चाहिये)। अन्य शब्दों में उसमें अपने स्वामी के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की सामर्थ्य होनी चाहिये।

पण्यों का विनिमय—असभ्य समाज में निज के प्रयोग के लिये मनुष्य धन उत्पन्न करते थे। परन्तु वर्तमान व्यावसायिक समाज में व्यक्ति-समूह विनिमय के लिये धन उत्पन्न करते हैं। कारख़ानों में सहस्त्रों काम करने वाले मज़दूर केवल अपने और अपने मालिक के प्रयोग के लिये माल उत्पन्न नहीं करते, वरन् वे ऐसे पदार्थ बनाते हैं जो अन्य स्त्री-पुरुष भी अपने प्रयोग के लिये ख़रीदेंगे। इस प्रकार पूँजीवादी समाज का आर्थिक जीवन पण्यों की उत्पत्ति और लाभ के लिये उनकी विनिमय क्रियाओं में संलग्न है। जब समाजवादी यह कहते हैं कि पूँजीवाद में धन की उत्पत्ति लाभ के लिये होती है, प्रयोग के लिये नहीं, तो उनका यही तात्पर्य होता है।

पण्यों का विनिमय अदल-बदल या बार्टर के द्वारा नहीं होता। मोची अपने बनाये हुए जूते लेकर हलवाई के पास उनके बदले में मिठाई-पूरी लेने नहीं जाता। इसके स्थान में, वह जूते द्रव्य के बदले में बेचता है, और फिर उस द्रव्य से मिठाई-पूरी ख़रीद लेता है; इस प्रकार आजकल विनिमय द्रव्य द्वारा होता। परन्तु द्रव्य का माध्यम केवल नाममात्र के लिये है। यदि हम द्रव्य का पर्दा हटा कर विनिमय की वास्तविकता को देखें तो हमें विदित होगा कि क्रय-विक्रय और अदल-बदल में कुछ भी अंतर नहीं। यदि एक जोड़ी जूता दो रुपये में बिक सकता है और दो रुपये में दो सेर मिठाई और दो सेर पूरी मिल सकती हैं तो हम कह सकते हैं कि एक जोड़ी जूते और चार सेर पूरी-मिठाई का विनिमयार्घ समान है।

सापेक्षिक विनिमयार्घों का निर्धारण—अब प्रश्न यह उठता कि पण्यों के सापेक्षिक विनिमयार्घों का निर्धारण कैसे होता है। यहाँ हम एक पाव सोना और एक टाइपराइटर का उदाहरण लेते हैं, क्योंकि उनके विनिमयार्घ लगभग बराबर माने जा सकते हैं और वे एक दूसरे से बहुत भिन्न भी हैं। ये दो पदार्थ, आकार और कार्यों में इतने भिन्न होते हुये भी बाजार में समानता के आधार पर क्यों

बदले जाते हैं ? इसको समझने के लिये पूँजीवादी समाज के आर्थिक यंत्र को भली भाँति समझना आवश्यक है।

पाठकों को यहाँ पर यह प्रतीत होगा कि हमारा पण्य का विश्लेषण इस समस्या को सुलझा सकता है। यदि एक पदार्थ में भोग्यार्घ होते हुये भी आर्थिक दृष्टि से अनार्घ हो सकता है और यदि विनिमयार्घ होने के लिये उसमें सामाजिक भोग्यार्घ होना आवश्यक है, तो स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक उपयोगिता की सापेक्षिक सीमाएँ या मात्राएँ सापेक्षिक अर्घों को निर्धारित करती हैं। इस तात्विक कल्पना पर ही अर्घ की सीमान्त उपयोगिता और माँग और पूर्ति वाले सिद्धांत आधारित हैं। इस विषय का हम बाद में विवेचन करेंगे। यहाँ हमारा उद्देश्य केवल यह प्रगट करना है कि मार्क्स का अर्घ-सिद्धांत इस बात की कल्पना नहीं करता कि सापेक्षिक सामाजिक उपयोगिता का विनिमयार्घ पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता। पर सापेक्षिक सामाजिक उपयोगिता का उसी प्रकार के पण्यों के विनिमयार्घ पर कुछ भी प्रभाव हो, यह विभिन्न पण्यों के सापेक्षिक अर्घ की व्याख्या नहीं है। एक पाव सोने की सापेक्षिक सामाजिक उपयोगिता एक टाइपराइटर की सापेक्षिक सामाजिक उपयोगिता से भिन्न हो सकती है। यदि हम एक तीसरी वस्तु, उदाहरणार्थ चश्मे, का और अनुमान कर लें, जो इन दोनों से आकार, कार्य और सापेक्षिक सामाजिक उपयोगिता में बहुत विभिन्न है, तो भी इसका उन दोनों से समानता के आधार पर विनिमय हो सकता है।

मार्क्स पूर्व के अर्थशास्त्रियों का मत—यदि हम अनेक विभिन्न पण्यों का विश्लेषण करें तो हमें उनमें एक सामान्य बात मालूम पड़ेगी। वे आकार, रूप, तौल, रंग, कार्य, उपयोगिता तथा सामाजिक उपयोगिता आदि में भिन्न हो सकते हैं पर उनमें एक बात यह सामान्य होगी कि वे सब मनुष्य की श्रमी की उपज हैं, या मार्क्स के शब्दों में, "Crystallization of human labour-

Power" है। अर्थशास्त्र की यह एक स्वयं-सिद्धि (axiom) है कि सब धन मनुष्य की श्रमी को प्राकृतिक साधनों पर लगाने से उत्पन्न होता है और इसलिये धन की प्रत्येक इकाई श्रम शक्ति का समुच्चय है। समाजवादियों ने उस बड़ी समस्या को सुलझाने के लिये, जो पूँजीवादी समाज में विनिमय-प्रणाली का हृदय है, इसी कुंजी का आविष्कार किया है। पण्यों में जितनी श्रम-शक्ति का समावेश होता है उसका उनके सापेक्षिक अर्घों से कुछ सम्बन्ध है, इस पर तो सभी आधुनिक अर्थशास्त्री राज़ी हैं।

मार्क्स के पूर्व बहुत से आदरणीय अर्थशास्त्रियों ने इस मत को प्रकट किया था पण्यों की उत्पति में खर्च की गई श्रम-शक्ति की सापेक्षिक मात्रा ही उनके सापेक्षिक अर्घ को निर्धारित करती है। कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन करके, सत्रहवीं शताब्दी में सर विलियम पैटी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी में जॉन स्टुअर्ट मिल तक सब अर्थशास्त्री इसी मत के समर्थक थे।

सर विलियम पैटी का मत—सर विलियम चाँदी और अनाज की तुलना करते हैं। वे कहते हैं कि यदि एक मनुष्य पेरू की भूमि से उतने ही समय में एक औंस चाँदी लंदन को ला सकता है जितने में वह एक मन अनाज उत्पन्न कर सकता है, तो एक दूसरे का स्वाभाविक अर्घ है। यदि नवीन तथा सुगम खानों की सहायता से वह मनुष्य इतनी ही सुगमतापूर्वक दो औंस पैदा कर सकता है जितनी सुगमता से उसने पहले एक औंस पैदा किया था, तो अनाज दस शिलिङ्ग प्रति मन के हिसाब से उतना ही सस्ता होगा जितना कि पहले पाँच शिलिङ्ग प्रति मन के हिसाब से था, बशर्ते कि अन्य वस्तुएँ उसी अवस्था में रहें।[७]

---

[७] William Petty, *A Treatise on Taxes and Constutions* (1662), pp. 31-32.

ऐडम स्मिथ का मत—ऐडम स्मिथ ने भी इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। वे लिखते हैं कि प्रत्येक वस्तु का वास्तविक मूल्य उसके प्राप्त करने के परिश्रम तथा कष्ट से निर्धारित होता है। जो मनुष्य किसी वस्तु को प्राप्त कर चुका है और उसको बेचना अथवा बदलना चाहता है, वह यह चाहता है कि उसे उस मेहनत तथा मज़दूरी का अर्घ प्राप्त हो सके जो उस वस्तु के बनाने में पड़ी थी। प्रथम अर्घ श्रमी है जो समस्त वस्तुओं के प्राप्त करने में लगाई जाती है। उदाहरणार्थ, यदि शिकारियों के एक समूह को एक शेर को मारने में एक हिरन की अपेक्षा दूना श्रम करना पड़ता है, तो स्वाभाविक रूप से एक शेर का अर्घ दो हिरनों के मूल्य के बराबर होगा। यह स्वाभाविक ही है कि जो सामान्यतः दो दिन अथवा दो घंटे की उपज है, उसका अर्घ एक दिन अथवा एक घंटे की उपज के अर्घ से दूना हो।[८]

रिकार्डो का मत—इस बात के निश्चय के लिये कि श्रमी का परिमाण ही विनिमयार्घ की वास्तविक नींव है, हमको उन विभिन्न क्रियाओं में से जिनमें से कच्ची कपास को बाजार में बिकते हुए तैयार मोजों के रूप में परिवर्तित होने के लिये गुज़रना पड़ता है, किसी एक में श्रमी को कम करके तरक्की की कल्पना कर लेनी चाहिये, और उसके परिणाम को ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। यदि कपास को पैदा करने में, उसे जहाज़ द्वारा लाने में, उसके कारखाने को चलाने में कम मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती है, तो उसका अर्घ अवश्य कम हो जायगा, और उसके विनिमय में कम वस्तुएँ मिल सकेंगी। अर्घ इसलिये गिर जायगा क्योंकि उनकी उत्पत्ति के लिये कम श्रमी की आवश्यकता थी, और इसलिये वे वस्तुएँ विनिमय में कम मिलेंगी जिनमें पहले से ही कम से कम श्रमी लगाई गई है।[९]

---

[८] Adam Smith, *The Wealth of Nations*, Vol. 1, Chapters V-VI.

[९] Ricardo, *Principles of Political Economy and Taxation*, Chap 1, 1iii.

जॉन स्टुअर्ट मिल का मत—मिल लिखते हैं कि प्रत्येक पण्य जिसकी पूर्ति श्रमी और पूँजी द्वारा अनिश्चित रूप से बढ़ाई जा सकती है विनिमय में उतनी ही वस्तुएँ लाती है जो पूर्ति के सब से अधिक मूल्यवान अंग की उत्पत्ति और उसके बाज़ार में लाने के खर्च के अनुपात से ठीक पड़ती हो।[१०] एक दूसरे स्थान पर वे कहते हैं कि उत्पत्ति के मूल्य के सहायक अंगों में श्रमी का ही विशेष स्थान होता है।

अर्घ के श्रमी-सिद्धान्त का अर्थ—ऊपर के उदाहरणों से यह न समझ लेना चाहिये कि ये सब अर्थशास्त्री सब प्रकार की श्रमी को एक ही दृष्टि से देखते थे और एक गँवार मज़दूर की एक घंटे की मज़दूरी को एक कुशल मज़दूर की एक घंटे की श्रमी के बराबर मानते थे; न उनका यही मतलब था कि 'श्रमी' के अंतर्गत केवल साधारण शारीरिक श्रमी आती है। इस कथन में कि पण्यों का अर्घ उनके उत्पन्न करने में खर्च की हुई श्रमी की मात्रा से निर्धारित होता है, वे एक सामान्य नियम की ओर संकेत कर रहे थे, न कि किन्हीं विशेष पण्यों में उसके विभिन्न रूपों की ओर। इस बात पर लेखक जोर नहीं देते हैं, पर इसको पूर्ण रूप से समझना अत्यंत आवश्यक है। यह भी स्पष्ट ही है कि वे औसत श्रमी की ओर अर्थात् औसत होशियारी और उत्पादन शक्ति की ओर संकेत कर रहे थे। साथ ही साथ यह प्रकट होता है कि 'श्रमी' से उनका तात्पर्य किसी व्यक्ति-विशेष या व्यक्ति-समूह की श्रमी से नहीं था, प्रत्युत 'सामाजिक श्रमी' से था। इस प्रकार जब रिकार्डो श्रमी के परिमाण के विषय में कहते हैं, तो वे केवल उन्हीं मज़दूरों की श्रमी के विषय में नहीं कहते जो मोजे बनाने में स्पष्ट रूप में संलग्न हैं, परन्तु वे समस्त श्रमी की ओर, यहाँ

---

१० J. S. Mill, *Principles of Political Economy*, Book II, Chapter VI.

तक कि उन इमारतों की ओर भी जहाँ पर कपास एक जगह से दूसरी जगह लाई जाती है, संकेत करते हैं।

मार्क्स और अर्घ का श्रमी सिद्धान्त—मार्क्स ने सामाजिक श्रमी को अर्घ का आधार और माप मानने वाले विचार का और विकास किया। मार्क्स ने इस बात का अनुभव किया कि आधुनिक कल-युग में किसी वस्तु-विशेष की उत्पत्ति में व्यय की गई श्रमी का अनुमान लगाना असम्भव है। उदाहरणार्थ, एक मेज़ को ले लीजिये। यदि हम पेड़ गिराने, तख़्ते बनाने, और मेज़ बनाने में लगाई गई श्रमी का भी अनुमान कर लें, तो भी हम सामाजिक श्रमी के उस भाग को जो प्रयोग में लाये गये औज़ारों के बानाने में लगाया गया है, या औज़ार बनाने वालों की श्रमी को, या उससे भी पूर्व कोयले और लोहे की खान खोदने वालों की श्रमी को नहीं नाप सकते। यह तो एक साधारण विषय की बात हुई। यदि हम एक पेचीदा वस्तु का उदाहरण ले लें तो कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं और यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु-विशेष में लगाई गई सामाजिक श्रमी का अनुमान लगाना मनुष्य की शक्ति के बाहर है, और प्रति-दिन वस्तुओं के क्रय-विक्रय में ख़रीदने या बेचने वाले पण्यों में लगी हुई सापेक्षिक श्रमी को नापा नहीं जा सकता। इसलिये यदि पण्यों का मूल्य उनके उत्पन्न करने में व्यय की गई श्रमी के आधार पर निश्चित होता है, तो यह नियम सामान्य होना चाहिये जिससे कि वह पूर्णरूप से उत्पत्ति तथा विनिमय की प्रणाली पर लागू हो सके और स्वयं ही कार्य-शील हो सके। वह केवल किसी पण्य-विशेष के ही प्रति लागू न हो।

वस्तुतः मार्क्स इसी बात का दावा करते हैं। पूँजीवादी समाज में पण्य के सामान्य नियम की तलाश में जिसके द्वारा उपज के कुछ समूहों का उपज के दूसरे समूहों के विरुद्ध अर्घ निर्धारित किया जाता है, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पण्यों का अर्घ नियमित रूप से सामाजिक मानुषिक श्रम-शक्ति के तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार

निश्चित होता है। यह व्यक्तिगत मामलों में पूर्णरूप से नहीं निर्धारित किया जाता वरन् सामान्य रूप से बाज़ार के भाव-ताव करने से निश्चित होता है।

[दो]

सिद्धान्त की भ्रमपूर्ण आलोचना—अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धांत की बड़ी आलोचना की है। पर वास्तव में ये आलोचनाएँ भ्रमपूर्ण है।

(अ) अभाव अर्घ (Scarcity Values)—कुछ समालोचक मार्क्स के अर्घ-सिद्धांत को प्रत्येक पण्य में लागू कर बैठते हैं और इस बात को सर्वथा भुला देते हैं कि मार्क्स की विवेचना के अनुसार यह सिद्धांत बहुत से पण्यों में लागू नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये उन पण्यों के मामले को लीजिये जिनका अर्घ उनके अभाव का परिणाम है, जो श्रमी द्वारा नहीं उत्पन्न किये जा सकते और जिनका अर्घ उनके बनाने में व्यय की गई श्रमी से कहीं अधिक है। दुर्लभ डाक के टिकट, हस्तलिखित-पत्र, हस्तलिखित ग्रंथ, नैपोलियन का सूँघने का बक्स (Snuff box), जहाँगीर के हस्ताक्षर और क्रामवेल की तलवार इसी प्रकार के पदार्थ है। आलोचक कहते हैं कि क्योंकि इन पदार्थों का अर्घ उनमें लगी हुई श्रमी से कहीं अधिक है, इसलिये मार्क्स का सिद्धांत मिथ्या है।

परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि ऐसे पदार्थों को श्रमी अब उत्पन्न नहीं कर सकती। नैपोलियन के सूंघने के बक्स की तरह का दूसरा सूँघने का बक्स और क्रामवेल की तलवार की तरह की दूसरी तलवार, भौतिक गुणों में समान, बनाई जा सकती है। परंतु नैपोलियन द्वारा प्रयोग किया गया सूँघने का बक्स और क्रामवेल द्वारा चलाई गई तलवार को कोई श्रमी उत्पन्न नहीं कर सकती। इन उदाहरणों में मार्क्स के सिद्धान्त को लागू करना सरासर ग़लती

है। यह सिद्धांत तो पूँजीवादी समाज की उत्पत्ति और विनिमय की प्रणाली से सम्बन्ध रखता है, और क्योंकि नैपोलियन के सूँघने का बक्स और क्रामवेल की तलवार बनाना उस प्रणाली का अंग नहीं, इसलिये इन उदाहरणों की व्याख्या करना मार्क्स के सिद्धांत का काम नहीं।

लेकिन हम इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण, जो लगभग सभी अर्थशास्त्री मार्क्स को ग़लत सिद्ध करने के लिये देते हैं, लेंगे। मान लीजिये एक मनुष्य रेगिस्तान में जा रहा है। रास्ते में उसे एक हीरा मिला। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा—इस प्रकार उसे कई हीरे मिल गये। कुछ ही क्षणों में बिना परिश्रम के उसने लाखों रुपये के हीरे प्राप्त कर लिये। तब क्या हम यह कह सकते हैं कि हीरों का अर्घ उनको प्राप्त करने में व्यय की गई श्रमी के द्वारा निर्धारित होता है? यदि नहीं, तो क्या मार्क्स का सिद्धांत ग़लत है! नहीं, मार्क्स का सिद्धांत ठीक है। हीरों का अर्घ उस सामाजिक श्रमी पर निर्धारित किया जाता है जो उनको प्राप्त करने के लिये औसत रूप से व्यय करना आवश्यक है, अर्थात् उतने ही हीरों को खोज निकालने के लिये ज़रूरी है। यदि हीरे इतने अधिक हो जायँ कि रेगिस्तान में घूमने वाले आदमी की तरह जो चाहे उन्हें पृथ्वी से उठा ले, तब उनका अर्घ अवश्य ही शून्य हो जायगा।

(ब) श्रमी का अर्थ—कुछ विद्वानों ने मार्क्स की 'श्रमी' की परिभाषा की आलोचना की है। मैलक ने मार्क्स की परिभाषा को अनुपयुक्त बताते हुये स्वयं इस प्रकार परिभाषा की है—'श्रमी व्यक्ति की उन शक्तियों को कहते हैं जो उसके श्रम में लगाई जाती हैं। यह योग्यता से भिन्न है, जो केवल दूसरों के द्वारा की गई श्रमी की देख भाल में प्रयुक्त होती है।' इन निरर्थक शब्दों की समता मार्क्स की प्रकाशमान तथा स्पष्ट परिभाषा से कीजिये। मार्क्स लिखते हैं, 'श्रमी

से मनुष्य की उन समस्त शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों से तात्पर्य है जिनका प्रयोग वह भोग्यार्थ के उत्पन्न करने में करता है।' इस परिभाषा से स्पष्ट है कि मार्क्स के सिद्धांत की अगणित आलोचनाएँ, जो इस कल्पना पर आधारित हैं कि मार्क्स केवल शारीरिक श्रमी को ही अर्घ का कारण समझते थे, भ्रमास्पद हैं।

मार्क्स ने अपने ग्रंथ में "सामाजिक आवश्यकीय श्रमी" (Socially necessary labour) वाक्य का प्रयोग किया है। इसका अर्थ अमूर्त श्रमी कह कर अधिक स्पष्ट हो सकता है। क्योंकि श्रमी शब्द में साधारण अकुशल शारीरिक परिश्रम और प्रवीण और कुशल श्रमी दोनों का समावेश होता है। इस कारण यदि सब प्रकार की श्रमी को एक सामान्य दर में न लाया जाय तो श्रमी को मूल्य का निर्धारक मानने वाला कोई भी सिद्धांत कठिनाई और भ्रांति पैदा किये बिना नहीं रह सकता। मार्क्स सब प्रकार की श्रमी को साधारण अमूर्त श्रमी में परिणित कर देते हैं। दूसरे शब्दों में, मार्क्स कुशल श्रमी को साधारण श्रमी का गुणित रूप समझते हैं। एक घंटे की कुशल श्रमी कई घंटों की साधारण श्रमी के बराबर होती है। यद्यपि समस्त श्रमी का औसत अकुशल श्रमी में घटा देना पूर्णरूप से अनुपयुक्त प्रतीत होता है, तथापि वास्तव में यह दैनिक जीवन के अनुभवमूलक नियम की सैद्धांतिक बनावट है। वास्तविक विनिमय में हम प्रति दिन यही करते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों का अर्घ एक ही प्रकार के द्रव्य (Money) में आंका जाता है। पर द्रव्य स्वयं एक पदार्थ है और उसके द्वारा श्रमी से उत्पन्न की गई अन्य वस्तुओं के विनिमय का तात्पर्य है सब वस्तुओं के अर्घ को एक वस्तु के आधार पर घटाया जाना। मूल्य-निर्धारण की क्रिया की भाँति यह क्रिया भी अनजान रूप से घुमाव-फिराव के साथ बाज़ार के भाव-ताव के द्वारा होती है। अर्घ का कोई निश्चित नाप न तो है और न हो ही सकता है। अर्घ एक सापेक्षिक धारणा है—पण्यों का अर्घ अन्य अर्घों में नापा जाता

है। न पण्यों में समाविष्ट श्रम-समय का ही कोई नाप है। मार्क्स केवल यही कहते हैं कि एक सामाजिक क्रिया के द्वारा, विनिमय के द्वारा, जिसका अनुपात बाज़ार का भाव-ताव निर्धारित करता है, सब प्रकार की श्रमी अंत में साधारण श्रमी में प्रकट होती है और नापी जाती है।

(स) उत्पादन शीलता—कुछ लोग कहते हैं कि मार्क्स का अर्घ सिद्धांत प्रबंध सम्बन्धी योग्यता (Managerial ability) पर ध्यान नहीं देता। पर यह त्रुटिपूर्ण है। यदि वह योग्यता उत्पादन-शील है तो मार्क्स की श्रमी की परिभाषा में यह अवश्य सम्मिलित हो जाती है।

मूल्य—हम पहले कह चुके हैं कि पण्य में दो गुण होते हैं। (१) अपने स्वामी के लिये उपयोगिता और (२) सामाजिक उपयोगिता। प्रथम को हम इसका स्वाभाविक अर्घ और दूसरी को इसका सामाजिक अर्घ कह सकते हैं। अर्थशास्त्र केवल सामाजिक अर्घ अर्थात् विनिमयार्घ का विवेचन करता है। भोग्यार्घ का तो स्वयं ही अनुमान लग जाता है। कोई चीज़ किसी व्यक्ति को कितनी उपयोगी है, यह तो सभी जान जाते हैं। पर जब हम उसके विनिमयार्घ का अनुमान लगाते हैं, तभी कठिनाई मालूम पड़ती है।

श्रमी के द्वारा उत्पन्न होने के कारण सब पण्य एक दूसरे के विनिमय साध्य होते हैं। यह विनिमय सभ्य समाज में द्रव्य के द्वारा होता है। पण्यों को एक दूसरे से सीधा अदल-बदल (Barter) करने में बहुत कठिनाइयाँ होती हैं। इसीलिये एक ऐसी वस्तु निकाली गई है जो विनिमय का सामान्य माध्यम हो और अर्घ को सामान्य रूप से नापने वाली हो। इसी को 'द्रव्य' कहते हैं। जब किसी वस्तु का अर्घ द्रव्य में प्रकट किया जाता है तो उसे 'मूल्य' या 'क़ीमत' कहते हैं। अर्घ और मूल्य एक ही बात (Synonyms) नहीं है। बाज़ार में वस्तुओं का मूल्य उनके अर्घ से कभी बढ़

जाता है और कभी घट जाता है। 'अ' और 'ब' नाम की दो वस्तुओं की लागत यदि बराबर हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि उनका अर्घ बराबर है। पर वास्तव में 'अ' का मूल्य 'ब' के मूल्य से कम या अधिक हो सकता है। यह पण्य-विशेष की माँग और पूर्ति की दशा पर निर्भर है।

यदि किसी वस्तु की माँग उसकी पूर्ति के पूर्णतः समान हो तो उसका मूल्य उसके अर्घ के लगभग बराबर होगा। यदि उसकी माँग पूर्ति से अधिक होगी तो उसका मूल्य बढ़ जायगा और यदि माँग पूर्ति से कम होगी तो मूल्य घट जायगा। इस प्रकार बराबर अर्घ की वस्तुओं का असमान मूल्य पर क्रय-विक्रय हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि असमान मूल्य समान अर्घ को प्रकट कर सकते हैं। इस बात का पता माँग और पूर्ति का प्रभाव देखने से और यह निरीक्षण करने से कि यह अर्घ से कितने संकीर्ण रूप से सीमित है, लग सकता है। माँग से अधिक पूर्ति मूल्य को घटा देती है। परंतु शीघ्र ही पूर्ति कम हो जाती है। यदि उत्पादक वस्तुओं के अर्घ के बराबर मूल्य वसूल नहीं कर सकते, तो उत्पादन क्रिया की सामान्य गति धीमी कर देंगे। फलस्वरूप पूर्ति कम हो जाने के कारण मूल्य बढ़ जायगा। मूल्य बढ़ते ही माँग कम हो जायगी, या पूर्ति में वृद्धि होगी, या दोनों ही बातें होंगी। इसलिये मूल्य गिर जायगा।

इसलिये यह बात कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि पूर्ति और माँग का पारस्परिक सम्बन्ध व्यापार पर बहुत प्रभाव डालता है और मूल्य की असंयत घटती-बढ़ती पैदा करके आर्थिक संकट का कारण होता है। कहना केवल इतना ही है कि यह अर्घ का निर्धारक नहीं और स्वयं अर्घ की पूर्ति और माँग के मूल्य के ऊपर प्रयुक्त प्रभाव को सीमित रखता है।

सीमान्त-उपयोगिता-सिद्धान्त—सीमान्त-उपयोगिता-सिद्धांत तथा माँग और पूर्ति के सिद्धांत में कोई अन्तर नहीं। इस सिद्धांत के अनु-

सार किसी भी वस्तु का अर्घ उसकी आवश्यकता पूर्ण करने की सामर्थ्य या सामाजिक उपयोगिता की मात्रा पर निर्भर है। इस कथन में कि किसी वस्तु का अर्घ उसकी संतुष्टता देने की सामर्थ्य पर निर्भर है जैसा कि जैवंस और मैंजर का विश्वास था, और इस कथन में कि यह इसकी उत्पत्ति में व्यय की गई सामाजिक आवश्यक श्रमी पर निर्भर है, पारस्परिक विरोध प्रतीत होता है।

परंतु यदि जैवन्स और मैंजर का अर्घ से वही तात्पर्य है जो मार्क्स का मूल्य से है, तो सब विरोध मिट जाता है। इसके विपरीत, यदि हम यह मानें कि जैवन्स और मैंजर अर्घ को अर्घ के ही अर्थ प्रयुक्त में कर रहे हैं, और इस बात को पावें कि वे मांग और पूर्ति की भाँति, सीमांत उपयोगिता का प्रभाव अंत में सामाजिक श्रेणी से सीमित होना मानते हैं, और मार्क्स सीमान्त उपयोगिता का प्रभाव अर्घ पर तो नहीं परंतु अर्घ के मूल्य रूप पर मानते हैं, तब भी विरोध नष्ट हो जाता है। आधुनिक अधिकांश समाजवादी लेखक मानते हैं कि मार्क्स के अर्घ सिद्धांत में सीमांत-उपयोगिता-सिद्धांत सन्निविष्ट है।

निश्चित किये जाने वाले सिद्धान्त—हमको अब दो सिद्धान्त निश्चित करने हैं। पहला, अर्घ का सीमान्त-उपयोगिता-सिद्धान्त जो माँग और पूर्ति का दूसरा नाम है; और दूसरा, मार्क्स का अर्घ सिद्धान्त जो सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त को शामिल करता है। पहले हम सैलिग्मन[१] द्वारा दिये गये सीमान्त उपयोगिता-सिद्धान्त का विवेचन उद्धृत करते हैं:

यदि एक भूख से मरता हुआ पथिक एक सेब देख ले तो वह उसके लिये बहुत उपयोगी होगा क्योंकि वह उसे मृत्यु से बचा लेगा। यदि उसे दूसरा सेब मिल जाय, तो वह उसे भी प्राप्त करने का इच्छुक होगा, पर यह उससे कम तीव्र आवश्यकता को पूरा करेगा। जैसे ही

[१] देखिये Seligman. *Principles of Economics*, pp. 177-178

उसे और सेव मिलते जायँगे, वैसे ही उसकी क्षुधा शान्त होती जायगी और शायद दसवाँ सेव खाते समय वह पूर्णतया संतुष्ट हो जायेगा और सोचने लगेगा कि वह उसे खाय या न खाय। प्रत्येक आगामी सेव की उपयोगिता कम होती है, और दसवें सेव की कुछ भी नहीं रह जाती। यह दसवाँ सेव उसकी आवश्यकता का अंतिम सेव है, इसलिये इसकी उपयोगिता को सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) कहते हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि किसी एक सेव की सीमांत उपयोगिता सेवों की कुल संख्या पर निर्भर है। यदि उस पथिक के पास केवल पाँच ही सेव होते, तो पाँचवें सेव की सीमांत उपयोगिता बहुत काफ़ी होती, क्योंकि सीमांत उपयोगिता अंत में पूरी की जाने वाली आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर है।

दूसरी बात, जिस पर ध्यान देना आवश्यक है, यह है कि प्रत्येक सेव की उपयोगिता अंतिम सेव की उपयोगिता के बराबर है; और इसलिये (उसी आकार और गुण के) अन्य किसी भी सेव की उपयोगिता के बराबर है। यदि उस पथिक के पास कुल पाँच सेव हैं तो उनमें से कोई भी सेव सीमांत सेव कहा जा सकता है। वह इन पाँचों में से किसी को भी सब से पहले खा सकता है, क्योंकि प्रत्येक सेव गुण में एक सा ही है।

तीसरे, हमको कुल उपयोगिता और सीमांत उपयोगिता में अंतर जानना आवश्यक है। यदि हम प्रत्येक अगले सेव की उपयोगिता उसके पहले वाले सेवों की उपयोगिता में जोड़ते चले जायँ तो हमें कुल उपयोगिता मिलती चली जायगी। इस प्रकार वह तृप्ति के बिंदु तक बढ़ती चली जायगी। इन सब सेवों की कुल उपयोगिता पाँच सेवों की सीमांत उपयोगिता से अवश्य ही अधिक होती है। कुल सेवों के ढेर की कुल उपयोगिता, सीमांत इकाई की उपयोगिता को इकाइयों की संख्या से गुणा करने पर जो संख्या आती है, उसके बराबर होती

हैं। दो सेवों की कुल उपयोगिता दूसरे सेव की सीमांत उपयोगिता से दुगुनी होगी। चार सेवों की कुल उपयोगिता चौथे सेव का सीमांत उपयोगिता की चौगुनी होगी। यहाँ भी, पूर्व की भाँति, कोष (Stock) की कुल उपयोगिता बढ़ती जाती है, पर तृप्ति विंदु तक नहीं बढ़ती। एक सीमा के पश्चात् कोष की सीमांत उपयोगिता घटने लगती है। आठ सेवों की सीमांत उपयोगिता पाँच सेवों की सीमांत उपयोगिता से कम होगी, यद्यपि कुल उपयोगिता निस्संदेह अधिक होगी।

जब हम किसी मनुष्य के लिये किसी पण्य की सीमांत उपयोगिता का वर्णन करते हैं, तब हम उसके विषय में यह सोचते हैं कि वह उस सीमा तक संतुष्ट हो चुका है जब कि उसे अधिक की आवश्यकता नहीं है। उपयोगिता कम होते-होते शून्य हो जाती है। जितनी अधिक मात्रा में वस्तु दी जायगी, उतनी ही उसकी उपयोगिता कम होती जायगी यहाँ तक कि कुछ समय के बाद वह अदृश्य हो जायगी और उपभोक्ता उस वस्तु का उपयोग नहीं करेगा।

प्रथम सिद्धान्त—ऊपर का विवेचन हमें बतलाता है कि किसी वस्तु की सीमांत उपयोगिता और उसके परिमाण में विपरीत अनुपात (inverse proportion) है। यदि भूखे पथिक को एक ही सेव दिया जाता तो उसे पाने के लिये वह शायद अपना सर्वस्व देने को तैयार हो जाता। परन्तु इसको और अन्य सेवों को खाने के पश्चात् वह दसवाँ सेव ले तो सकता है, पर वह तृप्ति-विंदु के इतने समीप है कि वह उसके लिये कुछ अदा करने को तत्पर नहीं। यदि उसे सौ सेव दिये जायँ, तो शायद वह लेने को भी तैयार न हो। उनकी उसे आवश्यकता ही नहीं; वे उसके लिये उपयोगी नहीं, प्रत्युत अनुपयोगी हैं। यदि यह माँग और पूर्ति का सिद्धांत नहीं तो क्या है?

एक भूखे पथिक के स्थान पर अब हम एक समाज को लेते हैं। मान लीजिये सेव कम होने के कारण अच्छे दामों पर बिक रहे हैं।

उनकी माँग अधिक है। प्रत्येक सेव के लिये दस ख़रीदार हैं। इस समय एक सेव वाला बाहर से १०० सेव ले आता है। सेव का मूल्य अब गिर जायगा। यदि ५००० सेव और कहीं से आ जायँ तो शायद सेवों का बिकना असंभव हो जाय। वे अर्घ हीन हो जायँगे। प्रो० सेलिग्मन के शब्दों में उपयोगिता शून्य हो जाती है और पण्य एक आर्थिक वस्तु नहीं रह जाती।

जैवन्स, जिन्होंने इंगलैंड में इस सिद्धान्त को जन्म दिया, स्वीकार करते हैं कि सीमान्त उपयोगिता पण्य के परिमाण के साथ बदलती रहती है: उस परिमाण के बढ़ने से सीमान्त उपयोगिता घटने लगती है।[12] उन्होंने अपने सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिये वही उदाहरण लिया जो सन् १८०४ में लार्ड लॉडर डेल ने लिया था। लॉडरडेल लिखते हैं, "पानी उन वस्तुओं में से एक वस्तु है जो मनुष्य के लिये अत्यंत उपयोगी है; फिर भी इसका अर्घ नहीं होता। इसका कारण प्रत्यक्ष है। ऐसा शायद ही कभी कहीं पर होता हो कि इसके उपयोगिता के गुण के साथ-साथ कम मात्रा में पाने जाने की अवस्था भी उपस्थित हो। परन्तु क़िले के घेरे के अवसर पर अथवा समुद्र-यात्रा में, जब इसकी मात्रा कम होती है, तब इसका भी अर्घ हो जाता है।[13]

इस उद्धरण की जैवंस से समता कीजिए: हम बिना पानी के एक दिन भी जीवित नहीं रह सकते, परन्तु फिर भी सामान्य परिस्थितियों में उसका कुछ भी अर्घ नहीं। यह क्यों है? केवल इसलिये कि हम उसको इतनी अधिक मात्रा में पाते हैं कि उसकी सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर रह जाती है। जब पानी की पूर्ति सूखा पड़ने से कम

[12] देखिए W. S. Jevons, *The Theory of Political Economy*, p. 62

[13] Lauderdale, *An Inquiry into the Nature and Origin of Public Wealth*, p. 16

हो जाती है, तब हम उसकी उपयोगिता पहले की अपेक्षा कहीं अधिक महसूस करने लगते हैं।[१४]

इन कथनों से यह स्पष्ट है कि सीमान्त-उपयोगिता-सिद्धान्त और माँग और पूर्ति सिद्धान्त एक ही हैं। सीमान्त उपयोगिता पण्यों का अर्घ निर्धारित नहीं करती, चाहे वह अर्घ के मूल्य-रूप पर कितना ही प्रभाव डालती हो। यही आवश्यक बात है जो अर्घ के सिद्धान्त के विषय में कही जा सकती है। सानुपातिक अभाव का मूल्य पर प्रभाव देखते हुये, यह कथन इसी सिद्धान्त के प्राचीन रूपों से बढ़ा हुआ है, और किसी मूल्य-विशेष की घटती-बढ़ती की अधिक उपयोगी व्याख्या है—यह बात अत्यंत कट्टर मार्क्सवादी भी स्वीकार कर सकते हैं।

दूसरा सिद्धान्त—ऊपर के विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि सीमान्त-उपयोगिता-सिद्धान्त का महत्व केवल इतना ही है कि यहस्वतंत्र प्रतियोगिता में मूल्य की घटती-बढ़ती का मुख्य कारण बताती है। मार्क्स ने सापेक्षिक कमी या बाहुल्य के मूल्य पर प्रभाव डालने को कभी असत्य नहीं बताया! इसके विपरीत, उनका सारा सिद्धान्त इस बात को स्वीकार करता है कि माँग और पूर्ति की अंतरक्रिया (अर्थात् उपयोगिता की मात्रा) बाज़ार के मूल्य के अचिरकालीन चढ़ाव-उतार को नियमित रखती है।[१५] परन्तु वे सीमान्त अर्घ के प्रभाव पर भी प्रकाश डालते हैं। जब पूर्ति और माँग बराबर हैं, तब मूल्य वास्तविक अर्घ को ठीक-ठीक आँकता है। ऐसी दशा में जब माँग और पूर्ति समतल हो जाती हैं, तब अर्घ मूल्य को निश्चित करता है।

मार्क्स ने उपयोगिता की विभिन्न मात्राओं की भी उपेक्षा नहीं की जैसा कि बॉहम-बावर्क और उनके अनुयायियों का भ्रम है। उनका

[१४] W. S. Jevons, *The Theory of Political Econmoy*, p. 62

[१५] देखिये Karl Marx, *Value, Price and Profit*, p. 24

सिद्धान्त इस तात्विक कल्पना पर निर्धारित है कि अर्घ सामाजिक उपयोगिता से (जो उपयोगिता से भिन्न है) अभिन्न है। चाहे एक वस्तु कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, यदि उसकी माँग नहीं है, तो उसका अर्घ शून्य होगा, चाहे उसके उत्पन्न करने में कितनी ही श्रमी क्यों न व्यय हुई हो। उनका समस्त तर्क केवल सामान्य सामाजिक उपयोगिता को ही स्वीकार नहीं करता वरन् सानुपातिक सामाजिक उपयोगिता से भी सम्बन्ध रखता है। जब वे' सामाजिक आवश्यक श्रमी' का प्रयोग करते हैं, तब वे केवल औसत श्रमी की ओर ही संकेत नहीं करते। एक पण्य चाहे औसत श्रम-समय में उत्पन्न किया गया हो, परन्तु यदि वह समय 'सामाजिक आवश्यक' कार्य के लिये नहीं व्यतीत किया गया, अर्थात् यदि पण्य समाज के लिये आवश्यक नहीं था, तब उस पण्य के विषय में यह कहना कि उसके अंतर्गत 'सामाजिक आवश्यक उपयोगिता' है, अनुपयुक्त होगा। यह वाक्यांश मार्क्स के सामाजिक भोग्यार्थ के विचार का एक वस्तु की उत्पत्ति में व्यय की गई श्रमी तक विस्तार मात्र है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मार्क्स ने सापेक्षिक उपयोगिता की कभी भी उपेक्षा नहीं की। माँग और पूँजी का सिद्धान्त और सीमांत उपयोगिता का सिद्धान्त केवल मूल्य के वास्तविक अर्घ के समीपवर्ती चढ़ाव उतार की व्याख्या करने के ढंग हैं जो कि मार्क्स के सिद्धान्त में सम्मिलित हैं।

जेवंस का स्वीकरण—इतना कह देना और आवश्यक है कि सीमांत उपयोगिता के सिद्धान्त की सीमाओं को स्वयं प्रो० जेवंस ने स्वीकार किया है। वे मानते हैं कि वास्तव में वस्तुओं की सीमांत उपयोगिता उस श्रमी से स्वतंत्र रूप में नहीं निश्चित की जाती है जोकि उसकी उत्पत्ति के लिये आवश्यक है। वे कहते हैं कि उनका सीमांत-उपयोगिता-सिद्धांत अर्थशास्त्रियों की साधारण भाषा में कथित उस प्रसिद्ध नियम को जन्म देता है जिसके द्वारा यह निश्चित किया गया

है कि अर्घ उत्पत्ति के मूल व्यय के सानुपातिक है।[१६] अन्त में वे अपना तार्किक ढाँचा श्रमी पर आधारित करते हैं और श्रमी को ही अर्घ का अंतिम निश्चय करने वाला मानते हैं। उनका तर्क इस प्रकार है :—

(अ) उत्पत्ति की लागत (Cost of production) पूर्ति को निर्धारित करती है।

(ब) पूर्ति सीमांत उपयोगिता को निर्धारित करती है।

(स) सीमांत उपयोगिता अर्घ को निर्धारित करती है।

यदि (अ), (ब) को निश्चित करता है, और (ब), (स) को, तो (अ), (स) को निश्चत करता है। बड़े में छोटा शामिल है, और मार्क्स के अर्घ-सिद्धन्त के अंतर्गत वे सब बातें आ जाती हैं जो सीमांत-उपयोगिता-सिद्धांत में अर्घ से सम्बन्ध रखती हैं।

एकाधिकार मूल्य—एकाधिकार मूल्य का भी कुछ संक्षिप्त वर्णन दे देना आवश्यक है। जब हम अर्घ और मूल्य का विवेचना करते हैं तो स्वतंत्र प्रतियोगिता की कल्पना कर लेते हैं। ऐसी दशा में मूल्य अर्घ से ऊँचा या नीचा हो सकता है। पर कुछ ही समय पश्चात् दोनों शक्तियाँ समतल हो जायँगीं और मूल और अर्घ में समानता स्थापित हो जायगी। जब एकाधिकार होता है तो मूल्य कृत्रिम ढंग से अर्घ से अधिक रक्खा जाता है। यह बात अर्घ-सिद्धांत के बाहर हो जाती है, और वस्तुओं का मूल्य ख़रीदारों की इच्छा और विक्रेताओं की पूर्ति पर अधिकार करने की शक्ति पर निर्भर रहता है।

---

[१६] देखिये Jevons, *op cit.*, p. 186.

अध्याय २१

अतिरिक्तार्घ

पूँजीवादी युग में उत्पत्ति इसलिये की जाती है कि उत्पन्न किया हुआ माल लाभ पर बेचा जा सके। लाभ उठाना पूँजीवादी उत्पादन क्रिया का उद्देश्य है। इसलिये हमें लाभ की प्रकृति, उत्पत्ति और कार्य जानना आवश्यक है। मार्क्स का अतिरिक्तार्घ-सिद्धांत इसी लाभ का निरूपण करता है।

धन की उत्पत्ति—लाभ समाज के समस्त धन का एक भाग है। धन श्रमी और प्रकृति की शक्तियों के सहयोग का परिणाम है। श्रमी ही कुल धन का साधन हैं—ऐसे वाक्यांश बहुत से समाजवादियों के ग्रंथों में मिलेंगे, पर समाजवाद के सिद्धांतों के अंग नहीं। कम से कम मार्क्स के अतिरिक्तार्घ-सिद्धांत से तो उनका कोई मतलब नहीं। मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, श्रमी धन की सम्पूर्ण शक्ति नहीं है। पण्य दो तत्वों के सहयोग-मात्र हैं—पदार्थ और श्रमी के। यदि हम उनसे उपयोगी श्रमी निकाल देते हैं, तो एक भौतिक आधार शेष रह जाता है, जो (मनुष्य की सहायता के बिना) प्रकृति द्वारा प्रदान किया जाता है। यह आधार प्रकृति की भाँति कार्य कर सकता है, अर्थात् पदार्थ के रूप को परिवर्तित कर सकता है; यही नहीं, रूप-परिवर्तन के इस कार्य में, वह सदैव प्राकृतिक शक्तियों में सहायता पाता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल श्रमी ही भौतिक धन का एकमात्र साधन नहीं है और न उस भोग्यार्घ का ही, जो कि श्रमी के द्वारा उत्पन्न होता है। जैसा कि विलियम पैटी लिखते हैं,

श्रमी उसका पिता है और पृथ्वी उसकी माता है।[1] जब समालोचक कहते हैं कि मार्क्स ने श्रमी को धन की संपूर्ण शक्ति माना, तब वे मार्क्स से अनभिज्ञ होना स्वीकार करते हैं और सम्पत्ति, योग्य पदार्थ, और उनके अर्घ—एक अमूर्त गुण—में भेद न जानने की अयोग्यता दिखाते हैं।

पूँजी की प्रकृति (Nature)—पूँजीवादी समाज में मशीन, कारखाने आदि उत्पत्ति के साधन पूँजीपतियों की सम्पत्ति होते हैं। एक ग़रीब मज़दूर इन सब वस्तुओं को नहीं ख़रीद सकता। इन वस्तुओं पर उनके प्रयोग करने वालों के अतिरिक्त अन्य पुरुषों का अधिकार होना ही पूँजीवाद के वर्गीकरण का आधार है।

इसलिये पूँजी की केवल यह परिभाषा दे देना कि यह वह धन है जो और धन पैदा करने में प्रयोग किया जाता है, काफ़ी नहीं। यह उत्पत्ति के सामाजिक सम्बंध को भी अपने अंतर्गत ले आती है।

त उत्पत्ति के साधनों द्वारा लाभ उपार्जन करना चाहते हैं—यह पूँजीवादी समाज का तात्विक उद्देश्य है। इसलिये पूँजी वह धन है जो और धन पैदा करने में प्रयुक्त होता है जिससे कि उसके विनियम से कुछ लाभ प्राप्त हो सके। जब समाजवादी यह कहते हैं कि पूँजी एक सामाजिक सम्बन्ध है जो वस्तुओं के माध्यम द्वारा प्रकट किया जाता है, तब उनका यही तात्पर्य होता है। यदि कभी कोई समाजवादी "पूँजी का क्षय" कहता है, तो उसका तात्पर्य उस सामाजिक सम्बन्ध को नष्ट करने से होता है, न कि भौतिक पदार्थ को!

पूँजीपतियों का उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार होने के फलस्वरूप जो पूँजीपतियों और मज़दूरों में सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उसकी क्या प्रकृति है? पूँजीपति अपने लाभ के लिये मज़दूरों

---

[1] Karl Marx, *Capital* (*Kerr*), Vol. 1, Chap, I, p. 50.

की उत्पादन-शक्ति उत्पत्ति के साधनों से संयुक्त कराना चाहता है। मज़दूर भी, धन उत्पन्न करके अपनी जीविका कमाने के लिये, पूँजीपतियों के उत्पत्ति के साधनों का प्रयोग करने पर बाध्य हो जाते हैं। वे स्वयं तो मशीन इत्यादि वस्तुओं को ख़रीद नहीं सकते। इसलिये उन्हें पूँजीपतियों को अपनी श्रम शक्ति बेचने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं।

अतिरिक्तार्घ—श्रम-शक्ति को पूँजीपति उसी प्रकार ख़रीदते हैं जिस प्रकार अन्य किसी पण्य—मशीन, कच्चे माल आदि—को। अन्य पण्यों को उत्पन्न करने में श्रम-शक्ति का भी वैसा ही उपयोग होता है जैसा इन वस्तुओं का परन्तु श्रम-शक्ति में एक विचित्र गुण है: यह प्रयोग में लाये जाने की क्रिया में एक नवीन अर्घ उत्पन्न करती है, जैसा कि और कोई पण्य नहीं करता। जूते बनाने में चमड़ा, मशीन और श्रमी काम में लाई जाती है। चमड़ा काम में लाया जाता है, पर वह अपने अर्घ की वृद्धि नहीं करती। परन्तु श्रम-शक्ति अपने अर्घ को प्रयुक्त होते समय अवश्य बढ़ाती है।

श्रम-शक्ति बेचने वाले मज़दूर को उसके बदले में मज़दूरी मिलती है, जो उसके अर्घ का मूल्य-रूप है। ख़रीदने के पश्चात् श्रम-शक्ति पर ख़रीदार, अर्थात् पूँजीपति, का अधिकार हो जाता है। मज़दूर को श्रम-शक्ति के भोग्यार्घ के बदले में विनिमयार्घ की प्राप्ति होती है। अब यह श्रम-शक्ति उत्पादन-क्रिया में लगा देने पर, अपने अर्घ से अधिक—दुगुना या तिगुना—अर्घ पैदा करेगी। मार्क्स के अतिरिक्तार्घ-सिद्धांत का यह केंद्रित विचार है।

अतिरिक्तार्घ का मूल—मान लीजिये एक पूँजीपति कुछ मज़दूरों की श्रम शक्ति दस घंटे प्रति दिन के हिसाब से ख़रीद लेता है। वह बाज़ार की दर से उनको मज़दूरी दे देता है और उस श्रम-शक्ति को उत्पादन-क्रिया में लगा देता है। जब वे पाँच घंटे काम कर चुकते हैं, तब वे अपने वेतन के बराबर अर्घ उत्पन्न कर लेते हैं। यदि इस समय

उन्हें छुट्टी दे दी जाय तो वे कच्चे माल का अर्घ अपने वेतन के बराबर बढ़ा देंगे इसलिए पूँजीपति को कुछ भी लाभ-हानि नहीं होगी। परन्तु मज़दूर लोग यहाँ पर रुक नहीं जाते; पाँच घंटे के बाद वे पाँच घंटे और काम करते हैं और अधिक अर्घ उत्पन्न करते हैं। वेतन के बराबर अर्घ की उत्पत्ति के अतिरिक्त जो अर्घ उत्पन्न किया जाता है वह अतिरिक्तार्घ (mehrwerth) कहलाता है।

यह हम एक और उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिये एक मज़दूर का दैनिक वेतन चार आना है और पाँच घंटे प्रतिदिन काम करके एक मज़दूर चार आने का अर्घ उत्पन्न कर सकता है। एक पूँजीपति १००० मज़दूर चार आने प्रतिदिन के हिसाब के दस घंटे रोज़ काम करने के लिये लगाता है। इसलिये श्रम शक्ति का प्रतिदिन का मूल्य २५०) है। मान लीजिये प्रतिदिन ५०) का कच्चा माल काम में लाया जाता है और प्रतिदिन २५) का मशीन का मूल्य घट जाता है। उत्पत्ति के बाद जो माल पैदा होता है उसका मूल्य तीनों चीज़ों और कच्चे माल या मज़दूरी के संयुक्त मूल्य के बराबर है :—

आय और व्यय का विवरण यह है : —

व्यय :—

श्रम-शक्ति के लिये	२५०)
कच्चे माल के लिये	२५०)
मशीन के मूल्य में घटती	२५)
कुल लागत	५२५)

आय :—

(माल की बिक्री पर)	७७५)
∴ अतिरिक्तार्घ	२५०)

यह तो स्वयं स्पष्ट है कि मूल्य की वृद्धि अपने आप नहीं हो सकती इसका मूल केवल श्रम-शक्ति की जीवित शक्ति में हो सकता है। जिस

प्रकार धन की साधारणतम कल्पना में मानवीय उद्योग द्वारा किसी प्राकृतिक पदार्थ की परिणत प्रक्रिया सम्मिलित है, उसी प्रकार यहाँ मानवीय उद्योग कच्चे माल को परिणत—नवीन अर्घ उत्पन्न करता रहा है।

अतिरिक्तार्घ का विभाजन—कुल अतिरिक्तार्घ पूँजीपति ही हज़म नहीं कर जाते, वरन् वह भूमिपति, महाजन इत्यादि सब में विभाजित होता है। अतिरिक्तार्घ एक ऐसा भांडार है जिसमें से कुल लगान, व्याज और लाभ अदा किये जाते हैं। इसी भांडार में से पूँजी पूरी की जाती है, और बढ़ाई जाती है। ये लोग इस भांडार के विभाजन में खूब लड़ते-भिड़ते हैं। प्रत्येक हिस्सेदार इसका एक बड़ा भाग स्वयं हस्तगत कर लेने का उद्योग करता है। पर मज़दूरों को इस युद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं। उनका हित तो इसी में है कि उनका कम से कम शोषण हो। इसके विरुद्ध अतिरिक्तार्घ के हिस्सेदारों का यह संयुक्त प्रयास होता है कि वह मज़दूरों के शोषण को कम कराने के उद्योग को रोकें। श्रेणी-संघर्ष की यही प्रेरणा है। श्रेणी-युद्ध का कारण अतिरिक्तार्घ है, विरोधियों के व्याख्यान और लेख नहीं, मज़दूर सभाएँ और समाजवादी आंदोलन नहीं। यह कार्य है, कारण नहीं।

अतिरिक्तार्घ और लाभ की दर—पूँजीपति द्वारा लगाई गई कुल पूँजी का वह भाग जो मज़दूरी के रूप में अदा किया जाता है, अपने अर्घ में वृद्धि करता है और अतिरिक्तार्घ को जन्म देता है। इसका शेष भाग जो कच्चे माल आदि पर व्यय किया जाता है, इस प्रकार अपने मूल्य को नहीं बढ़ाता। इसलिये मार्क्स पहले प्रकार की पूँजी को परिवर्तनशील पूँजी और दूसरे प्रकार की पूँजी को अपरिवर्तनशील पूँजी कहते हैं। अपने उदाहरण में हमने अतिरिक्तार्घ की परिवर्तनशील पूँजी के बराबर होने की कल्पना की थी। मार्क्स की भाषा में, इस अवस्था में अतिरिक्तार्घ का परिवर्तनशील पूँजी के साथ शत प्रतिशत अनुपात है। यह मज़दूरों के शोषण की मात्रा

का माप है, अर्थात् वे १००% की दर से शोषित किये जा रहे हैं।

यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि यह अनुपात लाभ का अनुपात नहीं है। लाभ की दर मालूम करने के लिये हमें अतिरिक्तार्घ का कुल पूँजी (परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील को मिलाकर) से अनुपात मालूम करना पड़ता है। इस प्रकार अतिरिक्तार्घ का परिवर्तनशील पूँजी से अनुपात (= शोषण या अतिरिक्तार्घ की दर) शत प्रतिशत है; परन्तु अतिरिक्तार्घ का कुल पूँजी के साथ अनुपात (= लाभ की दर ४७.६% है।

यदि हम यह मान लें कि मज़दूरी की दर तीन आना प्रति दिन है, तो पूँजीपति की आय-व्यय का विवरण इस प्रकार होगा :—

	रु०	आ०	पा०
व्यय :—			
श्रम शक्ति के लिये	१८७	८	०
कच्चे माल के लिये	२५०	०	०
मशीन के मूल्य में घटती	२५	०	०
कुल लागत	४६२	८	०
आय :—			
माल की बिक्री पर	७७५	०	०
∴ अतिरिक्तार्घ	३१२	८	०

इस हालत में शोषण की दर बढ़ गई है : पहले तो यह १००% थी पर अब १६६.६% हो गई है। लाभ की दर ४७.६% से बढ़कर ६७.५% हो गई दूसरे शब्दों में, पहले पूँजीपति मज़दूरों की पाँच घंटे की मज़दूरी ज़ब्त कर लेते थे, अब वे लगभग छः घंटों की मज़दूरी अपने पास रख लेते हैं।

सिद्धान्त की संकीर्ण आलोचना—असमाजवादी तथा सुधारवादी सम्प्रदाय (Revisionist School) के समाजवादियों ने इस सिद्धांत की जो भी आलोचना की है वह इसकी अत्यंत संकीर्ण तथा

रूढ़िमूलक व्याख्या पर आधारित है। उदाहरण के लिये, मार्क्स ने अपने सिद्धांत की गणित के प्रयोग से ठीक-ठीक व्याख्या की, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वास्तविक जीवन में यह सिद्धांत उसी यथार्थता (Preciseness) के साथ कार्यशील होता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रारम्भ में यह कल्पना की थी कि सब पराय अपने अर्घ के बराबर मूल्य पर बिकते हैं, पर बाद को वे लिखते हैं कि वास्तव में ऐसा नहीं होता, और वस्तुओं के मूल्य उनके अर्घ से कम या ज़्यादा हो सकते हैं। इस प्रकार की स्थिति से आलोचकों ने काफ़ी भ्रमास्पद विचार फैलाये हैं।

इस सिद्धात की संकीर्ण व्याख्या करके कुछ समाजवादियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मज़दूर जब मज़दूरी करते हैं, उसी समय शोषित होते और हो सकते हैं। इसलिये उन्होंने समाजवाद के क्रियात्मक रूप के प्रसार में बहुत से मज़दूरों के लाभकारी आंदोलनों को शामिल नहीं किया। पर मार्क्स ने इस बात का कई स्थानों पर दिग्दर्शन कराया है कि मज़दूर लोगों का उपभोक्ता की हैसियत से भी शोषण होता है[२] और जैसे-जैसे एकाधिकार की सत्ता में वृद्धि होती है, वैसे ही वैसे शोषण के दूसरे रूप की मात्रा भी बढ़ती जाती है।

कुछ लोगों का भ्रम है कि इस सिद्धांत का मतलब यह है कि कुल धन श्रमी उत्पन्न करती है; इसलिये यह मज़दूरों की है और इसके अनुसार समाजवादी राष्ट्र में प्रत्येक मज़दूर आवश्यक मज़दूरी से व्यय का भाग घटाकर, अपनी उत्पत्ति के मूल्य के बराबर मज़दूरीपायेगा। पर मार्क्स ने यह कहीं नहीं लिखा कि मज़दूरों को अपनी श्रमी का कुल मूल्य मिलना चाहिये। मार्क्स नैतिक वितरण के सिद्धांत को निरादर की दृष्टि से देखते थे। वे कहते थे कि समाजवाद का इसलिये स्थापन नहीं होना चाहिये कि इसमें वितरण नैतिक होगा और मज़दूरों

---

[२] देखिये *Capital*, Vol. III, pp. 715 716

को अपनी कुल उत्पत्ति मिल जायगी, वरन् समाजवाद का आना इसलिये अवश्यंभावी है कि पूँजीवाद ज़्यादा दिन तक नहीं चल सकता। इसीलिये सन् १८७५ ई० में जर्मनी के समाजवादियों का जो गाथा प्लैटफ़ार्म स्वीकार किया गया, उस पर बहुत से बन्धन लगाये गये।

बात ज़रा अजीब-सी है। वास्तव में आधुनिक या पुरातन समाज-वाद की अपील बहुत कुछ एक नैतिक अपील है, और समाजवाद एक ऐसा आन्दोलन है जो एक न्यायपूर्ण सामाजिक प्रणाली का पक्षपाती है। पर ये नैतिक बातें मार्क्सवाद में शामिल नहीं हैं। यह बात परेशानी की नहीं क्योंकि समाजवाद मार्क्सवाद से अधिक विस्तृत है। यदि मार्क्स के दर्शन की सम्पूर्ण प्रणाली नष्ट कर दी गई होती, तब भी वर्तमान असमानता, धन का असमान वितरण जिससे कुछ लोग आनंदपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं और कुछ भूखों मरते हैं, आदि बातें एक ऐसे आन्दोलन को जन्म देतीं जिसका उद्देश्य उत्पत्ति के समस्त साधनों पर संयुक्त अधिकार प्राप्त करना होता। इस समय इस विषय से हम सम्बद्ध नहीं हैं। इसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद तभी तक जीवित रह सकता है जब तक कि इसके विनाश के लिये एक नवीन युग शक्तिपूर्वक नहीं आता।

अध्याय २२

मार्क्स की भविष्यवाणी

मार्क्सवाद के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं का अध्ययन करने के पश्चात् अब हम मार्क्स की भविष्यवाणी पर आते हैं। हम देख ही चुके हैं कि इतिहास की आर्थिक व्याख्या के द्वारा उन्होंने बताया कि वर्तमान युग शोषक और शोषित वर्गों के संघर्ष का व्यक्तीकरण है। इसके बाद उन्होंने इस अध्ययन के आधार पर यह बताया कि भविष्य में समाज का विकास किन रेखाओं पर होगा, और पूँजीवाद का पतन तथा समाजवाद का उत्थान और स्थापन कैसे होगा।

मार्क्स कहते थे कि समाज स्थिर (Static) नहीं है, वरन् वह प्रगतिशील है। विकास की आगामी श्रेणी में पूँजीवाद के पतन का होना अवश्यंभावी है। समय की प्रगति के साथ पूँजी थोड़े से मनुष्यो के हाथों में आती जायगी और छोटे-छोटे पूँजीपतियों का ह्रास होता जायगा। साथ ही साथ सर्वहारावर्ग का संगठन प्रौढ़ और सुदृढ़ होता जायगा। उनकी हालत गिरती जायगी और अंत में सर्वहारावर्ग क्रांति कर देगा, और उसी प्रकार उत्पत्ति साधनों पर अधिकार स्थापित कर लेगा जिस प्रकार पूँजीवाद वर्ग ने पहले समस्त अधिकारी वर्गों को मिलाकर अपने को पुष्ट बना लिया था। पूँजावाद के विकास के इस नियम का हम निम्नलिखित भविष्य-वाणियों [1] में विश्लेषण कर सकते हैं ;—

(१) पूँजी का न्यूनतम पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रीकरण।

---

[1] देखिए *Communist Manifesto* और *Das Capital*, Vol. I, Chap, XXXII

(२) मध्य वर्ग का लोप।

(३) उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दुर्दशा, निर्धनता और खाद्य-पदार्थों की कमी।

(४) तीव्रतम आर्थिक संकट।

(५) सामाजिक क्रांति और समाजवाद का स्थापन।

(१) पूँजी का केन्द्रीकरण

मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, वैसे-वैसे स्पर्धा की शक्ति कम होती जायगी और एकाधिकार की सत्ता स्थापित होती जायगी। एकाधिकार उत्पत्ति की उन्नति को रोकता है। इसलिये उसको नष्ट करने के लिये शक्तियाँ तैयार होती रहती हैं और अंत में व्यवसायिक क्रियाओं का राष्ट्रीकरण हो जाता है। मार्क्स लिखते हैं कि पूँजी का एकाधिकार उत्पत्ति पर एक बन्धन हो जाता है। उत्पत्ति के साधनों का केन्द्रीकरण तथा श्रमी का समाजीकरण जब उच्चतम बिन्दु पर पहुँच जाता है, तब उसका विनाश होना प्रारम्भ हो जाता है। शोषक वर्ग का शोषण समाप्त हो जाता है।[२]

एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं कि पण्यों को सस्ता करके प्रतियोगिता की लड़ाई लड़ी जाती है। पण्यों का सस्तापन श्रमी की उत्पादन-शक्ति तथा उत्पत्ति की मात्रा पर निर्भर रहता है। यही कारण है कि बड़े पूँजीपति छोटे पूँजीपतियों से अधिक सफलता प्राप्त करते हैं।[3] कृषि और व्यवसायिक क्षेत्र में छोटे पैमाने पर माल पैदा करने वाला अब कब्र में पैर लटकाये बैठा है।

मार्क्स की यह भविष्यवाणी बहुत कुछ सत्य निकली है। वर्तमान आर्थिक संसार में बड़े पैमाने पर माल पैदा करने वालों की परिस्थिति

---

[२] देखिए Karl Marx, *Capital*, I. p. 837

[3] **Marx,** *Capital* I, p.394

प्रधान है और स्पर्धा करने वालों में संयुक्त होने की शक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु है। जहाँ कहीं भी पण्य अधिक मात्रा में उपभोग किया जाता है और एक-सा होता है, उत्पन्न करने का तरीक़ा एक-से कार्य-क्रम के अनुसार है और कार्य की गति और प्रकृति शीघ्र निरीक्षण और परीक्षा के योग्य है, बस वहीं बड़े पैमाने की उत्पत्ति को सफलता का अद्वितीय क्षेत्र मिल जाता है। क्योंकि वहाँ उसे बहुत सी ऐसी सुविधाएँ मिल जाती हैं, जैसे कि उत्पन्न की हुई प्रत्येक वस्तु पर निश्चित व्यय में बचत, बहुमूल्य पर कुशल प्रबंधकर्ता को रखने की सम्भावना और सामर्थ्य, नवीन उत्तम और श्रेष्ठ तरीक़े, अच्छी मशीनों का प्रयोग, श्रम-विभाग का अधिक अवसर, छोटी-छोटी उपज की वस्तुओं का लाभदायक सदुपयोग, अधिक और आसान ऋण मिलने की सुगमता, कच्चा माल ख़रीदने और पक्का माल बेचने में बचत आदि, जिनके कारण वह छोटे पैमाने पर माल बनाने वाले को सहज में ही पराजित कर सकता है। इसके अतिरिक्त और भी लाभ हैं; जो एक मनुष्य के अधिकार में कुल व्यवसाय के होने तथा प्रारम्भिक श्रेणी से अंतिम श्रेणी तक माल उत्पन्न करने में प्राप्त हो सकते हैं। इसीलिये आजकल चारों ओर बड़े-बड़े संघ और राष्ट्र दृष्टिगत होते हैं। खान के व्यवसाय में, संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में केवल कुछ ही कम्पनियों के हाथ में कुल कोयले की खानें हैं। यातायात के साधनों में, रेल की अनेक कम्पनियाँ हैरीमैन, हिल या कैनेडियन पैसिफ़िक प्रणाली ने हज़म कर ली हैं और सहस्रों बड़े-बड़े जहाज़ एक अंतर्राष्ट्रीय जहाज़-कम्पनी (International Mercantile Marine) के अधिकार में हैं। कारख़ानों में, लोहे, पैट्रोल और तम्बाकू आदि का व्यवसाय कुछ गिने-चुने ट्रस्ट और कार्टेल के हाथों में है। बैंकों में एकीकरण (Combination) की ख़ूब उन्नति हो रही है जो विशेष रूप से जर्मनी और इंगलैंड में ध्यान देने योग्य है। छोटे-छोटे व्यापार में भी लिप्टन कम्पनी, युनाइटेड सिगार कम्पनी आदि

कम्पनियाँ जिनकी शाखाएँ देश के कोने-कोने में फैली होती हैं, इसी बात की द्योतक हैं।[४]

परन्तु असमाजवादी लेखक और बहुत से समाजवादी भी मार्क्स की इस भविष्यवाणी से सहमत नहीं क्योंकि वे कहते हैं कि ट्रस्ट इत्यादि बढ़ तो अवश्य रहे हैं, पर छोटे-छोटे व्यवसायों का भूमि से अभी लोप नहीं हुआ; छोटी-छोटी दूकानें अब भी स्थापित हैं; और कृषि में भी छोटे-छोटे खेतों की ही विजय होती है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि छोटे-छोटे व्यवसायों की परिस्थिति आजकल काफ़ी अच्छी है। औद्योगिक क्षेत्र में बड़े-बड़े फ़र्म उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं, पर छोटे-छोटे फ़र्मों का अब भी अस्तित्व है। बारीक और उच्च श्रेणी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में और जहाँ कहीं भी व्यक्तिगत परीक्षा और निरीक्षण अथवा उच्च कलात्मक कुशलता की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ छोटे फ़र्म सुरक्षित रहते हैं। सामान्य व्यापार में छोटे फ़र्म और भी अच्छी दशा में हैं क्योंकि छोटे फ़र्म ख़रीदारों की सुगमता पर ज्यादा ध्यान दे सकते हैं और उनके समीप ही खोले जा सकते हैं। बड़े फ़र्म तो बाज़ार में ही खुलते हैं जो सब ख़रीदारों के घर के पास नहीं होते।

खेती में भी अब तक यही हाल था। लेखक अब तक अंकों द्वारा यह दिखाते रहे हैं कि कृषि में किसी प्रकार का एकत्रीकरण नहीं हुआ, इसके विपरीत बड़े-बड़े खेत छोटे-छोटे खेतों में विभाजित कर दिये गये हैं।[५] एक समाजवादी लेखक लिखते हैं कि 'खेती के सम्बन्ध में समाजवादी भविष्यवाणियाँ पूर्ण रूप से मिथ्या प्रमाणित हुई हैं। इसमें कुछ भी

---

[४] देखिए Skelton, *Socialism, A Critical Analysis*, p. 156

[५] उदाहरणार्थ देखिये Guyout, *Socialistic Fallacies*; Saller, *Karl Marx and Modern Socialism*, इत्यादि।

संदेह नहीं कि छोटे-छोटे खेतों का महत्व बड़े-बड़े खेतों की अपेक्षा अब अधिक हैं। मार्क्स का यह कथन कि छोटे परिमाण में खेती करना भी पूर्णतः अनुपयुक्त तथा अनुपयोगी है तथा ऐंगिल्स का यह विश्वास कि पूँजीवादी उत्पत्ति में छोटे-छोटे फ़र्मों का विनाश हो जायगा, अत्यंत त्रुटिपूर्ण सिद्ध हुये हैं।'

वास्तव में मार्क्स के लिखने के समय और कुछ समय पश्चात् तक खेती में भी बड़े खेतों की विजय रही। पर बाद में इसके विरुद्ध भावना ज़ोर पकड़ गई। कुछ गत वर्षों से अब फिर प्रतिक्रिया हो रही है और बड़े खेतों को फिर से अधिक लाभदायक माना जाने लगा है। अमेरिका में बड़े-बड़े 'बोनाज़ा फार्म्स', रूस के विस्तृत खेत और जर्मनी के उसी प्रकार के विशाल फ़ार्म इसके जीते जागते प्रमाण हैं।[६] इसलिये यहाँ पर मार्क्स की भविष्यवाणी सत्य निकलने के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह सारांश निकलता है कि मार्क्स की भविष्य-वाणी के अनुसार बड़े-बड़े फ़र्म स्थापित होते जा रहे हैं, पर छोटे फ़र्मों का एकदम विनाश नहीं हुआ है। इन छोटे फ़र्मों के क़ायम रहने का समाजवाद के लिये कोई महत्व नहीं है। चाहे कुछ समय तक इनका जीवित रहना अनिवार्य हो, चाहे ये समाजवादी समाज में भी कायम रहें, पर समाजवाद में राष्ट्रीय स्वामित्व तथा अधिकार के लिये समाज का सुदृढ़ होना छोटे-छोटे व्यवसायों की संख्या पर निर्भर नहीं, वरन् बड़े-बड़े फ़र्मों के अस्तित्व पर निर्भर है। कार्ल कास्की कहते हैं कि समाजवाद के लिये समाज की सुदृढ़ता बहुसंख्यक छोटे मोटे तथा टूटे-फूटे व्यवसायों के कारण असफल नहीं प्रमाणित की जा सकती। बिना बड़े-बड़े व्यवसायों के ऊँचे पैमाने पर चलाये समाजवाद असम्भव है। जब बड़े-बड़े व्यवसाय स्थापित हो जाते हैं, तब समाजवादी समाज के

[६] देखिए *Journal of Political Economy*, Vol. of 1938

लिये यह सम्भव है कि उत्पत्ति को एकत्र करके छोटे-छोटे व्यवसायों से छुटकारा प्राप्त कर सके।[७]

इसके अतिरिक्त कुछ छोटे-छोटे फ़र्म भी अवश्य हैं और शायद संख्या में बढ़ भी रहे हैं, पर बड़े फ़र्म और अधिक तेज़ी से बढ़ रहे हैं। फिर ये छोटे व्यवसाय बहुत लघुकालीन और अस्थिर हैं। साथ ही साथ वे महत्वहीन भी होते हैं, क्योंकि जैसे ही उनमें जीवन आता है और वे बड़े-बड़े फर्मों से प्रतियोगिता करने में समर्थ हो पाते हैं, वैसे ही बड़े-बड़े फर्म उनको प्रयत्नपूर्वक नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं।

(२) सम्पत्ति का केन्द्रीकरण : मध्यवर्ग का लोप

व्यवसाय के एकीकरण-सिद्धान्त से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध यह विचार है कि समय की प्रगति के साथ सम्पत्ति का भी केन्द्रीकरण होगा, जिसके फलस्वरूप समाज धनी और सर्वहारावर्ग दो भागों में बँट जायगा और मध्य-वर्ग का लोप हो जायगा। इस प्रकार श्रेणी-संघर्ष सर्वहारावर्ग तथा उच्चवर्ग के युद्ध के रूप में रह जायगा। मार्क्स लिखते हैं मध्य-वर्ग में नीची श्रेणी के मनुष्य, छोटे-छोटे दूकानदार और कारीगर तथा किसान आदि सब सर्वहारा-वर्ग में मिल जायँगे।[८] मध्य-वर्ग की निम्न श्रेणी तक ही विनाश सीमित नहीं रहता, वरन् उसकी ऊपरी श्रेणी भी नष्ट होती है। पूँजीपति पूँजीपति को हड़पने लग जाते हैं और सम्पत्ति थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। इस प्रकार समाज में एक छोटा-सा पूँजीपति-वर्ग और एक बड़ा-सा सर्वहारा-वर्ग आमने-सामने दीख पड़ते हैं : मध्य-वर्ग नष्ट हो जाता है। सामाजिक क्रान्ति में बड़ा सामाजिक वर्ग

---

[७] देखिये Karl Kautsky, *The Social Revolution*, p. 144.
[८] देखिये *Communist Manifesto*, p. 24.

छोटे वर्ग पर विजय प्राप्त करता है, और समाजवाद का स्थापन करता है।[१]

इस विषय में मार्क्स की भविष्यवाणी को एकदम ग़लत माना जाता है। यह कहा जाता है कि मध्य-वर्ग का ह्रास नहीं हो रहा है, वरन् उसकी संख्या, शक्ति और प्रभुत्व में वृद्धि ही हो रही है। इस विषय पर हम पूँजीवाद का विश्लेषण करते समय प्रकाश डाल चुके हैं। वहाँ हमने इस वर्ग की प्रकृति का निरूपण किया था कि यह अधिक परिमाण में पूँजीवादी उत्पत्ति की उन्नति से भयभीत रहता है, क्योंकि यह छोटी मात्रा की उत्पत्ति पर निर्भर है। यदि बड़े पैमाने पर उत्पत्ति होने लगी तो इसका नाश हो जायगा। परन्तु यह सर्वहारा वर्ग के आंदोलनों से भी डरता है, क्योंकि यह मज़दूरों को वेतन पर नौकर रखता है। यह सामाजिक या आर्थिक उन्नति नहीं चाहता, वरन् यह केवल अपनी अवस्था को छोटे दर्जे पर निर्भर रखना चाहता है। यह बड़े पैमाने की उत्पत्ति से प्रतियोगिता करना चाहता है, परन्तु साथ ही साथ अपने अस्तित्व को बनाये रखने की

---

[१] "पहले से बनी हुई पूँजियों का केन्द्रीकरण, उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विनाश, एक पूँजीपति का दूसरे पूँजीपति को दबाना अनेक छोटी पूँजियों को थोड़ी सी बड़ी पूँजियों में परिवर्तन—यह प्रक्रिया पहली से इस बात में भिन्न है कि यह क्रियात्मक पूँजी के वितरण में एक परिवर्तन की पहले से ही कल्पना कर लेती है। यह वास्तविक केन्द्रीकरण है, और एकीकरण से भिन्न है। अब मज़दूर का शोषण नहीं किया जायगा, वरन् पूँजीपति का जो अभी तक मज़दूरों का शोषण करता रहा है। यह शोषण पूँजीवादी उत्पत्ति के क़ानूनों से स्वयं ही पूरा हो जाता है। एक पूँजीपति अनेक पूँजीपतियों का विनाश करता है। इस प्रकार लगातार पूँजीपतियों की संख्या घटती जाती है"—Karl Marx. *Capital*, 1, pp. 395, 487.

और अधिक ध्यान देता है। इसकी इच्छा केवल यह होती है कि सामाजिक दशा में कोई उन्नति न हो। इसलिये पूँजीपतियों का बल बढ़ते देखा, तो यह सर्वहारा-वर्ग से जा मिलता है और यदि मज़दूरों का प्रभुत्व कायम होते देखा, तो पूँजीपतियों की सहायता करता है।

मार्क्स ने अपने समय के (१८४८ ई०) मध्य-वर्ग की दशा और राजनीतिक रुझानों का अध्ययन करके यह लिखा था कि उसकी शक्ति का ह्रास होगा। कोई भी व्यक्ति उस परिस्थिति में यही भविष्यवाणी करता। उनका विनाश निश्चित् सा प्रतीत होता था।[१०] पर पूँजीपतियों ने एक और ही चाल चली। उन्होंने अपना नाश होते देख अपनी शक्ति को फिर से स्थापित करने का अंतिम प्रयत्न बड़े ज़ोर से किया। उन्होंने मीठे-मीठे शब्दों का आवरण चढ़ाकर, और पूँजीवाद के विरुद्ध आवाज़ें लगाकर मध्य-वर्ग को बहकाया कि वे उनकी सहायता करेंगे और उनको नष्ट होने से बचायेंगे। वे लोग इसी बहकाये में आ गये और इस प्रकार फैसिज़्म की स्थापना हुई। इस प्रकार इस समय मध्य वर्ग, पूँजीपतियों के प्रभुत्व का ह्रास होते देख, और सर्वहारा-वर्ग की उन्नति होते देख, पूँजीपतियों से मिल गया है। इसलिये हमें उसकी शक्ति, जो वास्तव में पूँजीपतियों और उसकी संयुक्त शक्ति है, अधिक प्रतीत होने लगी है। पर यह अवस्था अधिक समय तक नहीं रह सकती। जब फैसिज़्म अपने बचनों को पूरा नहीं करेगा (क्योंकि ऐसा करना उस मत का उद्देश्य ही नहीं है), तब मध्य-वर्ग की आँखें खुलेंगी। उस समय वे पूँजीपतियों का साथ छोड़ने की चेष्टा करेंगे। पर इसके पूर्व ही पूँजीपति उसका सत्यानाश कर देंगे। पूँजीवाद का विकास उनके नाश का कारण होता है और फैसिज़्म जैसे-जैसे पूँजीवाद को सहायता पहुंचाता जायगा, वैसे ही वैसे

---

[१०] G. D. H. Cole. *What Marx Really Meant*, pp. 106-108,

मध्य-वर्ग की रक्षा करने में अयोग्य होता जायगा; बल्कि उल्टा उनके लिये ख़तरा बढ़ता ही जायगा। इसलिये कुछ ही समय बाद वह सर्वहारा-वर्ग में मिल जायगा। मेरा तो विश्वास है कि मार्क्स का वह सिद्धांत ग़लत नहीं, वरन् पूर्णतः ठीक है। किसी सिद्धांत के कार्यशील होने में यदि कुछ समय लग जाय तो यह उसके मिथ्या होने का प्रमाण नहीं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि मार्क्स ने फैसिज़्म के उदय को पहले से नहीं सोचा। यह सच है, पर इसके लिये मार्क्स की कठोर शब्दों में निन्दा करना औचित्य की सीमा का उलंघन करना है। संसार में ऐसा कौन सा व्यक्ति है जो पूर्णतः सर्वगुण-सम्पन्न हो, जिसने कोई भूल नहीं की ? संसार का बड़े से बड़ा व्यक्ति बिना भूल किये बड़ा नहीं बना। फिर मार्क्स की यह तो कोई विशेष त्रुटि भी नहीं। भविष्यवाणी करना सदैव कठिन होता है। यदि अंधकार में रक्खी हुई चार वस्तुओं में से कोई व्यक्ति तीन वस्तुओं को ठीक-ठीक बता दे और चौथी वस्तु का भी अनुमान कर सके, तो उसे अंधा नहीं कहा जा सकता। भविष्य के विषय में अनुमान लगाने में त्रुटि व्यवहारिक रूप से की गई त्रुटि का पासंग भी नहीं है। पर मार्क्स की भविष्यवाणी को तो त्रुटिपूर्ण भी नहीं माना जा सकता। केवल उचित समय आने से पूर्व ही मार्क्स के इस सिद्धांत को मिथ्या मान लेना मार्क्स के साथ अन्याय करना है और सच्ची विद्वता से विदा लेना है।

(३) बढ़ती हुई निर्धनता का सिद्धान्त

मार्क्स का विश्वास था कि जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, वैसे-वैसे सर्वहारा-वर्ग की आर्थिक अवस्था गिरती जायगी। वह निर्धनता, दासता और अवनति के गर्त में गिरता जायगा। मार्क्स यहाँ पर पूँजीवाद पर आरोपित किये गये दोषों को फिर दुहराते हैं। 'पूँजीवादी समाज में श्रमी की सामाजिक उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने के समस्त तरीक़े प्रत्येक

मज़दूर के व्यक्तित्व के मूल्य पर स्थापित किये जाते हैं। उत्पत्ति को बढ़ाने के समस्त तरीके उत्पादक के शोषण में सहायक होते हैं। वे मज़दूर को एक मशीन के रूप में परिवर्तित कर देते हैं, कार्य के प्रति उसकी रुचि को नष्ट कर देते हैं और वह उनको घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। वे उसकी मानसिक शक्तियों को नष्ट कर देते हैं और उन परिस्थितियों को ख़राब कर देते हैं जिनके अंदर मज़दूर काम करता है। काम करते समय वे मज़दूर पर शासक की भाँति हावी रहते हैं। वे उसके जीवन को सदैव कार्य में संलग्न रखते हैं और उसके स्त्री-बच्चों को पूँजीवाद के चक्र में फाँस लेते हैं।' 'अतिरिक्तार्घ को उत्पन्न करने के समस्त तरीके एकत्रीकरण के ढंग भी हैं, और एकत्रीकरण का प्रसार उन तरीकों को बढ़ाने का साधन हो जाता है। इसलिये जैसे-जैसे पूँजी का एकत्रीकरण होता जाता है, वैसे-वैसे मज़दूरों की अवस्था गिरती जाती है चाहे उनका वेतन अधिक हो या कम। इस नियम के अनुसार मज़दूर अत्यंत दरिद्रावस्था में पहुँच जाते हैं। जैसे ही जैसे एक ओर पूँजी का एकत्रीकरण होता जाता है, वैसे ही वैसे दूसरी ओर निर्धनता बढ़ती जाती है। इसलिये एक ओर धन का एकत्रीकरण, तथा दूसरी ओर निर्धनता, दासता, अज्ञान, दुर्दशा और अवनति का एकत्रीकरण होता रहता है। जैस-जैसे पूँजी के एकत्रीकरण के साथ-साथ पूँजीपतियों की संख्या घटती जाती है, वैसे-वैसे पूँजीवादी उत्पत्ति के ढंग-द्वारा संगठित मज़दूरों की संख्या बढ़ती जाती है, और वे एकत्र होकर आन्दोलन प्रारम्भ कर देते हैं।'[११] मार्क्स ने इसी भविष्यवाणी का कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो में इस प्रकार संक्षिप्त वर्णन किया है : वर्तमान मज़दूर उद्योग की उन्नति के साथ-साथ उन्नतिशील होने के स्थान पर अपने वर्ग के साथ अत्यंत अवनत-दशा में पहुंच जाता है। वह कंगाल हो

---

[११] देखिये Karl Marx, *Capital* p 406-407

जाता है, और कंगाली जन-संख्या तथा धन की अपेक्षा अधिक शीघ्रतापूर्ण बढ़ती है।[१२]

मार्क्स की इस भविष्यवाणी के आधार पर बहुत आलोचना की गई है। एक असमाजवादी लेखक लिखते हैं कि यह दुःखवाद की चरमता है; साथ ही साथ यह पूर्णतः मिथ्या भी रही। मार्क्स की इस दुःखवादी भविष्यवाणी के लिखने के समय से अब तक मज़दूरों को बढ़ती हुई दुर्दशा, दासता अवनति से पाला नहीं पड़ा, बल्कि उन्हें बढ़ता हुआ भौतिक सुख, स्वतंत्रता, और उन्नति के अवसर प्राप्त हुये हैं। रैमजे मैकडानल्ड भी लिखते हैं कि मार्क्स की भविष्यवाणी अपने प्रकाशन के समय अभाग्यशील थी। उस समय व्यापार की बहुत बड़ी उन्नति होनेवाली थी। व्यापार कभी एकदम इतना उन्नतिशील नहीं हुआ जितना कि वह १६वीं शताब्दी में हुआ, और मज़दूर-वर्ग ने भी उस उन्नति से लाभ उठाया। हम अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक संख्या में सुन्दर वस्त्र प्राप्त कर सकते हैं। हमारे मकान भी उनकी अपेक्षा अच्छे हैं, और उपभोग करने के लिये हमें उनकी अपेक्षा अधिक वस्तुएँ प्राप्त हैं।[१३]

सच बात यह है कि मार्क्स के इस सिद्धान्त की कई व्याख्याएँ हो सकती हैं जिनमें से केवल एक ही मान्य है। मार्क्स के आलोचकों ने इसकी अन्य व्याख्याओं को लेकर ही आलोचना की है। इसकी तीन व्याख्याएँ ये हैं[१४]

(१) कुछ मार्क्सवादी कहते हैं कि सर्वहारा-वर्ग की निर्धनता पूर्ण रूप से नहीं वरन् सापेक्षिक रूप से बढ़ रही है। मज़दूरों की दशा कल

---

[१२] *Communist Manifesto*, p. 31

[१३] देखिये MacDonald, *The Socialist Movement*, pp. 92-95.

[१४] देखिये G. D. H. Cole, *What Marx Really Meant.* pp. 111-115.

से आज अच्छी अवश्य है, पर गरीब और अमीर का अंतर पहले से कहीं अधिक है। किंतु पीड़ा, दासता, अज्ञान तथा मानसिक अवनति केवल सूक्ष्म शब्द हैं जो उस मनुष्य की अवस्था में ठीक रूप से प्रयुक्त नहीं किये जा सकते जिसकी खास शिकायत यह है कि उसकी आमदनी केवल दूनी ही हुई है, और अन्य लोगों की तिगुनी हो गई है।[१५] मार्क्स की भविष्यवाणी अवनति के सूक्ष्मांग पर ज़ोर देती है। इसलिये यह व्याख्या भ्रमपूर्ण है।

(२) कुछ अन्य मार्क्सवादी इसका यह अर्थ लगाते हैं कि पूँजीवाद में मज़दूरी घटाने की ओर क्रियात्मक रूप से रुझान हो चला है और पूँजीवादी उत्पत्ति की उन्नति के साथ-साथ वह शायद भीषण रूप ग्रहण कर ले। यह व्याख्या पहली व्याख्या से अधिक ठीक है। फैसिस्ट देशों में वास्तव में वेतन कम दिया जा रहा है। मज़दूरों को यह पढ़ाया जा रहा है कि रोटी-मक्खन से बन्दूक, तोप और गोले अधिक मूल्यवान् हैं। परन्तु अन्य पूँजीवादी देशों में ऐसा नहीं है। इसलिये यह व्याख्या मार्क्स के अनुसार तो है परन्तु सत्यता के विपरीत है।

(३) कुछ अन्य मार्क्सवादी कहते हैं कि मार्क्स का अर्थ यह था कि जब तक पूँजीवाद एक प्रगतिशाली प्रणाली रहेगा और उत्पादन-शक्ति की उन्नति करता रहेगा, तब तक मज़दूरों के रहन-सहन का दर्जा बढ़ सकता है। जब यह अवस्था बन्द हो जायगी और पूँजीवाद उत्पादक शक्तियों के लिये एक बन्धन-सा हो जायगा, तब निर्धनता तथा दुर्दशा का बढ़ना प्रारम्भ हो जायगा।

इस सिद्धान्त की यह व्याख्या मार्क्स के कथन से मिलती है और वास्तविकता के भी अनुसार है। उदाहरणार्थ, २०वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में जब कि इंगलैंड सबसे बड़ा व्यवसायिक देश था और जब उसमें स्पर्धा की धूम थी, उस समय मज़दूरी में कमी हो गई थी

---

[१५] देखिए Skelton, *Socialism, A Critical Analysis*, p. 154.

और उस समय रहन-सहन का दर्जा नीचा हो गया था। यही बात युद्ध के पश्चात् सन् १९२१ ई० की गिरती में दुहराई गई और सन् १९३० ई० के आर्थिक संकट में और भी स्पष्ट रूप से घटित हुई। इस व्याख्या के अनुसार, इन कारणों का परिणाम समस्त मज़दूरों के रहन-सहन के दर्जे में समान गिरती नहीं है, वरन् वह उनके किसी भाग के सम्बन्ध में हो सकती है, और दूसरे भाग के सम्बन्ध में नहीं; जैसे इटली और जर्मनी के मज़दूरों के पुरस्कार में कमी हो सकती है, इंगलैंड के मज़दूरों के वेतन में नहीं।

(४) आर्थिक संकट

मार्क्स का कथन था कि पूँजीवाद के क्षेत्र में कुछ ऐसी शक्तियाँ काम कर रही हैं जो पूँजीवाद का नाश करके समाजवाद को स्थापित करेंगी। इनमें आर्थिक संकट[१९] का मुख्य स्थान है। सन् १८९६ ई० में अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी काँग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया था कि आर्थिक और औद्योगिक उन्नति इतनी शीघ्रतापूर्वक हो रही है कि थोड़े ही समय में आर्थिक संकट उपस्थित हो सकता है। इसलिये काँग्रेस समस्त सर्वहारा वर्ग के लिये इस बात की आवश्यकता समझती है कि वे शिक्षा ग्रहण करें, अपने अंदर वर्गीय चेतना उत्पन्न करें, और अपने सामान्य लाभ के लिये अपने विभिन्न देशों का शासन करना सीखें।

आर्थिक संकट पूँजीवादी प्रणाली के स्वाभाविक अंतर्विरोधों को बहुत तीव्र रूप में रखते हैं और वस्तुओं के द्वन्द्वात्मक कार्यक्रम में इसका अधःपतन निश्चित करते हैं। वाद, प्रतिवाद और युक्तवाद शब्दों के अनुसार हाथ की कारीगरी के युग में उत्पत्ति के व्यक्तिगत साधनों का, उत्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व से साथ था। आजकल उत्पत्ति संगठित, एक दूसरे पर अवलम्बित और सामाजिक है, परन्तु

[१९] इसका पहले विवेचन हो चुका है। देखिये भाग दो, "पूँजीवाद"

उपज पर पूँजीपति व्यक्तिगत रूप से अधिकार कर लेते हैं। इसी दोष को समाजवादी दूर करना चाहते हैं। और इसके विरुद्ध शक्तियाँ काम कर रही हैं। इसके फलस्वरूप सामाजिक उत्पत्ति में उपज का सामाजिक अधिकार और विभाजन संयुक्त हो जायँगे। परन्तु वर्तमान दशा में सामाजिक उत्पत्ति और व्यक्तिगत अधिकार में प्रतिद्वन्द्व चल रहा है। यही पूँजीपतियों और मज़दूरों के संघर्ष में सहायक होता है। यही व्यक्तिगत कारखानों में उत्पत्ति के संगठन और सामान्यः समाज में उत्पत्ति की अराजकता के विरोध में प्रकट होता है। परन्तु आर्थिक संकट में यह सबसे स्पष्ट और विस्फोटक रूप में दीख पड़ता है। यहाँ उत्पत्ति का ढंग, विनियम के ढंग और सम्पत्ति-सम्बन्ध के विरुद्ध विद्रोह करता है।[१७] प्रत्येक दस वर्ष बाद एक बार समस्त औद्योगिक और व्यापारिक संसार छिन्न-भिन्न हो जाता है। व्यापार बन्द हो जाता है बाज़ार सामान से भर जाते हैं। उत्पत्ति एकत्र हो जाती है। नक़द रुपया ग़ायब हो जाता है। उधार बन्द हो जाता है। कारख़ाने बन्द हो जाते हैं। बहुसंख्यक मज़दूर खाद्य-पदार्थों की कमी महसूस करने लगते हैं। दिवाले पर दिवाले निकलते हैं। यह शिथिलता सालों तक जारी रहती है। उत्पत्ति और विनियम धीरे-धीरे फिर से चलने लगते हैं। कुछ समय के पश्चात् वे कुछ शीघ्रगामी हो जाते हैं। अंत में फिर औद्योगिक और व्यापारिक उन्नति चरम सीमा पर पहुँच जाती है जिसका परिणाम अंततोगत्वा फिर वही आर्थिक संकट होता है।[१८]

मार्क्स के आलोचक अभी तक कहते रहे हैं कि मार्क्स के कथन के विरुद्ध आर्थिक संकट कम संख्या में तथा कमज़ोरी के साथ पड़ रहे

---

[१७] देखिये Skelton, *Socialim, A Crtical Analysis.*

[१८] देखिये Engels, *Socialism, Utopian & Scientific,* pp. 64-5.

हैं। ऋण का उत्तम संगठन, पूँजी और व्यापार का अंतर्राष्ट्रीकरण आदि शक्तियों ने इनका ज़ोर बहुत कम कर दिया है।[१] इसलिये मार्क्स की भविष्य-वाणी मिथ्या है। पर सन् १६३० ई० के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट ने तो, जो अमरीका में (Wall Street Crash के साथ) प्रारम्भ हुआ था, दशा एकदम पलट दी। यह संकट इतना तीव्र था कि बहुत से विद्वानों को संदेह होने लगा था कि शायद यह पूँजीवाद का अंतिम आर्थिक संकट हो जिसमें पूँजीवाद स्वयं छिन्न-भिन्न हो जाय। पूँजीवादियों का काल्पनिक सुख और संरक्षण का स्वर्ग इससे नष्ट भ्रष्ट हो गया। ख़ैर, इस संकट में पूँजीवाद का नाश तो नहीं हुआ, क्योंकि सन् १६३२ ई० के बाद से एक देश के बाद दूसरा पूँजीवादी देश पुनः शक्ति प्राप्त करता जा रहा है। परन्तु उनके शक्ति प्राप्त करने के पूर्व ही एक और आर्थिक संकट के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगे हैं। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि मार्क्स की यह भविष्य-वाणी सत्य है।

(५) सामाजिक क्रांति और समाजवाद का स्थापन

मार्क्स का कथन था कि एक ओर तो आर्थिक संकट पूँजीवाद की शक्ति को छिन्न-भिन्न करके उसे मृतप्राय बना देंगे और दूसरी ओर संर्वहारा-वर्ग की बढ़ती हुई निर्धनता उन्हें क्रांति की ओर उत्साहित करेगी और उनसे क्रांति करावेगी। क्रांति के पश्चात् सर्वहारा-वर्गीय अधिनायकशाही समाज का पुनर्विधान करने के लिये क़ायम होगी। पर यह केवल लघुकालीन होगा क्योंकि शीघ्र ही एक वर्गहीन समाज की स्थापना होगी।

इस विषय में मार्क्स की आलोचना करते हुये यह कहा जाता है कि सामाजिक क्रांति जिसको मार्क्स ने पूँजीवादी एकत्रीकरण, सर्वहारा-वर्गीय निर्धनता और बढ़ते हुए आर्थिक संकटों का परिणाम बताया

[१] Hernshaw, *A Survey of Socialism*, pp. 280-281.

था, समीप नहीं आ रही है और कार्यशील नहीं है।[२०] लेकिन यदि कोई निष्पक्ष रूप से इस विषय पर विचार करे तो प्रतीत होगा कि वास्तव में ये शक्तियाँ कार्यशील हैं। पूँजीवाद के युग में आर्थिक संकट अधिक भीषण होते जा रहे हैं और ऐसे समय में मज़दूरों की दशा हीन हो जाती है। बेकारी और वेतन की कमी उनकी निर्धनता को बहुत बढ़ा देती है। यदि इस दशा के होते हुये भी कोई अपनी आँखें बन्द कर ले और यह कहे कि ऐसा हो ही नहीं रहा है, तो इसमें मार्क्स का दोष नहीं, स्वयं कहने वाले का ही दोष है।

निष्कर्ष

मार्क्स की भविष्य-वाणियों का निष्पक्ष अध्ययन बताता है कि मार्क्स यहाँ पर ग़लत नहीं थे। उनकी भविष्य-वाणियाँ दीर्घ काल में सत्य होंगी। यदि उनके आलोचक इतने उतावले हैं कि वे जो बातें कल-परसों ही हों उन्हीं को सत्य मानें और उसके आगे की घटनाओं का होना सत्यता में शामिल न करें, तब उनकी परिभाषा के अनुसार मार्क्स सचमुच ग़लत थे। पर भविष्य पर विचार करते हुये दीर्घ काल को दृष्टि में रखना आवश्यक है। बल्कि कहना तो यों चाहिये कि यह विद्वत्ता का चिह्न है, क्योंकि साधारण पुरुष भविष्य का बहुत दूर की बातें नहीं सोच सकता जैसे कि कमज़ोर दृष्टि वाला बहुत दूर की चीज़ें नहीं देख सकता। मार्क्स का आर्थिक संकट वाला प्राक्कथन अब कुछ समय बाद अक्षरशः सत्य होता दीख पड़ता है। इसी प्रकार कुछ समय बाद शायद मध्य-वर्ग के लोप होने में भी चिह्न नज़र आने लगें। यह हो सकता है कि मार्क्स की लेखन-शैली से शायद इस बात का भ्रम होता हो कि उनकी बताई हुई सब बातें शीघ्र, कल-ही, हो जायँगी क्योंकि उनकी शैली बहुत ज़ोरदार थी। उनकी मौलिकता, अटूट विश्वास और सबसे अधिक उनका प्रचारक होना इसके लिये उत्तरदायी हैं। पर

[२०] देखिये Hernshaw, *A Servey of Socialism*, p. 280.

महापुरुषों को उनकी शैली से नहीं, वरन् उनके कहे हुये वाक्यों से समझना चाहिये। मार्क्स जैसे व्यक्ति के विषय में तो यह और भी अधिक लागू है क्योंकि वे लेखक और विचारवान ही नहीं वरन् प्रचारक भी थे।[२१]

---

[२१] 'मार्क्स केवल विचार में ही क्रांतिवादी नहीं थे, वरन् वे कार्यों में भी क्रांतिवादी थे जो पहली बात से बहुत भिन्न है। वे केवल एक विद्वान ही नहीं थे, वरन् एक ईश्वर-दूत भी थे। वे महान् तथा गम्भीर पुस्तकों के रचियता ही नहीं थे, वरन् बहुत ही प्रभावशाली पैम्फलेट-लेखक भी थे। मार्क्स जो एक अत्यंत परिश्रमी विद्यार्थी थे और जो ब्रिटिश म्यूजियम में निरंतर पढ़ते रहते थे बाद में अत्यंत क्रांतिकारी हो गये।' Lindsay, *Karl Marx's Capital*, p. 10.

समाजवाद के विभिन्न रूप

राष्ट्रीय समाजवाद, सिंडीकैलिज़्म, गिल्ड समाजवाद, समष्टिवाद और अराजकतावाद

अध्याय २३

उदार समाजवाद और फेबियनिज़्म

उदार समाजवादी विकासवादी सिद्धान्त को मानते हैं। वे वैधानिक तरीक़ों का प्रयोग करके वर्तमान राज-यंत्र (State) में परिवर्तन करना चाहते हैं जिससे वह समाजवाद को क़ायम रखने का कारण और उसमें सहायक हो जाय। राज-यंत्र में परिवर्तन करने के लिये उनकी रीति यही है कि वे ज़ोरदार और विस्तृत प्रचार द्वारा जनता में समाजवाद के प्रति सहानुभूति पैदा करें और फिर वोट (Ballot-box) द्वारा पार्लियामेंट और एसेम्बलियों पर अधिकार कर लें। यदि राज-यंत्र उनके हाथ में आ गया तब उन्हें अपने उद्देश्य धीरे-धीरे पूरे करने में कठिनाई नहीं होगी। वे सरकारी सेवकों में अपना आदर्श फैलायेंगे और आर्थिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर राष्ट्रीय हस्तक्षेप को उत्तेजना देने की चेष्टा करेंगे। इस प्रकार वे वर्तमान प्रणाली में शीघ्रतापूर्वक मौलिक परिवर्तन करने की बात नहीं सोचते; बल्कि वे कहते हैं कि सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन धीरे-धीरे ही हो सकते हैं और प्रत्येक परिवर्तन पूर्व की सामाजिक प्रणाली द्वारा निर्धारित होता है। इसलिये हमें वर्तमान परिस्थिति को ध्यान में रखकर ही भविष्य के आन्दोलन कि दिशा और गति का निरूपण करना चाहिये।

राज-यंत्र समाजवाद को केवल स्थापित ही नहीं करेगा, वरन् उसको स्थापित करने के बाद वह समाजवादियों के आदर्शों के अनुसार उसका सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में संचालन भी करेगा। राजयंत्र ही सामाजिक परिवर्तन करेगा और समाजवादी विचारों में लिप्त कर्मचारी व लोकतंत्रवाद की सहायता से, परिवर्तन होने के पश्चात् समाज का शासन भी करेगा।

यह तो हुई उदार समाजवाद की रीतियों और राष्ट्र के कार्यों की बात। अब प्रश्न यह होता है कि उदार समाजवादियों के अनुसार राष्ट्र का क्या रूप होगा? बहुत-से-व्यक्तियों का भ्रम है कि उदार समाजवादी राष्ट्र के कार्यों का चरम सीमा तक केन्द्रीकरण कर देंगे। पर यह विचार निराधार है। उदार समाजवादी सर्वदा स्थानीय सरकार के क्षेत्र को विस्तृत करने का उद्देश्य सामने रखते हैं। बर्नार्ड शॉ ने सन् १८८६ ई० में लिखा था कि एक लोकतंत्र राष्ट्र समाजवादी लोकतंत्र-राष्ट्र उस समय तक नहीं हो सकता जब तक वह जन-संख्या के प्रत्येक केन्द्र में केन्द्रीय सरकार के ही समान लोकतंत्र स्थानीय शासक-संघ स्थापित न कर दे। वास्तव में उदार समाजवादी बहुत से कार्यों को जो आजकल केन्द्रीय सरकार के जिम्मे हैं, स्थानीय सरकार के हवाले कर देंगे। पानी, गैस, बिजली और घरों का प्रबन्ध करना; स्थानीय यातायात के साधन, विद्योपार्जन, सफ़ाई और पुलिस का प्रबंध करना; पुस्तकालय और पार्क बनाना; जन-साधारण के लिये गायन और मनोरंजन का इंतज़ाम करना; दूध-घी इत्यादि पवित्र पदार्थों को बनाकर बेचना, आदि विषय सब स्थानीय कर दिये जायँगे। जहाँ कहीं भी किसी स्थान के निवासियों के स्वास्थ्य का ही नहीं, वरन् उनके मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति का प्रश्न आयेगा, वहाँ स्थानीय सरकार का अकंटक दखल होगा। इस प्रकार आजकल के कम से कम अधिकारों से उन्हें कहीं ज़्यादा अधिकार दिये जायँगे। केन्द्रीय सरकार रहेगी तो अवश्य, पर उसका कार्य केवल स्थानीय संघों को सूचना और राय या आर्थिक सहायता देना और उन्हें कार्यशील बनाये रखने के लिये उनका निरीक्षण करना भर होगा।[1]

अब हम उदार समाजवादियों के कार्य-क्रम और उनके सोचे हुये तरीक़ों पर विचार करेंगे। इङ्गलैंड के श्रमीदल के कार्यक्रम और

---

[1] *Libour and the New Social Order* (I. L. P.)

तरीके इन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। उस दल के अनुसार इस कार्य-क्रम में चार मुख्य बातें हैं—

(१) एक राष्ट्रव्यापी न्यूनतम मज़दूरी देना।

(२) उद्योग का लोकतंत्रतवादी अधिकार।

(३) राजस्व में क्रांति; और

(४) बेकार सम्पत्ति को जाति के भले के लिये व्यय करना।

राष्ट्रव्यापी न्यूनतम मज़दूरी—राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक सदस्य को कम से कम इतना आय अवश्य निश्चित करे जिससे उसकी शारीरिक, मानसिक और आध्मात्मिक उन्नति में कोई बाधा न पड़े। यह 'उन्नति के लिये समान अवसर' वाले सिद्धान्त का रूपान्तर है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कारखानों के क़ानूनों में उलट-फेर किया जायगा। उन्हें अधिक विस्तृत बनाया जायगा। मज़दूरी का समय कम कर दिया जायगा और समान कार्य पर समान पुरस्कार दिया जायगा। इस उद्देश्य की एक शाखा यह है कि सरकार बेकारी को जड़ से उखाड़ने की चेष्टा करे। यदि कोई मनुष्य बेकार हो तो उसे उचित काम दिलाने की कोशिश की जाय और अगर काम न मिले तो सरकार उसे उदर-पूर्ति के लिये खर्च दे।

उद्योग पर लोकतंत्र अधिकार—उदार समाजवान शीघ्र ही रेल, खानें, बिजली और नहरों का राष्ट्रीकरण कर देगा। अधिकारच्युत व्यक्तियों को सरकार हरज़ाना देगी। शिक्षा-प्रणाली ऐसी होगी कि जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह कैसी ही आर्थिक दशा का क्यों न हो, अपनी मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करने का समान मौक़ा मिले। संस्कृति और विद्या पर एक छोटे से वर्ग का एकाधिकार होना अनुपयुक्त है। वस्तुतः उस पर प्रत्येक नागरिक का अधिकार होना चाहिये।

राजस्व में क्रांति—ऊपर बताई गई बातों को क्रियात्मक रूप देने के लिये सरकार के पास काफ़ी द्रव्य होना चाहिये। यह द्रव्य

आयेगा कहाँ से ? यह तो निश्चित है कि ग़रीबों पर भारी कर नहीं लगाया जायगा। राष्ट्र को एक न्यूतम रहन-सहन का दर्जा क़ायम रखना आवश्यक है। मध्य-वर्ग के साधारण सदस्यों को भी कर नहीं देने पड़ेंगे। आय-कर और अतिरिक्त-कर (Super-tax) की दर बढ़ा दी जायगी और वे आय की बढ़ती के साथ-साथ अपेक्षाकृत अधिक दर पर लगाये जायँगे जिससे कम आयवाले को काफ़ी कम और बड़ी आयवाले को काफ़ी ज्यादा कर देना पड़े। इस प्रकार न्यूनतम कर देने वाला रुपये में एक आना कर दे सकता है, पर एक करोड़पति से रुपये में पन्द्रह आने वसूल किये जा सकते हैं।

आय कर के अतिरिक्त एक पूँजी-कर (Capital Levy)[२] का भी प्रस्ताव किया जाता है। आय-कर तो आय पर लगाया जाता है, पर पूँजी-कर मनुष्यों की पूँजी पर लगाया जायगा। इङ्गलैंड में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यह प्रस्ताव रक्खा गया था कि १,००० पौंड से अधिक आयवालों की पूँजी पर पूँजी-कर लगाना चाहिये और उस रुपये से सारा युद्ध-ऋण अदा कर देना चाहिये।

इन प्रस्तावों का तात्विक सिद्धान्त क्या है ? ये दिखाते हैं कि उदार समाजवादी अतिरिक्तार्घ के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। पर अतिरिक्तार्घ को उसके कमाने वाले से छीनने के लिये वे एक अनोखी रीति काम में लाते हैं। वे पूँजीपतियों को अतिरिक्तार्घ प्राप्त करने से नहीं रोकते। पर जब वे उसे प्राप्त कर लेते हैं, तब वे उसे कर के रूप में उनसे छीनकर ग़रीबों को विभिन्न रूपों में वापिस कर देते हैं। यह वैग्नर के सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्त (Wagner's Socio-Political Theory)[३] का क्रियात्मक रूप है।

---

[२]देखिये Findlay Shirras, *The Science of Public Finance*; Dalton, *Public Finance*.

[३]देखिये B. P. Adarkar, *Principles and Practice of Federal Finance*.

बेकार सम्पत्ति का उपयोग—उदार समाजवादी भूमि का लगान, खान की आय आदि को 'बेकार सम्पत्ति' कहते हैं और इस बात पर अफ़सोस करते हैं कि यह अब तक आलसी धनिकों का साधन रही है और अब उसे राष्ट्र के भले के लिये उपयोग करने की राय देते हैं। यह वास्तव में तीसरे तरीक़े का रूपांतर है।

इस प्रकार उदार समाजवाद का आदर्श राष्ट्र मुख्य-मुख्य व्यवसायों का केन्द्रीय या स्थानीय राष्ट्रीकरण करके और बेकार सम्पत्ति को व्यक्तिविशेष से छीनकर, और अराष्ट्रीय व्यवसायों पर विभिन्न कर लगाकर, अपना कोष भरेगा; फिर उस कोष को ग़रीबों की उचित शिक्षा और उनके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने के लिये ख़र्च करेगा।[४]

फेबियनिज़्म[५]

उदार समाजवाद के मुख्य प्रतिनिधि फेबियंस हैं और फेबियनिज़्म उदार समाजवाद ही है। फेबियनिज़्म इंगलैंड की समाजवादी क्षेत्र में संसार की मुख्य देन है। सन् १८८० ई० तक इंगलैंड में मार्क्स का कोई नाम भी नहीं जानता था क्योंकि मार्क्स की पुस्तकों का अँग्रेज़ी में अनुवाद नहीं हुआ था। उस समय मार्क्सवाद के विषय में दो लेख अख़बारों में छपे। जून सन् १८८१ ई० में हैनरी हाइंडमैन ने एक पुस्तक लिखी[६] जिसमें उन्होंने मार्क्स के विचारों की व्याख्या की। पर इस भय से कि कहीं अँग्रेज़ लोग विदेशियों से घृणा करने के कारण मार्क्सवाद भी घृणा न करने लगें, उन्होंने मार्क्स का कहीं ज़िक्र तक नहीं किया। केवल भूमिका में इतना अवश्य लिखा कि 'दूसरे और

---

[४] इस राष्ट्र के निर्माण और रूप का विस्तृत वर्णन जानने के लिये देखिए, Mr. and Mrs. Webb, *Commonwealth of Great Britain.*

[५] Fabianism.

[६] Henry Hyndman, *England for All.*

तीसरे अध्यायों के विचारों और सामग्री के लिये मैं एक बड़े विद्वान और मौलिक लेखक का ऋणी हूँ' जिसके ग्रन्थों से अंग्रेज़ लोग शीघ्र ही परिचित होंगे। ऐसा करने से मार्क्स और हाइंडमैन में बहुत द्वेष-भाव फैल गया जो कभी नहीं मिटा। मार्क्सवादियों ने इसे चोरी बताया। हाइंडमैन ने बाद को मार्क्स, एँगिल्स आदि के विचारों का उनके नाम से बहुत प्रचार किया। पर इससे मार्क्सवादियों को संतोष नहीं हुआ।

हाइंडमैन ने लोकतंत्र-संघ (Democratic Federation) और बाद को समाजवादी लोकतंत्र-संघ स्थापित किये। पर तीन साल ही बाद इसके प्रमुख सदस्य अलग हो गये और उन्होंने समाजवादी लीग कायम की जो शीघ्र ही अराजकतावादी बन गई और छिन्न-भिन्न हो गई। इसी समय कुछ गम्भीर विद्यार्थी सभाएँ करते थे जिनमें सामाजिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता था। नवम्बर ७, १८८३ ई० की सभा में उन्होंने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया :—

इस सभा के सदस्य इस बात का समर्थन करते हैं कि स्पर्धा-प्रणाली थोड़े से मनुष्यों के सुख और शान्ति को ध्यान में रखती है जिससे अनेक मनुष्यों को कठिनाई तथा दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये समाज का इस प्रकार पुनः निर्माण किया जाय जिससे सामान्य सुख तथा समृद्धि (Welfare) निश्चय हो सके [७]

जनवरी चार, १८८४ को यह सभा, "फेबियन सोसइटी" के नाम से क़ायम हो गई। इसने अपने सामने यह उद्देश्य रक्खा—

हम लोगों को उचित अवसर के लिये उसी प्रकार प्रतीक्षा करनी चाहिये, जिस प्रकार फेबियंस ने हैनीबाल से युद्ध करते समय अत्यंत शांति-पूर्वक की थी यद्यपि बहुतों ने उस पर आक्षेप किया। परन्तु समय आने पर हमको फेबियंस की भाँति अत्यंत

---

[७] Pease, *History of the Fabian Society*, p. 32.

दृढ़ता से काम करना चाहिये, नहीं तो प्रतीक्षा का कुछ भी परिणाम नहीं होगा।

फेबियन सोसाइटी ने स्थापित होने के चार साल बाद अपना आधार निम्नलिखित रूप से निश्चित किया जो अब तक चला आता है :—

फेबियन सोसाइटी समाजवादियों की सभा है।

इसलिये यह भूमि और व्यवसायिक पूँजी से व्यक्तिगत और वर्गीय स्वामित्व हटाकर और उन पर राष्ट्र के भले के लिये राष्ट्र का स्वामित्व स्थापित करके, समाज का पुनः संगठन करना चाहती है। केवल इसी तरीके से देश के प्राकृतिक और प्राप्त किये हुये लाभों में सब देशवासी न्यायपूर्ण लाभ उठा सकते हैं।

इसलिये सोसाइटी भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसके फल-स्वरूप लगान के रूप में व्यक्तिगत अधिकार का अंत कर देना चाहती है।

इसके अतिरिक्त सोसाइटी राष्ट्र द्वारा भली भाँति चलाये जा सकने वाले व्यवसायों का शासन राष्ट्र के हाथ में देने के लिये प्रयत्न करती है; क्योंकि भूत काल में उत्पत्ति के साधनों पर एकाधिकार होने का कारण, व्यवसायिक आविष्कारों और अतिरिक्त आय (Surplus income) के पूँजी में परिवर्तन होने के फलस्वरूप मुख्यतः स्वामी-वर्ग का ही भला हुआ है और मज़दूर वर्ग उस वर्ग पर अपनी रोज़ी के लिये निर्भर है।

*यदि इन तरीकों को क्रियात्मक रूप दे दिया जाय, और क्षति-पूर्ति न की जाय (राष्ट्र की राय के अनुसार अधिकार-च्युत व्यक्तियों को कुछ न कुछ तो दिया ही जायगा) तो लगान या किराया और व्याज मज़दूरी को बढ़ायेंगे। इसके फलस्वरूप मज़दूरों की कमी पर अमन चैन करने वाले असली वर्ग का लोप हो जायगा और आर्थिक शक्तियों की स्वाभाविक क्रिया सब

व्यक्तियों के लिये उन्नति के अवसर समान कर देगी, जिससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में आजकल से कम हस्तक्षेप किया जायगा।

*इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये फेबियन सोसाइटी समाजवाद के मत का प्रचार करने में और उसके प्रति सहानुभूति पैदा करने में और स्त्री-पुरुषों में समान नागरिकता के अधिकार देने में विश्वास करती है जिससे कि आवश्यकीय सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन हो सकें और समाजवादी राष्ट्र स्थापित हो सके। यह आर्थिक, नैतिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में व्यक्ति तथा समाज के संबंध में ज्ञान का सामान्य प्रसार करके इन उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहती है।[८]

इस सोसाइटी ने शीघ्र ही इंगलैंड के होनहार नवयुवकों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। सन् १८८४ ई० में जार्ज बर्नार्ड शॉ ने इसमें प्रवेश किया। सन् १८८५ ई० में सिडनी वैब इसके सदस्य हुये जो आज तक इसके सबसे प्रमुख कार्यकर्ता हैं। इसके बाद एच० जी० वैल्स, विअट्रिस वैब, रैमज़े मैक्डानल्ड, जी० डी० एच० कोल आदि अन्य प्रसिद्ध व्यक्ति भी इसके सदस्य बने।

इस सभा ने समाजवाद के ऊपर बहुत सा साहित्य प्रकाशित किया है जिसका सभ्य संसार में बहुत आदर है। इनमें 'फेबियन ऐसेज़' (Fabian Essays) नामक पुस्तक बहुत प्रसिद्ध है। इस सोसाइटी ने बहुत से वैधानिक तरीके निकाले हैं।

फेबियनिज़्म के विकास का वर्णन करने के पश्चात् अब हम उसके आदर्शों का विवेचन करेंगे। फेबियंस पहले तो उन सामाजिक और व्यवसायिक शक्तियों का विश्लेषण करते हैं जो समाजवाद को क्रियात्मक रूप देने के लिये कार्यशील हैं। हम इस विषय को दुहराना आवश्यक नहीं समझते। इसके पश्चात् वे समाजवादी राष्ट्र का

---

[८] Pease, *History of Fabian Society*, p. 269.

चित्र खींचते हैं। वे इस राष्ट्र का विस्तारपूर्वक वर्णन देना नादानी समझते हैं, क्योंकि भविष्य को पूर्ण रूप से देखना असम्भव है। वे केवल मोटी-मोटी बातें बताते हैं जिससे उस सामाजिक प्रणाली का सारांश समझ में आ जाता है। हम उनके कुछ मुख्य पहलुओं का विवेचन करेंगे।

फेबियस के अनुसार समाजवाद में उत्पत्ति के साधनों पर राष्ट्र का और उपभोग के साधनों पर व्यक्तियों का अधिकार रहेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्र उपभोग के किसी भी साधन पर अधिकार नहीं कर सकता। समाजवाद में पब्लिक पार्क, पब्लिक पुस्तकालय आदि वस्तुएँ होंगीं। न किसी व्यक्ति को अपनी वस्तुओं को अधिक उपयोगी बनाने से ही रोका जायगा।[१] कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि, आधुनिक समाज में मनुष्य उपभोग में सहयोग की अपेक्षा उत्पत्ति में सहयाग के लिये अधिक ठीक हैं। उत्पत्ति के क्षेत्र में सहयोग का परिणाम बहुत ही आश्चर्यजनक हुआ है। पर उपभोग के क्षेत्र में यद्यपि सहयोग से किफायत अवश्य होगी, तथापि इसकी परीक्षाएँ अभी तक सफल नहीं हुई हैं। हमारी चित्रशालाएँ, पार्क, मज़दूरों के क्लब आदि बातें इस बात को अवश्य ही सूचित करती हैं कि सहयोग के साथ किये गये उपभोग के महत्व को मनुष्य उत्तरोत्तर अधिक समझते जा रहे हैं परन्तु यह बात सत्य है कि वे सुख जो बहुसंख्यक जनता द्वारा चुने जाते हैं, बहुधा सुख नहीं माने जाते। प्रत्येक परिवार एक अलग मकान और एक अलग रसोई घर रखना आवश्यक समझता है। इसका परिणाम बरबादी और तकलीफ़ तो होता है, परन्तु आजकल परिवार इस बरबादी और तकलीफ़ को उस बाहुल्य से अच्छा समझते हैं जो केवल संगठन और सहयोग से ही प्राप्त हो सकता है। यह सत्य

---

[१] अर्थशास्त्र में उत्पत्ति का अर्थ है उपयोगिता उत्पन्न करना, अर्थात् किसी वस्तु को उपयोगी या अधिक उपयोगी बनाना।

है कि वह भूमि जिस पर मकान बनाये जाते है शीघ्र ही राष्ट्र की सम्पति हो सकती है; परन्तु मनुष्य अपने बर्तन तथा कुर्सियाँ, किताबें तथा तसवीरें अपने अधिकार में रखने तथा अपने उत्पन्न किये हुए अर्घ के एक उचित भाग को अपनी इच्छानुसार खर्च करने का अधिकार चाहेंगे।[10] इस प्रकार भूमि का तथा उत्पत्ति, वितरण, विनिमय और उपभोग की उन समस्त वस्तुओं का, जहाँ कि राष्ट्र व्यक्ति से श्रेष्ठतर है, राष्ट्रीकरण होगा। शेष वस्तुओं में व्यक्तिगत सम्पत्ति का सिद्धांत लागू होगा।

समाजवाद में व्यवसाय और प्रेरणा के ऊपर श्रीमती एनीबेसेंट ने फेबियन दृष्टि-कोण से प्रकाश डाला है :[11] समाजवाद के अंदर कार्य करने के लिये क्या प्रेरणायें हैं, इस बात का वर्णन तो उन्होंने बहुत ही सुरुचिपूर्ण ढंग से किया है। पहले क्षुधा से पीड़ित होने का डर मनुष्यों को श्रम करने के लिये प्रेरित करता रहेगा। आलसी और परिश्रम से दूर भागने वाले व्यक्ति को उतना ही कठिन दंड दिया जाया करेगा जितना कि आजकल दिया जाता है। पहले तो उसे चेतावनी दी जायगी; पर यदि फिर भी वह नहीं मानेगा तो उसे पदच्युत कर दिया जायगा। लेकिन इसके अतिरिक्त दूसरी प्रेरणा सामाजिक निन्दा की होगी। आलसी को समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जायगा। इसलिये बर्ख्वास्त करने की नौबत आने के पहले ही आलसी व्यक्ति के साथी उसका जीवन मुश्किल बना देंगे। फिर दैनिक रोटी का निश्चय हो जाने पर आर्थिक लाभ का जुल्म नष्ट कर दिया जायगा, और जीवन व्यतीत करने की सुगमताएँ प्राप्त हो जायँगी। तब वे समस्त प्रेरणाएँ सामने आ जायँगी जो अब तक जटिल मानवीय व्यवस्थाओं में काम कर रही हैं, और जो भौतिक जीवन के आधार का

---

[10] Graham Wallace, in *Fabian Essays*, pp. 121-2

[11] देखिये *Fabian Essays.*

निश्चय हो जाने पर अपने उचित महत्व को प्राप्त कर लेंगी। उन्नति करने की इच्छा, सृजनात्मक कार्य का आनंद, सामाजिक स्वीकरण को प्राप्त करने की उत्सुकता, उदारता की दैविक भावना आदि पूर्णरूप से जाग्रत हो उठेंगी और श्रम के लिये एक तीव्र प्रेरणा प्रदान करेंगी।'[१४]

समाजवाद चित्र के चित्रण से अधिक महत्वशाली बात फेबियंस की रीतियां (tactics) हैं। फेबियंस, जैसा पहले कहा जा चुका है, पूँजीवाद के समाजवाद के परिवर्तन को एक स्वाभाविक क्रिया समझते हैं। इस परिवर्तन में शांतिमय आर्थिक और राजनीतिक कार्यों से काम लिया जाना चाहिये, ऐसा उनका मत है वे मुख्यत मध्य-वर्ग में समाजवाद का प्रचार करके उनकी सहायता से लोकमत पर अधिकार करके राज्य-यंत्र को अपने अधिकार में कर लेना चाहते हैं। बियर ने प्रारम्भिक मार्क्सवाद और प्रारम्भिक फेबियनिज़्म की रीतियों का निम्नलिखित रोचक वर्णन दिया है (जो आजकल पूर्णतया लागू नहीं होता) :—

'सन् १८६५ और १८८५ ई० में इङ्गलैंड में एक परिवर्तन हो गया। मज़दूरों के उत्कर्ष को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता था। विधान और मज़दूरी के ठेकों पर उनका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। उन्हें वोट देने का अधिकार मिल गया था और मज़दूर-सभा क़ानूनी संस्था करार दी गई थी। ब्रिटिश विधान एक प्रजातंत्र के रूप में परिणत हो गया। एक लोकतंत्रवादी राष्ट्र जो सामाजिक सुधार के कर्तव्य को लेने को तैयार था, एक मज़दूरवर्ग जिसके पास आर्थिक और और शक्ति था, एक जाति जिसमें सामाजिक उन्नति बढ़ रही थी, क्रांति और वर्ग-युद्ध के दृष्टि-कोण से नहीं समझी जा सकती। मौलिक समाजवादी विचारों के लिये एक नवीन आधार और वर्तमान अवस्थाओं के अनुकूल तरीक़ों की आवश्यकता थी।

[१४] Anie Besant. *Fabian Essays*, pp. 152-3

"यदि हम ठीक रीति से देखें तो लोकतंत्र के पूर्व के समाजवादी चार्टिस्ट[१३] या मार्क्सवादी, केवल क्रांति का ही विचार कर सकते थे, क्योंकि समाजवाद के पुनः संगठन के लिये उन्हे पहले पुराने राष्ट्रीय ढाँचे को तोड़ना आवश्यक था। एक लोकतंत्रवादी समाज में और एक राष्ट्र में जो कानून का पालन करना अपना कर्तव्य समझता है, एक नयी राजनीतिक मशीन स्थापित करने के लिये किसी क्रांति की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि इसका स्वयं अस्तित्व था; इसे केवल प्रयोग करने की आवश्यकता थी। इसलिये वास्तविक प्रश्न यह था कि क्रमागत सामाजिक सुधार प्राप्त करने के लिये राज-यंत्र का किस प्रकार उपयोग करना चाहिये।

"काल्पनिक समाजवादी[१४] एक संगठित कॉमनवैल्थ (Commonwealth) बनाने के लिये राष्ट्र के बाहर गये और उन्होंने कलम तथा पेंसिल से इसकी सामान्य रूपरेखा को विस्तृत रूप में चित्रित किया। मार्क्सवादियों ने भावी राष्ट्र के लिये समस्त चित्रों तथा प्रश्नों को घृणा की दृष्टि से देखा, परन्तु मज़दूर-वर्ग को वर्तमान प्रणाली के विरुद्ध युद्ध करने के लिये प्रोत्साहित किया। उन्होंने मज़दूरों को राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने तथा पूँजीवादी प्रणाली के विनाश के लिये राष्ट्र पर अधिकार प्राप्त करने के लिये उत्साह दिलाया क्योंकि पूँजीवादी प्रणाली समाजवाद के पथ में बाधा थी। यह समाजवादियों का प्रधान उद्देश्य था। वैब, फेबियंस के प्रतिनिधि के रूप में, समाज की ख़ास-ख़ास बुराइयों का पता लगाते हैं; समाजवाद के सामान्य सिद्धांतों के अनुसार उनमें से प्रत्येक के लिये

---

[१३] चार्टिज़्म (Chartism) मज़दूर और किसानों का एक विद्रोह जो इङ्गलैंड में हुआ।

[१४] यहाँ पर 'काल्पनिक समाजवादी', 'Owenites' का स्थानापन्न कर दिया गया है।

एक औषध निश्चित करते हैं; और जाति को इस बात का विश्वास दिलाने का प्रयत्न करते हैं कि ये औषधियाँ व्यवहारिक रूप से सफल हो सकती हैं और विधान के लिये उपयुक्त हैं। इसलिये समाजवादियों का लक्ष्य आर्थिक और सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में एक खास खोज के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना, अपने को विधान तथा शासन के यंत्रों से भली-भाँति परिचित कराना, और अपने ज्ञान तथा अनुभव का समस्त राजनीतिक विषयों में प्रयोग करना है।

"समाजवादियों को सामाजिक क्रांति की प्रतीक्षा करने का कोई कारण नहीं था। जिस क्षण से राज-यंत्र तक सामाजिक सुधार के विचारों की पहुंच हो गई और पूँजीपतियों ने संगठित सौदे और राष्ट्रीय व मज़दूर सभा के हस्तक्षेप को स्वीकार कर लिया, उसी क्षण से समाजवाद को व्यवहारिक रूप दे दिया जायगा।

"काल्पनिक समाजवाद की कुंजी मानवीय चरित्र-निर्माण से सम्बद्ध परिस्थितियों का सिद्धान्त है। वह दर्शन जिसने मार्क्स को पूँजीवादी समाज के विश्लेषण और समाजवाद के लिये मज़दूर-वर्ग को प्रोत्साहित करने में सहायता दी, उस श्रमी सिद्धान्त से बना है जिसमें वर्ग-युद्ध संचालक शक्ति है। वैब का समाजवाद किराये (लगान) के सिद्धान्त के प्रसार और जाति की सामाजिक आत्मा की उन्नति पर आधारित है।[१५]

---

[१५] देखिए M. Beer, *History of British Socialism*. Vol. 11. pp. 179—81.

अध्याय २४

सिन्डीकैलिज़्म

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में राज-यंत्र से और उन सब राजनीतिक सिद्धांतों से जो राज-यंत्र को किसी भी प्रकार के समाज में सर्वोच्च अधिकार देना अनिवार्य समझते थे, असंतोष फैलने लगा। इससे भिन्न ऐसे सिद्धांत उदय हुए जो राज-यंत्र को उपभोक्ताओं का ऐसा संघ मानते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सम्मिलित है, अथवा उसको सरकार का एक ऐसा यंत्र मानते हैं जिसमें आवश्यकतानुसार उस समय परिवर्तन किये जा सकते हैं जब कि सामान्य संकल्प (Will) का ध्यान नहीं रक्खा जाता या अनेक संकल्प अनेक प्रकार की प्रतिनिधि-सभाओं की स्थापना चाहते हैं। महायुद्ध के समय के राज-यंत्र के अधिकार ने राज-यंत्र के प्रति असंतोष और बढ़ा दिया। फलतः समाजवाद में दो नवीन सम्प्रदाय उदार समाजवाद के विरुद्ध उठ खड़े हुये। इनके नाम हैं सिन्डीकैलिज़्म और गिल्ड समाजवाद। ये सम्प्रदाय राज-यंत्र के उतने ही विरुद्ध हैं जितने कि राष्ट्रीय समाजवादी उसके पक्ष में हैं। इस अध्याय में हम सिन्डीकैलिज़्म का अध्ययन करेंगे।

मैकडानल्ड के शब्दों में, सिन्डीकैलिज़्म मज़दूर-सभाओं का आंदोलन है जिसका उद्देश्य नवीन सामाजिक प्रणाली को वर्तमान पूँजीवाद का स्थानापन्न बनाना है, जिसमें मज़दूर सभाएँ देश के कुल उद्योग-धंधों का अधिकार स्थापित करेंगी और उनका प्रबंध

---

[1] Syndicalism.

करेंगी, उपभोग को नियमित करेंगी और सामान्य सामाजिक हित की बातों को क्रियात्मक रूप देंगी। सिन्डीकैलिस्ट श्रेणी-युद्ध में विश्वास करते हैं और उसी की सहायता से अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करना चाहते हैं। सिन्डीकैलिज़्म का ख़ास ज़ोर व्यापार तथा औद्योगिक संगठन के आंदोलन को नवीन औद्योगिक ढाँचे का आधार मानने पर है। यह उत्पादक को उपभोक्ता के बजाय उद्योग-धंधों का अधिकार मानता है, और समाज के रूप परिवर्तन के लिये हड़ताल तथा अन्य सीधे (direct) उपायों का समर्थन करता है। दूसरी ओर यह राज-यंत्र को नष्ट करना आवश्यक समझता है और इस बात का समर्थन करता है कि वैधानिक कार्यों द्वारा मज़दूर-वर्ग का कल्याण नहीं हो सकता।

इस मत की जन्म-भूमि फ्रांस है, जैसे की राष्ट्रीय समाजवाद (फेबियनिज़्म) की जन्म-भूमि इंगलैंड है। फ्रांस में मज़दूर-सभा को 'सिंडीकैट' (Syndicat) कहते हैं। फ्रांस में सिंडीकैटों की दशा प्रारम्भ में बहुत गिरी हुई थी। सन् १८६४ ई० तक वे ग़ैरक़ानूनी संस्थाएँ रहीं, और सन् १८८४ ई० तक वे पूर्णतया क़ानूनी नहीं हुईं। सन् १८८४ ई० के बाद सरकार और म्युनिसिपैलिटियों ने धन इत्यादि देकर यह प्रयत्न किया कि ये सिंडीकैटें साधारण क्लब की भाँति आमोद-प्रमोद का साधन हो जायँ; बस और कुछ भी नहीं। परन्तु इस काम में उन्हें असफलता मिली और उन पर मार्क्सवादियों, अराजकतावादियों और क्रांतिकारियों का प्रभाव तथा अधिकार बढ़ता ही गया। राष्ट्र के अस्तित्व के ऊपर सिंडीकैलिस्टों में ख़ूब संघर्ष हुआ, परन्तु अंत में अराजकतावादियों की जीत हुई। सन् १८६५ ई० में सी० जी० टी० (C. G. T. = Confederation Generale du Travail) को स्थापित किया गया जिसका उद्देश्य यह था कि राजनीतिक कार्यों के स्थान पर सीधे उपाय काम में लाये जायँ, और सार्वजनिक हड़तालें करके राज-यंत्र का विनाश करके,

एक ऐसी सामाजिक क्रांति की जाय जिसको प्राप्त करने में राष्ट्रीय समाजवाद स्पष्ट रूप से असमर्थ था। उदार समाजवादियों तथा अराजकतावादी सिंडीकैलिस्टों के सात वर्ष के संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि सन् १९०२ ई० में सिंडीकैलिस्ट पूर्णतया विजयी हुये। म्युनिसपैलिटियों ने आर्थिक सहायता बन्द कर दी, और सी० जी० टी० को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये केवल अपने सदस्यों से प्राप्त किये हुये धन की सहायता से काम करना पड़ा।

क्रांतिकारी मार्क्सवाद की भाँति सिंडीकैलिज़्म का मूल सिद्धांत श्रेणी-युद्ध है। पूँजीपतियों और मज़दूरों का संघर्ष पश्चाताप का विषय नहीं, बरन् एक सृजनात्मक शक्ति है जो मज़दूरों को अत्याचार और विपत्ति से छुड़ायगी। श्रेणी-युद्ध ही मज़दूरों को शोषण करने की लड़ाई में एक सूत्र में बाँधे हुये है, उनको अपनी शक्ति में विश्वास दिलाता है, उनकी मानसिक तथा नैतिक प्रकृति की उन्नति करता है और उनकी इच्छा के अनुसार समाजिक संगठन की रचना के लिये सामग्री एकत्र करता है।

इस मत के अनुसार के समाज संगटन की इकाई सिंडीकैट या मज़दूर सभा होगी। सिंडीकैलिस्टों का पहला काम मज़दूरों में वर्ग चेतना पैदा करना है, और उन्हें श्रेणी के हित तथा आदर्शों का ज्ञान कराना है। इस कार्य को पूरा करने के लिये मज़दूरों का मज़दूर-सभाओं के आधार पर संगठित करना आवश्यकीय है। सिंडीकैट उसी व्यवसाय या उसी प्रकार के व्यवसायों के मज़दूरों की एक सभा है जो समाज हित के सूत्र में बँधी रहती है। इसी में उसकी शक्ति है। समस्त मानवीय समूहों में यह अत्यंत तात्विक तथा दीर्घकालीन है क्योंकि समाज में मनुष्य अन्य समस्त वस्तुओं की अपेक्षा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का विशेष रूप से ध्यान रखते हैं।

राजनीतिक दल व अन्य इसी प्रकार के संगठन कमज़ोर और अक्षण्य होते हैं क्योंकि उनका निर्माण विभिन्न मतवालों के सहयोग से

होता है और उनको बाँधने वाला सूत्र आकस्मिक होता है। राजनीतिक संस्थाएँ विभिन्न प्रकार के स्वार्थ वाले मनुष्यों के सहयोग से बनती हैं। केवल वास्तविक तथा तात्विक हित वाले समूहों में, जैसे कि सिंडीकैलिस्टों में, समान अवस्था के मनुष्य पाये जाते हैं जिनके जीवन में समान उद्देश्य होते हैं।[2] मज़दूरों की राजनीतिक रायें विभिन्न होती हैं, परन्तु उनके आर्थिक हित समान होते हैं। इसलिये औद्योगिक क्षेत्र में वे संगठित रहते हैं परंतु राजनीतिक क्षेत्र में वे ऐसा नहीं करते। वे साथ-साथ हड़ताल कर देंगे, परंतु साथ-साथ एक मत (Vote) नहीं देंगे। किसी भी क्षेत्र में राजनीतिक पार्टी केवल एक मामूली क्रांतिकारी हथियार है। यह कभी-कभी एकत्र होती है और सार्वजनिक संकल्प को व्यक्त नहीं कर सकती।[3]

इन सिंडीकेटों के द्वारा मज़दूर पूँजीपतियों के विरुद्ध सीधा संघर्ष करेंगे। सिंडीकैलिस्टों का पक्का विश्वास है कि केवल सीधे उपाय द्वारा ही मज़दूरों को उनकी स्थिति का ज्ञान कराया जा सकता है और उन्हें अंतिम श्रेणी-युद्ध के लिये तैयार किया जा सकता है। ये लोग राजनीतिक वैधानिक तरीक़ों में विश्वास नहीं करते। फ्रांस में बहुधा यह हुआ है कि जब कभी मज़दूरों ने अपने नेताओं को पार्लियामेंट में भेजा है, तभी वे अपने गरम विचार भूल गये हैं और थोड़े ही दिनों में उन्होंने वैधानिक रीति से उन्नति करने की मध्य-वर्गीय नीति को अख्तियार कर लिया है। इसलिये फ्रांस के मज़दूरों का राजनीतिक साधनों पर से विश्वास उठ गया है और वे कहते हैं कि 'सीधा उपाय' ही उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल बना सकता है। 'सीधा उपाय' वह उपाय है जिसे मज़दूर लोग स्वयं ही, बिना किन्हीं मध्यस्थों की सहायता के, काम में लाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि यह हिंसक

---

[2] देखिये Dr. Levine, *Syndicalism in France*, p. 124-5.

[3] Joad, *Modern Philosophy*, p. 69.

हो, पर यह हिंसक हो सकता है। यह उनकी जाग्रति तथा संकल्प का बोधक है। यह उनके लक्ष्यों की पूर्ति के लिये डाले गये दबाव का ज्ञान कराता है।

सीधे उपाय के चार मुख्य रूप हैं: हड़ताल, बहिष्कार, लेबिल (Label) और माल-हानि (Sabotage)। इनमें हड़ताल सब से प्रमुख है, क्योंकि यह नौकर और स्वामियों के हित-विरोध को विद्युत् की भाँति चमका देती है। इसके अतिरिक्त यह दोनों के मनमुटाव तथा अंतर को और भी बढ़ा देती है—यह एक ओर पूँजीपतियों को संगठित करती है और दूसरी ओर मज़दूरों को। यह क्रांति का बहुमूल्य साधन है।[४] सिंडीकैलिज़्म समझौते के पूर्णतया विरुद्ध हैं। मज़दूरों को शीघ्रतापूर्वक शक्तिशाली उपाय द्वारा पूँजीपतियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। हड़ताल में मज़दूरों की रोटी या नौकरी की समस्या अवश्य कठिन हो जाती है, परंतु इसके लिये सिंडीकैलिस्ट कहते हैं कि यदि एक व्यवसाय में हड़ताल हो तो अन्य व्यवसायों की सभायें हड़ताल वालों की सहायता करें। इससे वर्गीय मज़बूती बढ़ती है।

दूसरी ओर, लेबिल (Label) श्रमी की उपभोग-शक्ति को दिखाने में सहायता देता है। बहिष्कार करने में मज़दूर लोग उपभोक्ता तथा उत्पादक, दोनों रूपों में अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं।

सिंडीकैलिस्ट माल-हानि (Sabotage) पर बहुत ज़ोर देते हैं। उत्पत्ति की नियमित क्रियाओं में सब प्रकार से बाधायें डालना जिससे कि पूँजीपति को हानि तथा भय हो, माल-हानि (Sabotage) कहलाता है।[५] चीज़ों को ठीक स्थान पर न ले जाकर और कहीं ले

---

[४] Levine, *Syndicalism in France*, p. 126-27.

[५] इसे अँग्रेज़ी में Sabotage कहते। स्काटलैंड में इसे Ca'canny (अर्थात् अनुपयुक्त वेतन के लिये वास्तविक कार्य) और फ्रांस में a mauvaise paye mauvaise travail (अर्थात् ख़राब वेतन के लिये ख़राब काम) कहते हैं।

जाना, मशीन में जान-बूझकर ख़राबी पैदा कर देना, या ख़राबी होने का बहाना करना, मशीन चलते समय काम न करना आदि इसके उदाहरण हैं।

प्रत्येक सफल हड़ताल, प्रत्येक बहिष्कार, और मज़दूरों के संकल्प और शक्ति को प्रकट करने वाला प्रत्येक कार्य वर्तमान प्रणाली पर आघात करता है। मज़दूरी की प्रत्येक अवसर पर वृद्धि, तथा काम के घंटों में घटती, श्रम करने की दशाओं में प्रत्येक उन्नति एक महत्वपूर्ण अवस्था है जो मज़दूरों को निश्चयात्मक युद्ध अर्थात् आम हड़ताल की ओर अग्रसर करती है जो कल्याण का अंतिम साधन होगी।

आम हड़ताल का विचार बहुत कुछ फ्रांसीसी समाजवादी लेखक ब्लांकी (Blanqui) के विचारों की देन है। आम हड़ताल का अर्थ यह नहीं है कि सबके सब मज़दूर हड़ताल कर दें। इसका आशय केवल यह है कि आधार-उद्योगों (Key industries) के काफ़ी मज़दूर हड़ताल कर दें जिससे कि पूँजीवाद की जड़ हिल जाय। यह हड़ताल आम हड़ताल को आसान बना देगी। जैसे ही पर्याप्त शक्ति के मज़दूरों की लघु संख्या वर्ग-चेतना प्राप्त करके आवश्यक युद्ध-भावना की चरम सीमा तक पहुंच जायगी, वैसे ही एक आम हड़ताल कर दी जायगी और उत्पत्ति के औज़ार छीन लिये जायँगे। यही पूँजीवाद का अंत होगा।

आम हड़ताल में बहुसंख्यक मज़दूरों के लिये हड़ताल करना आवश्यक नहीं। शायद यह बहुसंख्या की राय के विरुद्ध ही करनी पड़े। पर सिंडीकैलिज़्म के अनुसार इसमें कोई हानि नहीं। ये लोग बहु-संख्या सम्बन्धी रूढ़िगत सिद्धांत को केवल मध्य-वर्गीय अन्ध-विश्वास कहते हैं। उनका तो विश्वास है कि परिवर्तन की अवस्था में किसी भी अवसर पर, एक लघुसंख्या के लिये यह आवश्यक होगा कि वे शक्ति की बागडोर अपने हाथ में ले लें और अन्य मज़दूरों को उनके कल्याण का पथ-प्रदर्शन करें।

इस बात में ये लोग मार्क्स से भिन्न हैं। मार्क्स ने कहा था कि समाज के विकास में वह समय आयगा जब मज़दूर स्वयं विद्रोह करेंगे और उत्पत्ति के साधनों पर अपना अधिकार कर लेंगे। सिंडीकैलिस्ट कहते हैं कि मार्क्स की यह धारणा आवश्यकता से अधिक सुखवादी थी। पूँजीपति हज़ारों तरीक़ों से मज़दूरों से समझौता करके उनका वेतन बढ़ाकर, लालच देकर और धर्म के ठेकेदारों द्वारा उन्हें शान्ति और संतोष का पाठ पढ़ाकर वर्ग-भेद को विस्मृत करा देने की चेष्टा करेंगे, यहाँ तक कि मज़दूरों में क्रांति का जोश ठंडा पड़ जायगा। इसलिये मज़दूरों को चाहिये कि वे निरंतर विरोध की नीति को अख़्तियार करें।

परंतु सिंडीकैलिस्ट क्रांति के पश्चात् क्या होगा? सी० जी० टी० के १६०१ ई० के अधिवेशन के पश्चात् फ्रांस भर की सिंडीकैटों से यह प्रश्न पूछा गया कि वे किस प्रकार की सामाजिक प्रणाली स्थापित करना चाहती हैं। विवरण में उनके उत्तर भिन्न थे पर असली बातों में वे सहमत थीं। उन सब की राय थी कि सिंडीकैट (मज़दूर-सभा) नवीन सामाजिक प्रणाली की इकाई होगी। एक सिंडीकैट एक स्थान के, एक व्यापार या व्यवसाय के मज़दूरों का समूह होगा जो उनके काम में लाये जाने वाले उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार करेगा। राष्ट्रीय सम्पत्ति का कोई भाग किसी सिंडीकैट की एकान्तिक सम्पत्ति नहीं होगा। वह राष्ट्र की आज्ञा से केवल उसका प्रयोग करेगी।

एक स्थान पर जितने व्यवसाय होंगे, उतनी ही सिंडीकेटें होंगी। इन सब सिंडीकेटों का एक संयुक्त रूप होगा जिसे श्रम-संघ या बोर्स (Bourse du Travail) कहा जायगा।[६] श्रम संघ साधारण

[६] Bourse du Travail फ्रांसीसी भाषा का शब्द है। यह आवश्यक नहीं कि सब देशों में यही नाम रक्खा जाय। अपने देश के लिये हम इसे 'श्रमसंघ' कह कर पुकार सकते हैं।

आर्थिक जीवन के आवश्यकीय आँकड़े एकत्र करेगा। वह स्थानीय आवश्यकताओं और साधनों का पूरा विवरण रक्खेगा; स्थान-स्थान की वस्तुओं के विनिमय की देखभाल करेगा और बाहर से नये माल को मँगावेगा। यह वर्तमान राष्ट्र की केन्द्रित राजनीतिक प्रणाली का विनाश कर देगा और उद्योग-धंधों के केन्द्रीय रुझानों को रोक देगा।[9]

बोर्सेज़ एक राष्ट्रीय-श्रम-संघ (General Confederation of Labour) के सदस्य होंगे। सिंडीकेट या मज़दूर सभा का राष्ट्रीय श्रम-संघ से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होगा। यह सम्बन्ध श्रम-संघों के द्वारा होगा। राष्ट्रीय-श्रम-संघ राष्ट्रीय उपादानों जैसे रेल आदि को अपने अधिकार में रक्खेंगे। इनका स्थानीय आधार पर संचालन नहीं हो सकता। इसका कार्य केवल सामान्य सूचना प्रदान करना और नियंत्रण-शक्ति का प्रयोग करना होगा।

इस प्रकार सिंडीकैलिस्ट राष्ट्र में राज यंत्र की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सिंडीकैलिस्ट कहते हैं कि उनके द्वारा स्थापित किये गये भावी समाज में स्थानीय और केन्द्रीय शासन-संगठन तो अवश्य होगा, पर वह राज-यंत्र के रूप में नहीं होगा। राज-यंत्र की प्रधान विशेषता है बाहर से शासन करना। वर्तमान राष्ट्र की वैधानिक समितियाँ ऐसे प्रश्नों का निश्चय करती हैं जो उनके लिये पूर्णतः विदेशी हैं, जिनके साथ वे जीवन में कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं रखतीं और जिनको ये नहीं समझतीं। इसलिये राज-यंत्र अपनी प्रकृति से ही स्वेच्छाचारी और कष्ट-प्रद है। सिंडीकैलिस्टों के सामाजिक संगठन में आंतरिक शासन होगा। वे कहते हैं कि केवल सिंडीकेट के प्रतिनिधि ही, जो राष्ट्रीय श्रम-संघ में भेजे जायँगे, उनके विभिन्न प्रश्नों को भली भाँति हल कर सकते हैं। उनके बनाये हुये नियम उनके सामाजिक-कार्यों

[9]**Lavine,** ***Syndicalism in France,*** **p. 135.**

की अवस्था के ज्ञान के फलस्वरूप होंगे, और इस प्रकार से अवस्थाओं द्वारा निश्चित किये गये नियमों के समान होंगे।

सिंडीकैलिज़्म और उदार समाजवाद में स्पष्टरूप से विभिन्नता है। उदार समाजवाद समाज को उपभोक्ताओं का संगठन समझता है। पर सिंडीकैलिज़्म केवल मज़दूरों के (उत्पादकों के) अधिकारों पर ज़ोर देता है। मज़दूर लोग चोजें पैदा करते हैं, इसलिये, सिंडीकैलिज़्म के अनुसार, समाज पर उनका ही अधिकार होना चाहिये। गिल्ड समाजवाद, जिसका आगे चलकर वर्णन किया जायगा, इन दोनों सम्प्रदायों के मध्य में आता है क्योंकि यह उत्पादकों के कार्यों पर तो ज़ोर देता ही है, पर साथ ही साथ उपभोक्ताओं की भी उपेक्षा नहीं करता।

वास्तव में सिंडीकैलिज़्म अराजकतावाद, समाजवाद और मज़दूर-सभावाद का सम्मिश्रण है। राष्ट्र से घृणा करने में, उसकी सर्वोच्चता को अस्वीकार करने में, लोकतंत्रवाद को अस्वीकार करने में यह अराजकतावाद की भाँति है। एक सर्वहारवर्गीय आंदोलन के रूप में मज़दूरों की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के, श्रेणी-युद्ध के और सामाजिक क्रांति की अनिवार्यता के विश्वास में यह समाजवादी रूप-रंग का है। मज़दूर-सभा को राष्ट्र की इकाई बनाने में और उन्हें व्यवसायों का अधिकार और प्रबन्ध देने में यह मज़दूर-सभावाद से समानता रखता है। इसका आम हड़ताल का हथियार भी उदार समाजवाद की पार्लियामेंट द्वारा धीमे और मंदे विकास और समष्टिवाद तथा अराजकतावाद के हिंसात्मक उत्थान का मध्यवर्ती मार्ग है।

सिंडीकैलिज़्म भविष्य के समाज का पूरा चित्र देना, न तो सम्भव समझता है- और न आवश्यक ही। आवश्यकता के समय मज़दूर स्वयं ही सामाजिक प्रणाली का विवरणात्मक निर्णय कर लेंगे। इस अस्पष्टता का कारण फ्रेंच दार्शनिक सोरेल (Sorel) का प्रभाव है। सोरेल का ग्रन्थ राजनीति और दर्शन का एक अजीव सम्मिश्रण

है, और एक साधारण परतत्ववादी सिद्धांत या सामाजिक समस्याओं में विचित्र प्रयोग है। वस्तुतः सोरेल ने जो कुछ किया है वह वर्गसों (Bergson)[८] के अंतप्रेरणा के सिद्धान्त का आह्वान करना है, एक ऐसे कार्य-पथ का समर्थन करना है जिसको वर्गसों सबसे पहले अनुपयुक्त ठहरायेंगे।

वर्गसों का कथन था कि हमारे कार्य के उद्देश्य हमारी बुद्धि निर्धारित नहीं करती, यह अंतर्प्रेरणा से होता है। हमारी बुद्धि केवल इतना कहती है कि हम जो करना चाहते हैं वह कैसे करें, परन्तु जो हम करना चाहते हैं उसके निर्णय करने में बुद्धि का कोई हाथ नहीं। यह अंतप्रेरणा का निर्धारण है। पर अंतप्रेणा जो दृश्य (Vision) देती है उसकी मूर्त रूप में व्याख्या नहीं की जा सकती। यह व्यक्ति-गत बात है जो एक विश्वास के कार्य की भाँति तर्क पर आधारित नहीं है, परन्तु उन लोगों को जो इसको धार्मिक विश्वास की भाँति मानते हैं कार्य करने को बाध्य करती है।[९]

सोरेल इसी अंतप्रेणा के सिद्धांत से आम हड़ताल का, जो अपना उद्देश्य नहीं बना सकती, समर्थन करते हैं। उनके विचार से मज़दूरों को विवरण के साथ आम हड़तालों का उद्देश्य बनाने की आवश्यकता नहीं, और न यह ही बताना आवश्यक है कि किस प्रकार का समाज बनाया जायगा। उनके आदर्श समाज का चित्र, जो उनके समस्त कार्यों का उद्देश्य है, वस्तुतः अंतर्प्रेरणा द्वारा होना चाहिये; अर्थात् यह न तो तार्किक शिक्षा द्वारा सिखाया जा सकता है और न तर्कपूर्ण विश्वास का रूप ही धारण कर सकता है। सोरेल की भाषा में आम हड़ताल मज़दूरों के लिये केवल एक दंतकथा के समान है।

---

[८] वर्गसों एक दार्शनिक थे जिनके दर्शन का उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम और बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में काफ़ी प्रचार था।

[९] Joad. *Introduction to Modern Philosophy.*

परन्तु उस दंतकथा को तर्क द्वारा ठहराने का प्रयास अवश्य ही ग़लत रास्ते पर ले जायगा। आम हड़ताल के उद्देश्य तथा उसके मूल्य का अनुमान लगाने के लिये, वाद-विवाद के वे समस्त ढंग जो राजनीतिज्ञों और समाजवादियों में प्रचलित हैं, अवश्य ही छोड़ देने चाहिये। इस प्रकार सोरेल ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि विनाश की नीति आवश्यक रूप से निराशा की नीति नहीं है। सिंडीकैलिज़्म इस आसान सिद्धान्त को ग्रहण करने में असफल नहीं हुआ है।[१०]

उदार समाजवादियों ने सिंडीकैलिज़्म के उपाय और आदर्श दोनों से असम्मति प्रकट की है। वे कहते हैं कि मज़दूरों के वैधानिक आंदोलन में ख़तरे हो सकते हैं, पर उनका आर्थिक आंदोलन भी ख़तरे से खाली नहीं। मज़दूर पार्टी के नेता समझौता करने वाले अवश्य हो गये हैं, पर मज़दूर-सभा के नेताओं को भी यदि वे अपना नेतृत्व रखना चाहते हैं, ऐसा ही करना पड़ता है। बल्कि हड़ताल के समय, भूखों मरते हुये मज़दूरों की हीनता देख, मज़दूर-सभा के नेताओं के लिये समझौता कर लेने के अधिक अवसर हैं। मज़दूर-पार्टी के पार्लियामेंट के सदस्य कम से कम मज़दूरों के हित के क़ानून पास करा सकते हैं और मज़दूर और पूँजीपतियों के झगड़े के समय मज़दूरों का पक्ष ले सकते हैं। उनका यह कथन है कि राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही कार्य मज़दूरों द्वारा अत्यंत शक्तिशाली प्रभाव के साथ प्रयोग में लाये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त सिंडीकैलिस्ट आंदोलन से मनीषियों का बहिष्कार कर दिया गया है। पर वे मज़दूरों के त्राण के आंदोलन में बहुत कुछ सहायता कर सकते हैं। वे विद्रोह, मशीन के तोड़ने आदि के भी विरुद्ध हैं।[११]

---

[१०] Joad, *Modern Political Theory*, Chapter 4.

[११] देखिये MacDonald, *Syndicalism*, pp. 52-3.

सिंडीकैलिस्ट आदर्श की भी उदार समाजवादी आलोचना करते हैं। सिंडीकैलिस्ट उत्पादकों के हित का ध्यान रखते हैं, पर उपभोक्ताओं के हित का नहीं; स्थानीय श्रम-संघों (Beurses du Travail) को ज़्यादा महत्व देते हैं, राष्ट्रीय-श्रम-संघ (General Confederation of Labour) को कम। इसके अतिरिक्त वे समाजिक संगठन के आधार की इकाई बहुत छोटी लेते हैं। सिंडीकैलिज़्म के अंदर कारीगरी ही (कारखाना नहीं) अधिकृत सामाजिक इकाई मानी जाती है। परंतु आजकल कारखाना केवल एक ही कारीगरी के कार्यों का दृश्य नहीं हैं, वरन् बहुत सी कारीगरियों के कार्यों का दृश्य है। स्वायत्तशील कारीगरियाँ (crafts) तब तक नहीं चलाई जा सकतीं जब तक कि समय की छाया ही न लौट जाय और मध्य युग फिर से स्थापित न हो जाय।[१२]

सिंडीकैलिज़्म की उन्नति बहुत थोड़ी हुई है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् तो उसने कोई कथनीय उन्नति नहीं की। कुछ देशों में जैसे कि इंगलैंड में, उसने कभी भी जड़ ही नहीं पकड़ी। यह मत इतना सैद्धान्तिक तथा तर्कमूलक है कि यह जन साधारण को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। इसलिये एक नवीन सम्प्रदाय गिल्ड समाजवाद के नाम से, जो अपने विश्वासों के लिये उदार समाजवाद तथा सिंडीकैलिज़्म दोनों का ऋणी है, उदय हुआ है। इसने विशेष रूप से इंगलैंड में बहुत ख्याति प्राप्त की है।

---

[१२] MacDonald. *Sydicalism*, p. 59.

अध्याय २५

गिल्ड समाजवाद

लगभग तीस वर्ष इंगलैंड में कुछ ऐसे नवयुवक समाजवादी प्रकट हुये जिन्होंने सिंडीकैलिज़्म की चरमता को कम करना चाहा। उन्होंने उसको एक उचित दार्शनिक सिद्धांत के साथ ही साथ व्यावहारिक रूप देने के लिये किसी राजनीतिक संगठन से संयुक्त करने की इच्छा की। इस प्रकार गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism) का जन्म हुआ। यह समाजवाद इंगलैंड की देन है।

सन् १९०६ ई० में ए० जे० पेंटी ने एक पुस्तक[1] लिखी जिसमें उन्होंने मध्य-काल के व्यसायों में स्वायत्त-शासन की भाँति की एक प्रणाली के पुनः स्थापन करने की चर्चा की। मध्य-काल में कारीगर आत्म-शासित गिल्डों (Guilds) के सदस्य होते थे, उत्पत्ति के साधनों के स्वयं स्वामी होते थे और उत्पत्ति की प्रकृति और परिमाण निर्धारित करते थे। वे उस समय सुखी थे। वैसी ही प्रणाली यदि अब स्थापित हो जाय तो वर्तमान समस्या सुलझ सकती है। पर उस समय से संसार अब बहुत दूर आ गया है। उत्पत्ति से रूप और रीतियाँ बहुत बदल गई हैं। इसलिये इस अव्यावहारिक प्रणाली की ओर किसी का अधिक ध्यान नहीं गया। सन् १९०९-१२ के बीच में इगलैंड के मज़दूरों में बहुत बेचैनी फैली उस समय एस० जी० हॉब्सन तथा ए० बी० ओरेंज ने गिल्डवाद का बहुत प्रचार किया।

सन् १९१२ ई० में गिल्ड समाजवाद इंगलैंड के मज़दूर आंदोलन

---

[1] A. J. Penty, *The Restoration of the Guild System.*

की निश्चित शक्ति हो गई और तब से इसका प्रभाव सब समाजवादियों पर पड़ा है। सन् १९१५ ई० में जातीय गिल्ड लीग (National Guild League) क़ायम की गई। आजकल मज़दूर लोग तो स्वयं इस विचार से इतने प्रभावित नहीं हैं, पर मज़दूरों के नेता, मुख्यतः नवयुवक नेता, गिल्ड समाजवाद को अच्छी दृष्टि से देखते हैं।

गिल्ड समाजवाद के सिद्धांतों के विकास में चार विभूतियों ने बहुत सहायता की है। सर्व प्रथम तो ए० जे० पेंटी ही हैं जिनका ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं। उन्हें 'मौलिक गिल्डमैन' (Orignial Guildsman) कहा जाता है। उन्होंने जॉन रस्किन और विलियम मॉरिस के मार्ग का अवलम्बन करते हुये सुधार के कामों की ओर अपना ध्यान दिया और मध्य-काल के आदर्श के पुनः स्थापन के लिये प्रयत्न किया। दूसरे महापुरुष ए० आर० ऑरेंज हैं जिन्होंने 'न्यू एज' (New Age) अखबार का, जो शिक्षित क्रांतिकारी कार्य का केंद्र कहा जाता है, सम्पादन किया और गिल्ड समाजवाद का प्रचार किया। उन्होंने एस० जी० हॉब्सन के साथ बहुत से लेख लिखे, जो इस सम्प्रदाय की तीसरी विभूति हैं। एस० जी० हॉब्सन इस आंदोलन के प्रधान व्यक्ति हैं जिन्होंने गिल्ड समाजवाद के सिद्धांत को विशेष रूप से बनाया और उसको आर्थिक आधार प्रदान किया। इस आंदोलन की चौथी विभूति जी० डी० एच० कोल हैं जिन्होंने अपनी तीव्र मानसिक-शक्ति तथा गम्भीर विचार शैली के कारण इस विषय पर बहुत सोचा और लिखा है और इसके प्रचार में अद्वितीय कार्य किया है।[२]

अब हम गिल्ड समाजवाद के सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे। इंगलैंड की राष्ट्रीय गिल्ड्स लीग का यह उद्देश्य है कि उद्योग-धंधों में

---

[२] देखिये Niles Carpenter, *Guild Socialism*. pp. 81-20.

मज़दूरी प्रणाली बन्द कर दी जाय, और मज़दूरों के द्वारा स्वायत्त शासन स्थापित किया जाय। यह कार्य जातीय गिल्डों की लोकतंत्रवादी प्रणाली के द्वारा हो जो वर्ग के अन्य लोकतंत्रवादी क्रियात्मक संगठनों के साथ कार्य करती हो। इस कथन का आंतरिक तात्विक सिद्धान्त है प्रजनक लोकतंत्रवाद (Functional Democracy)। इस सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का पूर्ण प्रतिनिधि नहीं हो सकता, इस कारण सब प्रतिनिधि संस्थाएँ गलत रास्ते पर जाने वाली हैं। पर यद्यपि एक मनुष्य दूसरे मनुष्यों का पूर्णतः प्रतिनिधि नहीं हो सकता, तथापि वह उसके सामान्य उद्देश्यों के एक समूह को व्यक्त करने के लिये अवश्य प्रतिनिधित्व कर सकता है। इस प्रकार यदि 'अ', 'ब' और 'स' क्रिकेट के खिलाड़ी हैं, तो 'द' उनके क्रिकेट के खेल-सम्बन्धी हित के लिये प्रतिनिधि हो सकता है। यदि 'त', 'थ', 'द' गाने वाले हैं तो 'त्र' उनका गान-सम्बन्धी हित का प्रतिनिधित्व कर सकता है। पर 'द' और 'त्र' इनमें से किसी व्यक्ति के भी सब हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते; अर्थात् वे 'अ' 'ब' 'स' 'त' 'थ' 'द' में से किसी के भी पूर्ण स्थानापन्न नहीं हो सकते। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रजनक प्रतिनिधित्व ही सच्चा प्रतिनिधित्व है और वास्तविक लोकतंत्रवादी संस्थाएँ वे ही हैं जो व्यक्ति द्वारा किये गये विभिन्न कार्यों से सम्बद्ध हैं। इसलिये एक लोकतंत्रवादी समाज वही होगा जो ऐसी प्रजनक प्रतिनिधि सभाओं का संयुक्त गुम्फन हो, जो अपने सदस्यों के किन्हीं सामान्य संकल्पों तथा उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व करती हैं।[3]

इस प्रकार प्रजनक लोकतंत्रवाद के अंतर्गत बहुत सी प्रतिनिधि संस्थाएँ होगी :—

---

[3] C. E. M. Joad, *Modern Political Theory*, pp. 76-77

(१) पहले तो उन सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिये एक संस्था चाहिये जो एक देश के निवासी होने के कारण मनुष्यों में उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे शिक्षा, राष्ट्रीय संरक्षण, कर और क़ानून आदि। इन मामलों में देश भर के व्यक्तियों का हित है। इस कारण इनका प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था राष्ट्रीय होनी चाहिये, जैसे कि वर्तमान समय की पार्लियामेंट अथवा धारा-सभायें।

(२) कुछ सामान्य हित ऐसे हैं जो एक स्थान के निवासी होने के कारण उत्पन्न हो जाते हैं; जैसे बिजली, पानी, पार्क, पुलिस[४] आदि। इन मामलों का प्रतिनिधित्व करने के लिये एक स्थानीय प्रतिनिधि संस्था होनी चाहिये।

(३) इसके पश्चात् उत्पत्ति का प्रश्न आता है। उत्पत्ति के विषय की बहुत-सी समस्यायें होती हैं; जैसे मज़दूरी, काम करने की दशा और घंटे, और उत्पत्ति की मात्रा आदि बातों का निर्णय करना। इन सब बातों के लिये भी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता है। इन्हें कारख़ाने और फ़ैक्टरी की कमेटी कह सकते हैं।

(४) पर उत्पत्ति की प्रकृति और परिमाण, और वस्तुओं का मूल्य आदि उपभोक्ताओं के भी हित की बातें हैं। इसलिये उत्पादकों की कमेटी से सलाह लेने के लिये उपभोक्ताओं की कौंसिलों की भी आवश्यकता होगी। ये कारख़ाने और फ़ैक्टरी की कमेटियों के साथ उत्पादन-व्यय और मूल्य का निर्धारण करेंगी।

बहुत से गिल्डवादी इस सिद्धांत को केवल व्यवसायिक क्षेत्र में लागू करते हैं, राजनीतिक और शासन क्षेत्रों में नहीं। इसका अर्थ

[४] भारत में पुलिस प्रांतीय सरकार का विषय है। पर अन्य देशों में यह स्थानीय शासन का अंग है। कुछ काल पूर्व हमारे यहाँ भी यही रिवाज़ था। देखिये, Shirras, *The Science of Public Finance* और *Indian Taxation Enquiry Committee Report.*

यह नहीं है कि यह पिछले क्षेत्रों में लागू नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि पहले पहल यह व्यवसायों में लागू किया जायगा, बाद को राजनीतिक क्षेत्र में। वास्तव में गिल्डवादियों के अनुसार इन सभाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) व्यवसायिक और (२) नागरिक संस्थायें। कुछ गिल्डवादी इनमें वितरण-संबंधी संस्थाएँ और जोड़ देते हैं।

इस प्रतिनिधि संस्था को गिल्ड कहते हैं। गिल्ड परस्पर एक दूसरे पर अवलम्बित व्यक्तियों का स्वायत्त शासक संघ है जो समाज के एक विशेष कार्य के उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये संगठित किया गया हो।[५] गिल्ड की तीन विशेषताएँ होती हैं। पहली तो यह है कि यह एक व्यवसाय के समस्त कार्य-कर्ताओं को सम्मिलित करता है। इसमें मैनेजर और विशिष्ट पुरुष (Technical men) और शारीरिक परिश्रम करने वाले मज़दूर, सभी शामिल होते हैं। दूसरी, गिल्ड एक उत्तरदायी संस्था है जिसे इस शर्त पर कि यह अपना कार्य संतोषपूर्वक करेगी, स्वायत्त शासन दे दिया जाता है। अच्छे काम के लिये आवश्यक है कि काम करने वालों को उसका ज़िम्मेदार बना दिया जाय और उनके काम में अनावश्यक बाधा न डाली जाय। गिल्ड की तीसरी विशेषता एकाधिकार है, यद्यपि व्यवसाय का अकिंचन भाग गिल्ड के अधिकार के बाहर रहेगा।

गिल्डवादी उच्चवर्गीय केन्द्रित शासन (Bureaucracy) के दोषों पर बहुत ज़ोर देते हैं। वे गिल्ड को लोकतंत्रवाद के अधार पर संगठित करना चाहते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि उत्पत्ति के प्रत्येक काम पर सब मज़दूरों का मत लिया जायगा। यह कार्य-कुशलता के मार्ग में बाधक होगा। फिर यदि एक ऐसे विशिष्ट विषय पर मत लिये जायँ जिसे शायद ही कोई साधारण मज़दूर समझता हो, तो यह

---

[५] Orage, An *Alphabet of Economics*, p. 53.

एक बड़ी भारी त्रुटि होगी।[६] यहाँ लोकतंत्रवाद का अर्थ केवल इतना है कि गिल्ड के नेता सार्वजनिक मत से चुने जायँगे। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि वे पदाधिकारी जो किसी पूर्णतः विशिष्ट कार्य को करने के लिये नियुक्त किये गये हैं, वास्तव में नेता नहीं हैं वरन् केवल राय देने वाले हैं, और उनकी नियुक्ति लोकतंत्रवादी अधिकार का प्रश्न नहीं उत्पन्न करती। दूसरी ओर, उन मनुष्यों के लिये जो अपने साथियों के नेता होंगे, केवल एक ही ठीक सिद्धांत यह है कि वे मनुष्य अपने-अपने कार्यानुसार उन मनुष्यों द्वारा चुने जाने चाहिये जिनके सहयोग से वे कार्य करेंगे। अन्य शब्दों में, नेताओं के चुनने का सिद्धांत यह होगा कि वे उन मनुष्यों द्वारा निर्वाचित किये जायँगे जिनके वे प्रतिनिधि होंगे।[७]

गिल्ड और मज़दूर-सभा (trade union) में भेद जानना आवश्यकीय है। यद्यपि गिल्ड मज़दूर-सभा के ही आधार है पर बनाया गया है, पर यह उससे दो बातों में भिन्न है। पहले तो यह अफ़सर से लेकर चौकीदार तक को अपने में शामिल करेगा जैसा कि मज़दूर-सभा में नहीं होता। दूसरे, इसका उद्देश्य अपने सदस्यों के हित की रक्षा करना नहीं, वरन् व्यवसाय का संचालन करना होगा। यह संचालन समाज के हित की दृष्टि से किया जायगा; इसलिये गिल्डवादी कहते हैं कि यह कहना कि गिल्ड समाजवादी समाज में मज़दूर अपने हित के लिये उत्पत्ति का संचालन करेंगे, असत्य है। वास्तव में ऐसा होगा अथवा नहीं इसको तो व्यावहारिक परीक्षा ही निर्णय करेगी। इसलिये उपभोक्ताओं के हित की रक्षा के लिये अन्य तरीके शामिल कर लिये गये हैं। जैसा बताया जा चुका है, उपभोक्ताओं की कौंसिल और उत्पादकों के गिल्ड मिलकर मूल्य निर्धारित करेंगे और अतिरिक्त-माल के वितरण की समस्या को हल करेंगे।

---

[६] Cole, *Guild Socialism*, p. 41.
[७] Cole, *op. cit*, p. 42.

अब प्रश्न यह आता है कि गिल्ड समाजवाद में राष्ट्र का क्या स्थान होगा ? यह तो बताया ही जा चुका है कि कुछ बातें जैसे राष्ट्रीय संरक्षण, क़ानून आदि राष्ट्रीय आधार पर ही निश्चित किये जायँगे, इसलिये यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। परन्तु यहाँ गिल्ड समाजवादियों में बहुत मतभेद है। बहुत से तो इस विषय पर मौन धारण करना ही उचित समझते हैं। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय गिल्ड्स लीग कहती है कि किसी देश में किसी संगटन का ठीक-ठीक रूप उसको उत्पन्न करने वाली अवस्थाओं से पहले नहीं निश्चित किया जा सकता। इस विषय में लीग मार्क्स के कथन को मानती है और वर्तमान राज-यंत्र को 'पूँजीवाद-वर्ग के कार्यों का प्रबन्ध करनेवाली कार्यकारिणी समिति' मानती है। पर अन्य गिल्ड समाजवादी कहते हैं कि गिल्ड समाजवाद के अंतर्गत कुछ कार्य ऐसे होंगे जिनको वर्तमान राज-यंत्र की तरह की ही कोई संस्था पूरा कर सकती है। यह समस्त देश की प्रतिनिधि सभा होगी और इसे राज्य या कम्यून (Commune) कहा जायगा।

गिल्ड समाजवादियों में केवल भविष्य के समाज के विवरण के विषय में ही मतभेद नहीं है, वरन् रीतियों में भी है। साधारणतया उनका आम विचार है कि गिल्ड समाज के निर्माण के लिये हमें मज़दूर-सभाओं का आश्रय लेना पड़ेगा। वे 'वैधानिक उपाय' को अपर्याप्त समझते हैं और 'सीधे उपाय' से भी पूर्णता सहमत नहीं।

क्रांति उत्पन्न करने के लिये वैधानिक उपायों पर विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि पहले तो पूँजीवाद के अंतर्गत समस्त मज़दूरों का एक साथ मत देना, या एक वर्ग-चैतन्य बहुसंख्यक का वर्ग-चैतन्य सरकार को निर्वाचित करना सम्भव ही नहीं। दूसरे, यदि ऐसी सरकार बन भी जाय तो वह गिल्ड समाजवादियों के उद्देश्यों को एक शताब्दी से कम में पूरा करना असम्भव पायगी। क्योंकि (तीसरे) वर्तमान राष्ट्र-प्रणाली किसी तात्विक परिवर्तन के योग्य है ही नहीं,

और (चौथे) क्योंकि परिवर्तनकारी राजनीतिक आंदोलन शासक वर्ग में एक विरोधी आंदोलन को जन्म देगा जो उनकी आर्थिक क्षेत्र की शक्ति के ऊपर निर्धारित होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि राजनीतिक कार्यों को गिल्डवादी एकदम तलांजलि दे देते हैं। वे केवल इसी पर निर्भर नहीं रहना चाहते।

कुछ गिल्ड समाजवादी 'सीधे उपाय' का पक्ष लेते हैं, पर कोल (G. D. H. Cole) आदि इससे सहमत नहीं हैं, क्योंकि 'सीधा उपाय' अपनी सफलता के लिए मज़दूरों की शक्ति पर निर्भर रहता है जिससे उनके औद्योगिक संगठन द्वारा समाज के आर्थिक-यंत्र पर अधिकार करने में तथा वर्तमान प्रणाली के आर्थिक ढाँचे को तोड़ सकने में वह सफल हो सके। यह तब तक सम्भव नहीं जब तक कि विशेष रूप से अनुकूल अवसर न प्राप्त हो, जैसा कि रूस में सन् १९१७ में था।

अधिकतर गिल्ड समाजवादी मज़दूर सभाओं पर ही भरोसा करते हैं। मज़दूर सभाएँ कुल व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करतीं हैं। पहले स्थान पर तो आज की मज़दूर-सभायें कल गिल्ड बन जायँगी; दूसरे स्थान पर मज़दूर-सभाओं के द्वारा ही वास्तविक युग परिवर्तन सम्भव होगा।

हम ऊपर बता चुके हैं कि मज़दूर सभाएँ गिल्डों से दो ही बातों में भिन्न हैं। गिल्ड समाजवादी उन्हें गिल्ड के रूप में परिणत करने के लिए इस भिन्नता का निवारण करने का उद्योग करते हैं। वे इनमें किसी व्यवसाय के सभी कार्यकर्ताओं को सम्मिलित करने का प्रयत्न करते हैं और उन्हें व्यवसाय के संचालन में भाग लेने के लिए उत्साहित करते हैं। पहले उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे मज़दूर सभा के समतल (Horizontal) संगठन को लम्ब रूप (Vertical) देना चाहते हैं। समतल संगठन वह होता है जिसमें एक विशेष कार्य-प्रणाली-समूह का अनुशीलन करने वाले मज़दूर सम्मिलित किये जाते

हैं। एक प्रणाली भिन्न-भिन्न व्यवसायों में शामिल हो सकती है। लम्बरूप संगठन में किसी विशेष व्यवसाय कर्मचारी मैनेजर से लेकर चौकीदार तक शामिल होते हैं। गिल्ड-प्रचार के कारण अब मज़दूर सभायें कारखानों की शास्ति (Discipline) और प्रबन्ध में भी हाथ बटाने के लिए आंदोलन करने लगी हैं। अधिक जोशीली मज़दूर सभाओं ने 'अनाधिकार आधिपत्य' (Encroaching Control) की नीति ग्रहण कर ली है जिसका उद्देश्य यह है कि पूँजीपति को बिना अधिकार-च्युत किए हुए जितने अधिक कार्य मज़दूर सभाओं को मिल सकें वे ले लिए जायँ। इनकी एक माँग तो यह होती है कि समस्त निरीक्षकों को मज़दूर निर्वाचित करें। यह गिल्ड समाजवाद का ही सिद्धांत है। सामूहिक ठेका (Collective Contracts) इसका दूसरा पहलू है। इस प्रकार के सामूहिक ठेके में मज़दूर-सभा निश्चित मात्रा में माल उत्पन्न करने की गारंटी देती है, मज़दूरों के आवश्यक निरीक्षण का प्रबन्ध करती है, फ़ोरमैन (Foreman) की नियुक्ति तथा पदच्युति का नियंत्रण रखती है, और मालिक से मज़दूरी के रूप में इकट्ठा धन प्राप्त करती है जो कारखाने की कमेटी द्वारा मज़दूरों में बाँट दिया जाता है।[८]

गिल्ड समाजवाद के आदर्श और रीतियों का विवेचन करने के पश्चात् हम इसे अब आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखेंगे। अन्य समाजवादियों ने गिल्ड समाजवाद के बहुत से सिद्धांतों पर आक्षेप किये हैं। पहले तो वे वर्तमान उद्योग पर मध्यम-काल के गिल्ड ढाँचे को आरोपित करना असम्भव नहीं तो दुष्कर तो अवश्य समझते हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, पूँजीपतियों की जोखिम, और श्रम-विभाग आदि वर्तमान शक्तियों को देखते हुए यह कथन सत्य प्रतीत होता है। वास्तव में वर्तमान उद्योगवाद दूसरी धातु का ढला है। एक की

---

८ Joad, *Modern Political Theory*. pp. 87-88.

रचना अत्यंत कुशल छोटे पैमाने की कारीगरी के चतुर्दिक हुई थी जो अत्यंत नियमित, और प्रबल रूप से परम्परागत तथा भयंकर रूप से स्थानीय थी। दूसरी, अकुशल तथा सूक्ष्म रूप से विभक्त श्रमों, और बड़े पैमाने पर उत्पत्ति, अकुंठित परिवर्तन और नवीनता का सृजन, और राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय संगठन को स्वीकार करती है। कुछ समाजवादी राष्ट्र के नष्ट-भ्रष्ट करने के विरुद्ध हैं। कुछ कहते हैं कि गिल्ड समाजवादी उत्पत्ति के संगठन पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देते हैं। इस शब्द के व्यापक अर्थ में उपभोक्ता की हैसियत से ही मज़दूर अपने व्यक्तित्व का अनुभव करेगा।

परंतु इन आक्षेपों के होते हुए भी गिल्ड समाजवाद ने समाजवाद के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पहलुओं पर बहुत प्रभाव डाला है, जिसको सब ने स्वीकार किया है। महायुद्ध के समय गिल्डों ने ख़ूब उन्नति की। पर युद्ध के पश्चात् गिरती (Depression) में उनका अंत हो गया। हाल में गिल्ड समाजवाद की तरफ़ लोगों का ध्यान फिर आकर्षित होने लगा है।

अध्याय २६

समष्टिवाद

समष्टिवाद और अराजकतावाद में घनिष्ट सम्बन्ध है। समष्टिवाद केवल रीतियों का दर्शन है, अर्थात् वह पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद स्थापित करने के तरीकों का सिद्धान्त है। समाजवाद के स्थापित हो जाने पर जिस समाज का निर्माण होगा उसका वर्णन अराजकतावाद में मिलता है। अराजकतावादी एक ऐसे समाज का चित्र खींचते हैं जिसको वे स्थापित हुआ देखना चाहते हैं; और समष्टिवादी उस प्रकार के समाज को बनाने के ढंग को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न करते हैं। अथवा यों कहिये कि समष्टिवादी उपादानों से तथा अराजकतावादी उनके परिमाण से सम्बद्ध हैं। अन्य शब्दों में, अधिकांश समष्टिवादी अराजकतावादियों के आदर्श समाज की धारणा से सहमत हैं; और अराजकतावादी भी यह कहते है कि उनका आदर्श समाज समष्टिवादी तरीकों से कार्य रूप में परिणत हो सकता है। अराजकतावाद के सब से प्रमुख लेखक प्रिंस क्रोपोटकिन है जो "अराजकतावादी समष्टिवाद" (Anarchist Communism) के दूत कहलाते हैं।[1]

कुछ लेखक समष्टिवाद को समाजवाद का अंग नहीं मानते।[2] परन्तु समष्टिवादी अपने को मार्क्स के सच्चे भक्त समझते हैं और

---

[1] Jead, *Modern Political Theory*, pp. 87-88

[2] देखिये, Hernshaw, *A Survey of Socialism*, MacDonald. *The Socialist Movement* ; *etc.*

उनकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करते हैं। वास्तव में दोनों सम्प्रदायों के आन्तरिक दर्शन, उद्देश्य और तात्विक सिद्धान्तों में मात्रा तथा ज़ोर का अंतर भले ही हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों एक ही वृक्ष की शाखायें हैं। समष्टिवाद समाजवाद का पूर्णरूप है अर्थात् समाजवाद के पश्चात् समष्टिवाद का स्थापित होना निश्चित है। विलियम मौरिस लिखते हैं कि मेरे विचार से पूर्ण समाजवाद तथा समष्टिवाद में कोई अन्तर नहीं है।[3] इंगलैंड के स्वतन्त्र मज़दूर-दल (Independent Labour Party) ने मास्को से पूछा, "समष्टिवाद समाजवाद के अन्य रूपों से किन बातों में भिन्न है?" वहाँ से उत्तर आया, 'समाजवाद का और रूप ही नहीं, केवल समष्टिवाद ही है।"

समष्टिवादियों के दृष्टिकोण का सब से अधिकारपूर्ण विवेचन समष्टिवादी अंतर्राष्ट्रीय काँग्रेस, जो १६१६ ई० में मास्को में हुई थी, के मैनीफ़ैस्टो में पाया जाता है। इस मैनीफ़ैस्टो पर लैनिन, ट्राट्स्की, ज़िनोवीव, रैकोव्स्की और रफ़िज़ प्लैटिन के हस्ताक्षर हैं। मैनीफ़ैस्टो के प्रारम्भ में ही लिखा है कि पहला कम्यूनिस्ट मैनीफ़ैस्टो ७२ वर्ष पूर्व मार्क्स और ऐंगिल्स ने लिखा था। इस लम्बे समय में बहुत से परिवर्तन हुये परन्तु असलियत में समाज का विकास उसी भाँति हुआ जैसा कि इस मैनीफ़ैस्टो ने बताया था। आधुनिक समष्टिवादी ७२ वर्ष पूर्व अंकित किये गये कार्य-क्रम के अनुयायी हैं। वे पवित्र और अमिश्रित समष्टिवाद से मिलावट को दूर करके, क्रांति की समस्त शक्तियों को संगठित करना चाहते हैं।

मैनीफ़ैस्टो आगे चलकर बताता है कि वर्षों पूर्व ही समाजवाद ने साम्राज्यवादी युद्ध की भविष्य वाणी कर दी थी। पूँजीवादी देशों के पूँजीपतियों की धन-लोलुपता इस युद्ध का कारण बताई गई थी।

---

[3] देखिये William Morris, *Fabian Tract* No. 113, p. 11

युद्ध हुआ। युद्ध ने पूँजीवाद के आत्मविरोधों को भूख, ठंड, महामारी आदि के दुःखों में तथा नैतिक अमानुषिकता में परिणत कर दिया। इस प्रकार अब समाजवादियों के बढ़ते हुये दरिद्रता के सिद्धान्त और समाजवाद के द्वारा पूँजीवाद को दबाने के विषयों पर वाद-विवाद का अंतिम निर्णय हो गया है। इन दोनों धाराओं को अब उपेक्षित अथवा अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

पूँजी को भी जिसने मनुष्यों को युद्ध की अग्नि में ढकेला है काफ़ी हानि पहुँची है। काग़ज़ी मुद्रा को पूर्ण अवनति, पूँजीवादी पण्य-विनिमय की घातक क्रांति का अच्छा प्रतिबिम्ब है। युद्ध ने एकाधिकार के हाथों से, जो स्वतंत्र प्रतियोगिता के स्थान पर स्थापित हुआ था, सब प्रबन्ध छीन लिया है और उसके सैनिक-शक्ति के हाथों में दे दिया है। इस प्रकार पूँजी ने राष्ट्र को ही सैनिक शक्ति के अधिकार में नहीं कर दिया है, वरन् वह स्वयं भी उसके अधिकार में आ गई है। अब वह अपने आर्थिक कार्यों को खून और तलवार के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से पूरा नहीं कर सकती।

इस क्रांति को दूर करने के लिये आदर्श समष्टिवादी राष्ट्र की स्थापना करनी चाहिये। लेकिन यह स्थापना हो कैसे? समष्टिवाद का कार्य-क्रम चार भागों में विभक्त किया जा सकता: (१) क्रांति की तैयारी करना; (२) क्रांति करना; (३) राष्ट्र को सर्वहारा-वर्गीय अधिनायकशाही का रूप देना; और (४) राष्ट्र का अंत करना।

समष्टिवादी विकासवाद में विश्वास नहीं करते। वे कहते हैं कि राष्ट्र में बिना महत्वपूर्ण परिवर्तन किये कोई तात्विक सामाजिक परिवर्तन नहीं किया जा सकता। वर्तमान राष्ट्र के पदाधिकारी अविश्वासनीय होते हैं; उसकी क्रिया प्रभावशाली नहीं होती हैं, और उसकी प्रकृति केवल स्वामियों के बदल देने से नहीं बदलती। इसलिये शांतिमय वैधानिक तरीक़ों से सामाजिक क्रांति की आशा करना व्यर्थ है। मैनीफ़ैस्टो के शब्दों में, "पार्लियामेंट सम्बन्धी

लोकतन्त्रवाद के पीछे, पूँजी समस्त महत्वपूर्ण प्रश्नों को तै करती है।" इसके अतिरिक्त, जैसा कि लैनिन ने लिखा है, यदि हम पूँजीवादी लोकतन्त्रवाद को ध्यानपूर्वक देखें तो हमें लोकतन्त्रदान पर चारों ओर—मताधिकार के विवरण में (निवास-संबंधी नियम आदि में), प्रतिनिधि संस्थाओं की कार्य प्रणाली में, अखबार आदि पूँजीवादी संगठन में—बंधन ही बंधन दीख पड़ेंगे। ये बंधन गरीबों को राजनीति और लोकतंत्र शासन में भाग लेने से बहिस्कृत कर देते हैं। मार्क्स ने पूँजीवादी प्रजातंत्रवाद का सारांश भली भाँति समझ कर ही फ्रांस की शासन-प्रणाली के सब से छोटे अंग (Commune) की व्याख्या में कहा था कि कुछ सालों के बाद शोषित मनुष्यों को शोषकों में से अपने प्रतिनिधि चुनने को बाध्य होना पड़ता है।[४] इसलिये प्रजातंत्रवाद का आश्रय लेकर मज़दूर लोग अपनी उद्देश्य-पूर्ति नहीं कर सकते। फिर ट्रास्की की राय में दूसरी कठिनाई यह है कि जब क्रांति-पूर्ण कार्यों के लिये आवयश्यक समय आता है, तब पूँजीपति क्रियात्मक कार्य प्रारम्भ कर देते हैं।[५]

परन्तु समष्टिवाद पार्लियामेंट की एकदम उपेक्षा नहीं करता। शांति के समय, जब कि मज़दूर युद्ध की तैयारियाँ करते हैं, चुनाव में भाग लेना चाहिये, और पार्लियामेंट में अपने प्रतिनिधि भेजने चाहिये, क्योंकि राजनीतिक युद्ध मज़दूरों के संगठन स्थापित करने के लिये और राष्ट्र का श्रेणी-स्वभाव बताने तथा मज़दूरों में वर्ग-चेतना पैदा करने में बहुत सहायक हो सकते हैं। वे सुधार की अनुपयोगिता, पूँजीपतियों की राजनीतिक पार्टी के वास्तविक उद्देश्य और पूँजीवाद को जड़ से उखाड़ कर फेंक देने के कारण का दिग्दर्शन कराते हैं। वे नेताओं

---

[४] देखिये Lenin, *The State and Revolution*, p. 87.

[५] देखिये Trotsky, *Dictatorship Vs. Democracy*, p. 33-34.

को पूँजीपतियों की अमानुषिकता दिखाकर मज़दूरों से विद्रोह कराने में सहयोग देते हैं। परन्तु पार्लियामेंट सम्बन्धी संघर्ष केवल गौण महत्व का है। यह सर्वहारा-वर्ग के पार्लियामेंट के अतिरिक्त अन्य संघर्ष को संगठित करने की एक योजना है। पूँजीवादी प्रणाली में मज़दूर आंदोलन के आवश्यक प्रश्न शक्ति के द्वारा तै किये जाते हैं जिसमें हड़ताल आदि साधनों की आवश्यकता पड़ती है।[६]

इस प्रकार समष्टिवाद क्रांतिकारी तरीक़ों में विश्वास करता है। पर क्रांति की प्रकृति क्या होगी, यह परिस्थिति पर निर्भर है। क्रांति के पूर्व, चुनाव और पार्लियामेंट के तरीक़ों से प्रचार किया जायगा। गाँव और शहरों में मज़दूरों में जोश पैदा किया जायगा। वे खुले तौर पर सब काम करेंगी। जहाँ यह सम्भव नहीं वहाँ गुप्त और ग़ैर कानूनी रीतियों से काम लिया जायगा। क्रांति के लिये मज़दूरों की बहुसंख्या पर नहीं, वरन् क्रांतिकारी और विद्रोहात्मक मज़दूरों की लघु-संख्या पर विश्वास किया जायगा, क्योंकि सब मज़दूरों को एक दम क्रांति के लिये तैयार करना सम्भव नहीं, लेकिन एक क्रांतिकारी लघुसंख्या अन्य पिछड़े हुये मज़दूरों को क्रांति के पथ पर अग्रसर कर सकती है।[७]

जब क्रांति का समय समीप आ जायगा, तब मज़दूरों, किसानों और सिपाहियों की कौंसिल या सोवियट को स्थापित किया जायगा, जैसा कि रूस की क्रांति में किया गया था। उचित अवसरों पर सड़कों पर जुलूस निकाले जायँगे, मीटिंग की जायँगी, जिससे कि जनता को उनकी शक्ति और संगठन का पता चले, मज़दूरों में क्रांति के भाव जाग्रत हों और शत्रुओं के हृदय में भय उत्पन्न हो। समय-समय पर हड़तालें की जायँगी जिससे देश का आर्थिक यंत्र शिथिल हो जाय,

---

[६] Stalin, *Leninism*, p. 23.

[७] Lenin, *The State and Revolution*.

और सब जगह अशांति फैल जाय। सेना में भी चुपचाप समष्टिवाद का प्रचार किया जायगा और सैनिक-विद्रोह के लिये उन्हें तैयार किया जायगा जिससे कि अवसर आने पर सेना विद्रोहियों का साथ दे। फिर एक निश्चित समय पर मज़दूरों के हाथ में हथियार दे दिये जायँगे और हिंसा के सहारे देश के समस्त राजनीतिक और आर्थिक महत्वपूर्ण स्थानों पर (जैसे अस्त्र-शस्त्र बनाने के कारख़ानों, समाचार-पत्र, यातायात के साधन और बिजली-घर आदि पर) अधिकार कर लिया जायगा।[८]

इस प्रकार पूँजीवादियों की शक्ति को पलट देने का संघर्ष भयानक हो सकता है। ख़ूनी क्रांति का होना, समष्टिवाद की दृष्टि से, अवश्यंभावी है। समष्टिवादी इसे छिपाने की कोशिश नहीं करते। परंतु अब प्रश्न यह उठता है कि जब क्रांति के द्वारा समष्टिवादी राजनीतिक-यंत्र (State) पर अपना अधिकार कर लेंगे, तब फिर क्या करेंगे? राजनीतिक यंत्र को वह नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे, या उसे रहने देंगे? जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पहले तो सर्वहारावर्गीय अधिनायकशाही का सूत्रपात होगा उसके पश्चात् राजनीतिक यंत्र की आवश्यकता नहीं रहेगी और वह समाप्त हो जायगा। समष्टिवाद के अंतर्गत राजनैतिक यंत्र के विकास की ये दो श्रेणियाँ हैं।

सर्वहारावर्गीय अधिनायकशाही की दो बातों के लिये आवश्यकता पड़ती है: एक तो पूँजीपतियों की प्रतिक्रियात्मक क्रांति को रोकने के लिये; और दूसरे, पूँजीपतियों को अधिकारच्युत करके वितरण की न्यायपूर्ण प्रणाली स्थापित करने के लिये। जैसा कि लेनिन ने लिखा है। क्रांति के पश्चात् कुछ समय के लिये एक सर्वहारावर्गीय अधिनायकशाही को स्थापित करना पड़ेगा। मध्यवर्ग के मनुष्यों के विरोध को रोकने के लिये, उनके हृदय में भय उत्पन्न करने के लिये, तथा

[८] Stalin, *Leninism*.

बहुसंख्यक किसानों तथा सर्वहारावर्ग का आर्थिक समाजवादी पुनर्विधान के कार्य में ठीक तरह से मार्ग दिखाने के लिये एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता होगी जो सैनिक-संगठन पर आधारित हो।[१]

क्रांति के समय पूँजीपतियों को काफ़ी सुविधाएँ होंगी। उनको उच्च-श्रेणी की शिक्षा, रहन-सहन तथा सैनिक प्रतिभा का लाभ होगा। उनके पास युद्ध की सामग्री होगी और लड़ाई के लिये रुपया होगा। सामाजिक सम्बन्ध, प्रबन्ध का अनुभव, कुशल शिल्पियो और वैज्ञानिकों से मैत्री आदि उनके बहुत लाभ की वस्तुएँ होंगी। इसलिये वे इन लाभों के आधार पर प्रतिक्रियात्मक क्रांति करने में कभी नहीं हिचकेंगे। लैनिन लिखते हैं कि प्रत्येक ज़ोरदार क्रांति में शोषक वर्ग का, जो दीर्घकाल से शोषित-वर्ग पर अनुचित लाभ उठाता रहा है, एक लम्बा, तीव्र तथा अत्यंत ज़ोरदार विरोध होता है। बिना युद्ध किये हुये शोषक-वर्ग शोषित-वर्ग के बहुसंख्यक निश्चय को कभी स्वीकार नहीं करेंगे। क्रांति के पश्चात् .ज़ुल्म, अशांति, क़ानून का विरोध और अन्य अनुचित बातों में वृद्धि होना अनिवार्य है। इस प्रकार पूँजीवाद से समष्टिवाद का विकास एक सारा ऐतिहासिक युग भर लेगा।

इस युग में मज़दूरों का अर्ध-राज्य-सा (Quasi-State) स्थापित किया जायगा, जो क्रांतिकारी मज़दूर-वर्ग का प्रतिनिधि होकर काम करेगा। यह अपनी प्रकृति से ही लघुकालीन होगा। इस समय शासन स्वतंत्र तथा कठोर होगा, और राज्य पूर्ण शक्ति अपने हाथ में रक्खेगा। वह केवल सर्वहारावर्ग का प्रतिनिधि होगा जो उसे पूँजीपतियों के दमन के लिये प्रयुक्त करेगा। एँगिल्स के शब्दों में, क्योंकि राज्य केवल एक लघुकालीन संस्था है जिसका क्रांति के समय में विरोधियों को बलपूर्वक दबाने के लिये प्रयोग आवश्यक है,

---

[१] Lenin, *The State and Revolution.*

इसलिये स्वतंत्र तथा सर्वप्रिय राज्य की बात सोचना भ्रमात्मक है। जब तक सर्वहारावर्ग को राज्य की आवश्यकता पड़ती है, तब तक वह उसको स्वतंत्रता के लिये नहीं परन्तु अपने विरोधियों को दबाने के लिये स्थापित करता है ; और जब स्वतंत्रता स्थापित करना सम्भव हो जाता है, तब राज्य का अस्तित्व मिट जाता है।

इस अधिनायकशाही में सरकार का सोवियट रूप स्थापित किया जायगा। भिन्न-भिन्न व्यवसायों के मज़दूर सोवियट या कौंसिलों में अपने प्रतिनिधि भेजेंगे और ये सोवियट ही शासन करेंगी। (सोवियटवाद 'सोवियट' शब्द से निकला है। समष्टिवाद को सोवियट या बोल्शेविज़्म भी कहते हैं।) सोवियट सरकार में मनुष्य परिवर्तन की आवश्यकता को जिस शीघ्रता, पूर्णता और सचाई से समझ सकते हैं और उसको क्रियात्मक रूप देने के लिये कार्य कर सकते हैं, उतना और किसी संस्था में नहीं कर सकते।

शक्ति के आने के पश्चात्, समष्टिवाद, समाजवादी आदर्शों के अनुसार, राष्ट्र-निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ कर देगा। पहले तो राष्ट्रीकरण का कार्य-क्रम हाथ में लिया जायगा। बड़े-बड़े कारख़ाने और कम्पनियों का, जैसे बंक, बिजली-घर और पानी के काम, ट्रस्ट के आधार पर संगठित व्यवसाय आदि का राष्ट्रीकरण किया जायगा। ये सब काम ऐसे हैं कि इनमें बड़े पैमाने की पैदावार और केन्द्रित् संगठन उत्पादन के व्यय को घटा देते हैं। छोटे-छोटे कारख़ाने, अपनी महत्ता के क्रम के अनुसार, मिला लिये जायँगे। सन् १६१६ ई० का मेनाफ़ेस्टो स्पष्ट शब्दों में कहता है कि छोटे-छोटे व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामी बलपूर्वक अधिकारच्युत नहीं किये जायँगे। समाजवादी संगठन में यह बात, धीरे-धीरे, व्यावहारिक के रूप में नवीन सामाजिक प्रणाली की श्रेष्ठता को दिखाकर, और उन क़ानूनों के द्वारा जिनसे छोटे किसान तथा मज़दूर पूँजीपतियों तथा ज़मींदारों के चंगुल से बच सकें, स्थापित की जायगी।

समष्टिवाद में वितरण का सिद्धांत 'प्रत्येक की सामर्थ्य के अनुसार कार्य और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार पुरस्कार" होगा। यह सिद्धांत तुरन्त ही लागू नहीं किया जा सकता। इसके लिये मनुष्यों में आध्यात्मिक उन्नति की आवश्यकता है जिसके लिये समय चाहिये। पर समष्टिवादी समाज का यह चरम लक्ष्य है।

मज़दूर लोग राज्य की आवश्यकता केवल उतने समय तक के लिये समझते हैं जब तक कि पूँजीवादी युग के स्थान पर समष्टिवादी युग का स्थापन न हो जाय और उन्हें बलपूर्वक विरोधी भावनाओं को दबाकर समष्टिवाद को स्थापित करने में सफलता न मिल जाय। राज्य एक वर्ग पर दूसरे वर्ग का शोषण करने का साधनमात्र है। इसलिये जैसे-जैसे राज्य पूँजीपतियों का दमन करता आता है, वैसे ही वैसे वह अपने लिये समाधि भी तैयार करता जाता है। क्योंकि जितनी इसे इस काम में सफलता प्राप्त होती जाती है, उतना ही यह अनावश्यक होता जाता है। यह श्रेणी के आधार पर श्रेणी हित को वृद्धि करने के लिये संगठित की गई संस्था है। अतएव जब श्रेणी-भेद लोप हो जायगा, तब राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। समय की प्रगति के साथ-साथ समाज के साधारण तथा मूल सिद्धांतों का पालन करना मनुष्य के स्वभाव में स्वयं ही आ जायगा। इस प्रकार समष्टिवाद को प्रथम श्रेणी से द्वितीय श्रेणी की ओर अग्रसर होने के लिये द्वार साफ़ हो जायगा और उसके साथ ही साथ राज्य का अंत हो जायगा।[१०]

समष्टिवाद और मार्क्सवाद में घनिष्ट सम्बन्ध है। समष्टिवादी अपने को कट्टर मार्क्सवादी बतलाते हैं। उनके कथनानुसार मार्क्स और एंगिल्स का विश्वास था कि राज्य का बलपूर्वक विनाश अवश्यंभावी है; मध्यवर्गीय राजनीतिक यंत्र चूर-चूर कर डालना चाहिये;

---

[१०] देखिये Lenin, *The State and Revolution*, p. 105.

परिवर्तनकाल में सर्वहारावर्गीय अधिनायकशाही स्थापित करनी चाहिये। यदि मार्क्स और ऐंगिल्स पूरा चित्र नहीं दे पाये थे तो केवल इसलिए कि वे उस युग में उत्पन्न हुये थे जब कि क्रांति का ज़ोर नहीं था, साम्राज्य केवल प्रारम्भिक अवस्था में था, सर्वहारावर्ग क्रांति के लिये केवल तैयारी ही कर रहा था, और उस क्रांति की व्यावहारिक आवश्यकता नहीं थी।

अध्याय २७

अराजकतावाद[1]

समष्टिवाद के अनुसार जब सर्वहारावर्गीय अधिनायकशाही अपना उद्देश्य पूरा कर चुकेगी, तब राज्य का अस्तित्व मिट जायगा, और उसके स्थान पर स्वतंत्र सामाजिक संगठन का स्थापन होगा। क्रोपोटकिन के शब्दों में, यह जीवन का एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें समाज की बिना सरकार के कल्पना की गई है। ऐसे समाज में सामंजस्य क़ानून के पालन करने से स्थापित नहीं होता है, वरन् उन विभिन्न जन-समूहों के स्वतंत्र सहयोग से होता है जो उत्पत्ति तथा खपत के लिये और साथ ही साथ सभ्य व्यक्ति की अनेक महत्वाकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये स्वतंत्र रूप से बनाये जाते हैं।

अराजकतावाद के संस्थापन के लिये क्या उपाय करना चाहिये? इस विषय में अराजकतावादी मौन हैं। परन्तु इस प्रश्न का जो उत्तर समष्टिवादी देते हैं, उससे वे राज़ी हैं। इसलिये हम यहाँ पर अराजकतावाद के आदर्शों का ही विवेचन करेंगे।

अराजकतावादियों का विश्वास है कि केवल अराजकतावादी राष्ट्र में ही व्यक्ति अपने पूर्ण व्यक्तित्व का प्रसार कर सकता है, और यह

---

[1] इस पर कुछ मुख्य ग्रंथ निम्नलिखित हैं :—Kropotkin, *The Conquest of Bread*; Russel, *Proposed Roads to Freedom*; G. B. Shaw *The Impossibility of Anarchcism*. यह अध्याय Joad, *Modern Political Theories* के आधार पर लिखा गया है।

अनुभव कर सकता है कि जीवन में उसका भी कुछ उद्देश्य है। व्यक्तित्व के पूर्ण उदय होने का कारण बाह्य बन्धनों की अनुपस्थिति है। अराजकतावाद में मनुष्य प्रथम बार वास्तव में स्वतन्त्र हो जायगा। किन बातों से स्वतंत्र हो जायगा?—इस प्रश्न का उत्तर और उसके कारण हमें अराजकतावाद के वास्तविक रूप का चित्र दे देंगे।

अराजकतावाद हमें तीन बातों से स्वतंत्र कर देगा। (१) वह मनुष्य को, उत्पादक की हैसियत में, पूँजीपति के बन्धन से स्वतंत्र कर देगा; (२) वह व्यक्ति को, नागरिक की हैसियत में, राज्य के बन्धन से मुक्त कर देगा; और (३) वह मनुष्य को, व्यक्तिगत रूप में, धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान कर देगा। इनमें से तीसरा विषय नैतिक है, और इस पुस्तक की सीमा के बाहर है। पहले विषय अर्थात् पूँजीवाद के अत्याचार और दोषों का विवेचन किया ही जा चुका है। अतः हम यहाँ केवल दूसरे प्रश्न का अध्ययन करेंगे, जो अराजकतावाद की विशेषता है।

क्या सरकार आवश्यक है?—आर्थिक क्षेत्र में अराजकतावाद सार्वजनिक समष्टिवाद में विश्वास करता है। प्रिंस क्रोपाटकिन के शब्दों में, समस्त वस्तुओं पर प्रत्येक का अधिकार है, और यदि प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री वस्तुओं के उत्पादन में उचित सहयोग देती है, तब उसमें से प्रत्येक उत्पन्न की हुई वस्तुओं के उपयोग करने का अधिकार रखता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि प्रत्येक का भाग न्यायपूर्वक निर्धारित करने के लिये क्या राज्य का होना आवश्यक नहीं है? इसका उत्तर अराजकतावादी 'नहीं' में देते हैं। इसके विपरीत वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि प्रत्येक राज्य का कार्य केवल यही रहा है कि वह प्रत्येक का भाग अन्यायपूर्वक निश्चित करे।

जहाँ तक स्वेच्छाचारी सरकार और उच्च-वर्गीय सरकार का सम्बन्ध है, वहाँ तक इस कथन की सत्यता स्पष्ट है। एक का या थोड़े

से व्यक्तियों का शासन प्रत्येक व्यक्ति की समान शासन-शक्ति से विपरीत है। यह सदैव इस बात के लिये प्रयोग में लाया गया है कि संसार की वस्तुओं का असमान विभाजन करके धनी तथा शक्तिमान मनुष्यों को बड़ा भाग दिया जाय। परन्तु अराजकतावाद के अनुसार यह कथन बहुसंख्या द्वारा निर्धारित प्रतिनिधि सरकार पर भी लागू होता है। न केवल आधुनिक राज्य, वरन् राज्य का कोई भी रूप जिसका अस्तित्व सम्भव है, अनावश्यक और हानिकारक है। इसके निम्नलिखित कारण हैं :

(१) वर्तमान राज्य में अविश्वास—वर्तमान राज्य सार्वजनिक वस्तुओं पर कुछ आदमियों के एकाधिकार स्थापित किये रहने का साधन है। इस कारण उस एकाधिकार का अंत करने के लिये जिसकी वह रक्षा करता है, राज्य पर भरोसा नहीं किया जा सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य किसी संगठन को वर्तमान राज्य का स्थानापन्न किये बिना पूँजीवाद और व्यक्तिगत ज़ायदाद का अंत नहीं हो सकता। राज्य पर अधिकार कर लेने से और उसके प्रयोग से समाज का तात्विक परिवर्तन करना असम्भव है। जो समाजवादी इसे सम्भव समझते हैं, वे ग़लती पर हैं।

इस कारण अराजकतावादी वर्तमान सरकार के कार्यों के बढ़ाने के विरोधी हैं, चाहे वे कार्य जनता के हित के लिये ही क्यों न हों। न वे मज़दूरों की राजनीतिक पार्टी बनाने और चुनाव द्वारा पार्लियामेंट पर अधिकार करने से ही सहमत हैं।

(२) प्रतिनिधि सरकार के दोष— ऊपर का तर्क वर्तमान राज्य पर ही नहीं वरन् प्रत्येक राज्य पर लागू होता है; क्योंकि राज्य एक राष्ट्रीय प्रतिनिधि संस्था है और अधिकार का उपयोग करता है। परन्तु राज्य प्रत्येक समस्या पर देशवासियों की राय नहीं ले सकता; इसलिये यदि वह अत्याचारपूर्ण नहीं है, तो उसको अवश्य ही एक प्रतिनिधि सरकार द्वारा चलाया जाना चाहिये। इसका सिद्धांत यह है कि देश-

वासी कुछ व्यक्तियों को अपना मत प्रदर्शित करने के लिये कुछ समय के लिये अपना प्रतिनिधि चुनते हैं। पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का पूर्ण रूप से प्रतिनिधि नहीं हो सकता, मनुष्यों के एक समूह का प्रतिनिधि होना तो दूर की बात है। पहले तो सब समस्याओं को सुलझाने की उसमें योग्यता नहीं होती। एक आदमी अपने प्रतिदिन के रहनेवाले काम में ही विशेषज्ञ और प्रवीण हो सकता है; अन्य क्षेत्रों में वह अवश्य ही अकुशल होगा। इसलिये वे प्रतिनिधि प्रत्येक विषय में अल्प-ज्ञान रखते हैं जिससे प्रत्येक कार्य बिगड़ता है। उनको सब विषयों का इतना पर्याप्त ज्ञान नहीं होता जिससे कि वे प्रत्येक कार्य को भली-भाँति कर सकें। यह सरकार पेशेवाले राजनीतिज्ञ, वकील तथा पादरी, मानवीय सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान रखनेवाले व्यक्तियों को उत्पन्न करती है। इस प्रकार राजनीतिज्ञ बिना भूगोल के ज्ञान के सीमा खींचते हैं, और वकील बिना मनोविज्ञान जाने हुए संकल्प, आशय और प्रेरणा के प्रश्न तय करते हैं। इसलिये अराजकतावाद अल्पज्ञों के शासन के स्थान पर विशेषज्ञों के शासन को स्थानापन्न करना चाहता है।

दूसरे, प्रत्येक प्रश्न के विषय का जिसका फैसला राज्य करता है सामान्य संकल्प कुछ और होता है। या तो प्रतिनिधि बिना आवश्यकीय ज्ञान के काम करता है जो मनुष्यों के लिये अहितकर है; और या उसके सामने जब कभी कोई समस्या पेश होगी, तभी व्यक्तियों की राय लेने के लिये एक सभा करनी होगी। पर पिछली दशा में प्रतिनिधि का होना ही बेकार होगा।

इसलिये प्रतिनिधि-सरकार या तो अनावश्यक होती है और या वह प्रतिनिधि ही नहीं होती। सामान्य संकल्प को रखने का तरीक़ा यही है कि मनुष्यों की एक सभा की जाय। प्रत्येक प्रश्न पर उनके सामान्य संकल्प को बताने के लिये एक प्रतिनिधि निर्वाचित किया जाय, और इस प्रश्न पर उनकी राय प्रकट किये जाने के बाद वह

उनका प्रतिनिधि न माना जाय। यह उपाय प्रतिनिधि सरकार की कार्यक्षमता में अविश्वास प्रकट करता है जो औसत दर्जे के प्रजातंत्र-वादी को हृदयविदारक है। परन्तु वास्तव में यही एक ढंग है जिसको विद्वानों की सभायें और बड़े-बड़े उद्योगशील पुरुष किसी विषय पर अपना मत प्रदर्शित करने तथा आपस में समझौता करने के लिये स्वीकार करते हैं।

(३) शक्ति का प्रभाव—अन्य मनुष्यों के ऊपर शक्ति का उपयोग करना अच्छे विचार वाले पुरुषों को भी बुरा बना देना है। अधिकार पाने पर वे मतलबी, घमंडी, अत्याचारी हो जाते हैं और शक्ति दिलाने वाले मनुष्यों के हित की कुछ भी चिंता नहीं करते। उदाहरणार्थ, राजनीतिज्ञ अपने स्वभाव के कारण नहीं वरन् अपने स्थान के कारण दुष्ट हो जाता है : इसलिये नहीं कि वह मनुष्य है, वरन् इसलिये कि वह राजनीतिज्ञ है। इसलिये किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को अपने साथियों पर सरकारी शक्ति का उपयोग करने का काम नहीं देना चाहिये।

पर सरकार, जो शक्ति पर आधारित है, उस शक्ति के उपयोग करने पर ही चल सकती है और उस शक्ति को उपयोग में लाने के लिये मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती है जिन पर उस शक्ति का प्रयोग किया जाय। इसलिये सरकार अपनी प्रकृति से ही बल का प्रयोग करके स्वाभाविक मित्रों में भी द्वेष-भाव पैदा कर देती है, और उन्हें वर्गों में विभक्त कर देती है। इस प्रकार अराजकतावादियों के अनुसार, आंतरिक युद्ध और वाह्य युद्ध केवल सरकार के कारण उत्पन्न होते हैं। सरकार के अर्थ हैं मजबूरी, बहिष्कार, परेशानी और पार्थक्य; इसके विपरीत अराजकता के अर्थ हैं स्वतंत्रता, सहयोग और प्रेम। सरकार अहंमन्यता और भय पर आधारित है, अराजकता भ्रातृ-भाव पर। हमें सैनिक संगठन की आवश्यकता इसीलिये पड़ती है, कि हमने प्रथक् रूप से अपने को बहुत से राष्ट्रों में बाँट लिया है; हमको क़ानून

के संरक्षण की आवश्यकता इसीलिये पड़ती है कि व्यक्तिगत रूप से एक दूसरे से पृथक हो गये हैं।[२]

(४) राज्य क्यों अनावश्यक है?—अराजकतावादी राज्य की निरर्थकता को उदाहरण देकर समझाते हैं। "क्या राज शिक्षा के लिये आवश्यक है?" इस प्रश्न का उत्तर है, 'नहीं'। यदि मज़दूरों को काम करने की फ़ुरसत भर मिल जाय, तो उनमें से वे मनुष्य जो शिक्षा देने के शौकीन होंगे, दूसरों को शिक्षा देने में संलग्न हो जायँगे; और बहुत सी शिक्षा-समितियाँ खुल जायँगी जो एक दूसरे से श्रेष्ठ होने का प्रयत्न करेंगी।

'क्या राज्य विदेशी आक्रमण को रोकने के लिये आवश्यक है?" इसका भी उत्तर 'नहीं' है। क्रोपोटकिन कहते हैं कि स्थायी सेना (Standing army) सदैव आक्रमणकारियों से पराजित हो जाती है। इतिहास बताता है कि आक्रमणकारी संगठित की गई सेना द्वारा ही पराजित किये गये हैं।

राज्य के जान-मान की रक्षा करने के कार्य के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। नागरिकों की दुष्प्रकृति वाले मनुष्यों से रक्षा करना तो जहाँ तहाँ रहा, राज्य स्वयं उनकी प्रकृति को ऐसा बनाता है। अन्यायपूर्ण आर्थिक प्रणाली स्थापित करके वह दरिद्रता फैलाता है और दरिद्रता के कारण ग़रीबों से जुर्म करवाता है, और फिर इसके लिये ग़रीबों को ही जेल का कष्ट देता है जो उन्हें स्थायी मुज़रिम बना देता है।

कला में, विज्ञान में, व्यापार में जहाँ कि सबसे अधिक शक्ति पायी जाती है और सबसे अधिक उन्नति की जाती है, वहाँ राज्य हस्तक्षेप नहीं करता। क्लब, एकेडमी और संस्थाएँ तक मनुष्यों की स्वतंत्र क्रियाओं के फल हैं। इन कार्यों को नियमित करने वाला संस्थाएँ

[२] Lowes Dickinson. *Modern Symposium*.

जैसे की रायल सोसाइटी और ब्रिटिश ऐसोसिएशन, आवश्यक कार्य करने के लिये मज़दूरी पर नहीं वरन् स्वतंत्र सहकारिता पर निर्भर होती हैं।

व्यापार के विषय में क्रोपोटकिन ने अंतर्राष्ट्रीय रेलवे यात्रा का एक उदाहरण दिया था। यदि कोई यात्री मैड्रिड से मॉस्को तक रेल से यात्रा करे तो उसे लाखों मज़दूरों की बनाई दर्जनों कम्पनियों की रेलों में बैठना पड़ेगा। फिर भी अत्यन्त चक्करदार इंतज़ाम, जो यात्रा को सुगम बनाने के लिये आवश्यक है, उससे संबन्ध रखने वाली पार्टियों के स्वाभाविक प्रयत्नों से सुगमतापूर्वक हो गये हैं। स्वतंत्र सहयोग मज़दूरी का और स्वेच्छित प्रबंध शक्तिपूर्वक लगाये गये क़ानूनों का स्थानापन्न हो जाता है।

स्वतन्त्र समाज का संगठन – भविष्य के सामाजिक संगठन का अनुमान हम इस प्रकार लगा सकते हैं। राष्ट्र का अंत कर देने के पश्चात् शांति कैसे रहेगी, और सार्वजनिक कार्य किस प्रकार चलाये जायँगे? इस प्रश्न का उत्तर है--विशेष कार्य करने के लिये स्वेच्छित संघों द्वारा। प्रत्येक व्यवसाय, उसमें संलग्न व्यापारियों की एक स्वेच्छित संस्था द्वारा संचालित किया जायगा। यह संस्था अपने पदाधिकारियों को स्वयं चुना करेगी, अपनी नीति निर्धारित किया करेगी, और इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं से स्वतंत्र रूप से सहयोग रक्खेगी। इस प्रकार की संस्थाओं के मिश्रित तथा चक्करदार गुम्फन से प्रत्येक स्थान पर बिना किसी बल-प्रयोग के शांति रहेगी, और अराजकतावादी समाज का निर्माण होगा, क्योंकि अराजकतावाद शांति की अनुपस्थिति नहीं है, वरन् बल-प्रयोग की अनुपस्थिति है।

ये संस्थाएँ, समूह, तथा संघ भिन्न-भिन्न आकार के होंगे और विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बनाये जायँगे। इन शक्तियों के समतल होने से ही समाज में सामंजस्य स्थापित होगा। समतल होने का तात्पर्य यह नहीं है कि अराजकतावादी समाज अपरिवर्तनशील

होगा; प्रत्युत समाज की स्वतंत्र संस्थाओं के प्रभाव दिशा और अंश में सदैव बदलते रहेंगे। इसलिये इनको समतल बनाने के लिये निरंतर पुनर्विधान की आवश्यकता होगी।

मनुष्यों के समस्त सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये स्वेच्छित संघ स्थापित किये जायँगे। कुछ तो व्यापारिक आधार पर होंगे और कुछ प्रादेशिक आधार पर। ये समस्त संघ मिलकर उन कार्यों को करेंगे जो आजकल राष्ट्र द्वारा किये जाते हैं। इस प्रकार अराजकतावाद क्रियात्मक और प्रदेशिक विकेंद्रीकरण का समर्थक है। यह समाज का ढाँचा छोटी से छोटी इकाई पर आधारित करना चाहता है, और विश्वास करता है कि सामाजिक संगठन का शेष भाग इसी इकाई के आधार पर स्वयं विकसित हो जायगा। यह विकास अत्यंत साधारण से बढ़कर उससे अधिक चक्करदार प्रकृति का होगा, जिससे, वर्तमान समाज के प्रतिकूल जिसमें कि छोटे समूह का कोई स्थान ही नहीं है, अराजकतावाद में छोटे से छोटा समूह अत्यंत महत्वशाली होगा, क्योंकि उसी के आधार पर समाज का सम्पूर्ण महल स्थापित होगा। परन्तु इस अवस्था में विभिन्न जन-समूहों तथा संघों के हितों को कौन निश्चित करेगा, झगड़ों को कौन रोकेगा और भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय में सहयोगी भावना को कौन स्थापित करेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जब मनुष्य सुशिक्षित हो जायँगे, जब अशांति को पैदा करने वाली अमीरी और ग़रीबी की विषमता नहीं रहेगी और जब राष्ट्र एकाधिकार की रक्षा करना त्याग देगा, तब हित-विरोध शायद ही कभी उत्पन्न हो और असामंजस्य के अवसर बहुत थोड़े हुआ करेंगे। राष्ट्रीय-बन्धन से जिन मनुष्यों की प्रतिभा नहीं नष्ट की जायगी, और सरकार के हस्तक्षेप द्वारा जिनके हित नहीं कुचले जायँगे वे स्वतंत्रतापूर्वक उन्नतिशील होंगे और समाज-सहयोगी भावना अपूर्व रूप में उनके हृदय में अवतीर्ण होगी। स्पर्धा ही शत्रुता पैदा करती है। स्पर्धा के अंत होते ही मनुष्यों की पारस्परिक शत्रुता का भी विनाश हो जायगा

और एक वर्ग दूसरे वर्ग से प्रेमपूर्वक मिलेगा और पारस्परिक सहयोग द्वारा समाज की उन्नति होगी।

इस प्रकार अराजकतावादियों का तर्क यह है कि स्वतंत्र प्रबंध और स्वतंत्र सहयोग के नियम का पालन समाज को प्राकृतिक जनसमूहों में विभक्त कर देगा। आजकल राष्ट्र ने समाज को कृत्रिम वर्गों में बाँट दिया है। प्राकृतिक संघ-स्थापन इतना सामंजस्यपूर्ण, इतना संतोष-जनक और इतना कार्यशील होगा कि वह साधारण झगड़ों से (जिनकी सम्भावना कम है) विचलित नहीं हो सकेगा।

फ़ोरियर महोदय कहते हैं कि कुछ कंकड़ी लो। उन्हें एक डिब्बे में रख दो और उन्हें हिलाओ। वे स्वयं ही इतनी सामंजस्यपूर्ण हो जायँगी जितनी कि किसी मनुष्य द्वारा नहीं की जा सकती।

संक्षेप में यही अराजकतावाद का सिद्धांत है। यह आवश्यक रूप से अबोधगम्य है, क्योंकि यद्यपि रूप-रेखा यह सरल मालूम होता है, तथापि रूप-रेखा में खींचने के अतिरिक्त विशेष रूप से इसके विषय में अधिक नहीं कहा जा सकता। अपनी साधारणता से, जो अन्य चरमवादी मतों की भाँति इसमें सामान्य रूप से वर्तमान है, यह क्रियात्मक रूप में ग्रहण किये जाने की बहुत कुछ सम्भावना दिखाता है। परन्तु यह सम्भावना बहुत कुछ छलनामयी है, क्योंकि अराजकता-वादी इसका विस्तृत विवेचन करने में असमर्थ हैं।

वर्तमान और भविष्य

[अध्याय : २८—समाजवाद और पूँजीवाद की वर्तमान दशा। २९—साम्राजवाद। ३०—फैसिज़्म। ३१—फैसिज़्म—उत्तरार्द्ध।]

अध्याय २८

समाजवाद और पूँजीवाद की वर्तमान दशा

आधुनिक समाजवादी आंदोलन समाजवाद के विभिन्न रूपों का सम्मिश्रण है। काल्पनिक समाजवादियों के विचारों ने सहस्रों समाजवादियों के मस्तिष्क पर अमिट प्रभाव डाला है, और उनके हृदय में संसार को एक नवीन आधार पर बनाने की भावना उत्तेजित हो गई है।

मार्क्सवाद जो आर्थिक अंग पर समाज की उन्नति के लिये विशेष ज़ोर देता है, और वर्ग-युद्ध को मिटाने के लिये वर्ग युद्ध की आवश्यकता प्रकट करता है; फेबियनिज़्म तथा सुधारवाद (Revisionism) जो लोकतंत्रवादी साधनों द्वारा समाज के निरंतर विकास को एक नवीन सामाजिक प्रणाली की ओर ले जाना चाहते हैं; सिंडिकैलिज़्म तथा गिल्ड समाजवाद जिनकी माँग माल के उत्पादक का उद्योग के अधिकार में स्थान मिलना है; समष्टिवाद जो सर्वहारा वर्ग की अधिनायकशाही का पक्षपाती है और पूँजीपतियों के लोकतंत्र शासन का विरोधी है—आदि समस्त रूप हमें वर्तमान समाजवाद में मिलते हैं। इन समस्त आंदोलनों का उद्देश्य एक ऐसी औद्योगिक प्रणाली को स्थापित करना है जिसका उद्देश्य लाभ के स्थान पर सेवा हो, और जो उत्पत्ति तथा वितरण के सामूहिक आधार पर स्थापित हो। ये सब बरबादी, धन के असमान तथा अन्यायपूर्ण वितरण, औद्योगिक अधिकार के अत्याचार, तथा जीविका उपार्जन के अनिश्चय को जो वर्तमान सामाजिक संगठन में मौजूद हैं, मिटा देना चाहते हैं। इस परिवर्तन को लाने के लिये समाजवाद के समस्त सम्प्रदाय मज़दूर-वर्ग की सहायता चाहते हैं।[१]

---

१ Laidler, *A History of Socialist Thought*, pp. 611-612.

अभी तक संसार के बहुत से राष्ट्रों में समाजवाद स्थापित नहीं हुआ है। परन्तु समाजवादी आन्दोलन तथा उसके दर्शन का राजनीति, उद्योगों, विज्ञान, साहित्य तथा नैतिक विचारों पर अमिट प्रभाव पड़ा है। यह पिछली आधी शताब्दी का अत्यंत शक्तिशाली आंदोलन है और भविष्य की आर्थिक, समाजिक एवं राजनीतिक अवस्था को परिवर्तित करने के लिये ठोस और सच्चा कार्य कर रहा है। इसके स्थापन का मार्ग अब बनता जा रहा है।

यह तो हुई समाजवाद के वर्तमान और भविष्य की बात। अब हम पूँजीवाद की वर्तमान दशा पर विचार करेंगे। समाजवाद पूँजीवाद का प्रतिवाद (Anti-thesis) है। इसलिये समाजवाद के उत्थान का अर्थ है पूँजीवाद का पतन। वस्तुतः पूँजीवाद के पापों का घड़ा अब भर गया है, और इसके विनाश के लक्षण अब दिखाई पड़ने लगे हैं। पर यह जीवित रहने के लिये प्राणपण से उद्योग कर रहा है। मरती हुई चींटों के पंख निकल आते हैं। पूँजीवादी के भी साम्राज्यवाद और फेसिज़्म रूपी पंख निकल आये थे। पूँजीवादी समझते थे कि नवीन पतवारों की सहायता से वे पूँजीवाद की नाव को समय के समुद्र पर सफलतापूर्वक खे ले जायँगे। पर समाजवादियों का विश्वास था और है कि ये म्रियमाण पूँजीवाद की अंतिम साँसें हैं।

फैसिज़्म ने स्वयं को सुदृढ़ समझ कर समष्टिवाद और पूँजीवाद से मोर्चा लिया। द्वितीय महायुद्ध हुआ। पर इसमें फेसिज़्म की समाप्ति हो गई। साम्राज्यवाद भी अब इस युद्ध के बाद अंतिम साँसें ले रहा है। युद्धकाल में मानवी समानता के लक्ष्य को सामने रखकर देश-विदेशों की सहायता ली गई; और अब जाग्रत जन-समाज इस लक्ष्य को विस्मृत करने के लिये तत्पर नहीं। फिर साम्राज्यवाद अब आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं रहा। अतः अब इसका भविष्य चिंताजनक है। भारतवर्ष से ब्रिटिश साम्राज्यवाद कूँच कर चुका है। अन्य देशों में भी अब यह थोड़े दिनों का ही मेहमान है।

अध्याय २९

साम्राज्यवाद

पूँजीवाद बहुत वर्षों से अपनी अंतिम सीढ़ी, साम्राज्यवाद, पर पैर रख चुका है। एकाधिकार और साम्राज्यवाद का चोली-दामन का साथ है। कहना तो यों चाहिये कि इन दोनों शब्दों के दृष्यगत प्रतिबिम्बों में (Objective reflexes) में कुछ अंतर नहीं। इसी कारण लैनिन ने साम्राज्यवाद की पूँजीवाद की एकाधिकार-सम्बन्धी सीढ़ी कह कर परिभाषा दी है। लैनिन ने साम्राज्यवाद का काफ़ी अध्ययन किया था और इस विषय पर आपने एक विद्वत्तापूर्ण अधिकारी ग्रंथ भी लिखा है। आप लिखते हैं कि वर्तमान पूँजीवाद एकाधिकार का सबसे प्रमुख आधार है। पुरातन पूँजीवाद में एकाधिकार का ज़ोर नहीं था। स्पर्धा ही की सब जगह तूती बोलती थी। पर २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पूँजीवाद ने एक नवीन मार्ग ग्रहण किया। पूँजीवाद के इस नवीन रूप में एकाधिकार का स्थान सबसे अधिक महत्वशाली है।

किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के किसी विशेष वस्तु के उत्पादन पर पूर्ण अधिकार होने को ही एकाधिकार कहते हैं। वास्तव में पूर्ण अधिकार होना तो कठिन है और न इसका कोई उदाहरण ही देखने में आता है। वर्तमान दशा में एकाधिकारी किसी वस्तु का बहुभाग स्वयं उत्पन्न करता है। इसका प्रभाव उस वस्तु के मूल्य पर पड़ता है। एकाधिकार का वस्तु के मूल्य पर अधिकार होता है। यदि वह थोड़ा माल उत्पन्न करे तो उस वस्तु का मूल्य बढ़ जायगा और यदि अधिक मात्रा में माल उत्पन्न करे तो उसका मूल्य घट जायगा। इस प्रकार

उसके हाथ में एक भयानक शक्ति होती है। यदि वह चाहे तो वस्तुओं का मूल्य इतना बढ़ाकर रक्खे कि थोड़े ही व्यक्ति उसे ख़रीद सकें। शेष स्त्री-पुरुषों को वह नसीब ही न हो। साथ ही साथ उसको लाभ भी बहुत होता है। अकेला उत्पादन होने का कारण किन्हीं सीमाओं के अंदर, वह जो चाहे मूल्य प्राप्त कर सकता है। इसलिये यदि वस्तु बहुत आवश्यक हुई तो वह उपभोक्ताओं का जी भरकर शोषण कर सकता है। उदाहरणार्थ इलाहाबाद आदि शहरों में बिजली का मूल्य पाँच आना प्रति इकाई (Unit) है। पर अन्य देशों में यह मूल्य बहुत कम है। जापान में यह केवल एक पाई प्रति इकाई है। इसका कारण यही है कि भारतीय शहरों में बिजली की शक्ति पर जिन कम्प-नियों का एकाधिकार है, उन पर मूल्य के विषय में कोई ठीक-ठीक रोक नहीं।

अब देखना यह चाहिये कि एकाधिकार किस तरह किया जाता है। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य–प्रतिपादक अर्थशास्त्री (Classical economists) कहा करते थे कि जहाँ स्पर्धा है, वहाँ संघ-स्थापन (Combination) का बीज उपस्थित है। जब बहुत से उत्पादक होते हैं तो उनमें स्पर्धा बढ़ती है, यहाँ तक कि भले-बुरे सब प्रकार के साधनों से वे अपने प्रतिद्वन्द्वी के ऊपर विजय प्राप्त करने पर उतारू हो जाते हैं, जिससे स्वयं उसकी उत्पत्ति, उसका बाजार और उसका लाभ हज़म कर सकें। प्रतिद्वन्द्वी लागत से भी कम पर माल बेचना प्रारम्भ कर देते हैं। दोनों प्रतिद्वन्द्वियों को हानि उठानी पड़ती है। यदि दोनों को हानि सहने की सामर्थ्य हुई और अपने प्रयत्न में दृढ़ रहे तो कुछ समय बाद वे आपस में समझौता कर लेते हैं। यदि एक दूसरे से अधिक शक्तिशाली हुआ तो कमज़ोर प्रतिद्वन्द्वी शीघ्र ही अपना काम बंद कर देता है। ऐसी अवस्था में पहले वाला व्यापारी उसका कार-ख़ाना ख़रीद लेता है। इसी प्रकार कुछ समय में वह बहुत से कारख़ानों का स्वामी हो जाता है, और बहुत मात्रा में माल पैदा करने लगता है।

इस प्रकार कुछ बड़े-बड़े उत्पादन छोटे-छोटे कारख़ानों को हड़प करते जाते हैं। थोड़े समय के बाद केवल इने गिने बड़े-बड़े पूँजीपति मैदान में रह जाते हैं। इनमें बहुत भयंकर स्पर्धा चलती है। ये सब शक्तिशाली होते हैं। व्यापार में इन लोगों का लाखों-करोड़ों रुपया लगा रहता है। इसलिये कोई भी पूँजीपति अपने प्रतिद्वन्द्वी से दबना नहीं चाहता। थोड़े से दबने से हज़ारों रुपयों की हानि हो जाती है। भयंकर स्पर्धा के साथ दूसरे भाग में बताई गई 'बरबादी' भी भयंकर रूप धारण कर लेती है, और देश के मानुषिक और प्राकृतिक धन का बहुत दुरुपयोग किया जाता है। साथ ही साथ समस्त आर्थिक-यंत्र में अनिश्चय का विष फैल जाता है जो उन्नति के मार्ग में बहुत बाधक होता है। पूँजीवाद के आन्तरिक विरोध भी भीषण रूप धारण कर लेते हैं जिससे पूँजीवाद की दशा बहुत ही डाँवाडोल हो जाती है।

देश में बड़े-बड़े ट्रस्टों[२] का निर्माण होना और एकाधिकार का स्थापित होना साम्राज्यवाद का एक अंग है। इसका दूसरा अंग है विदेशों पर पूँजीवादी देशों का एकाधिकार क़ायम होना। साधारण बातचीत में हम साम्राज्यवाद का अर्थ उपनिवेशों को स्थापित करना समझते हैं। विदेशों में साम्राज्य क़ायम करने के मूल साधन एकाधिकार और ट्रस्ट हैं। यदि एक बार एकाधिकार का स्थापन हो गया तो वह संसारव्यापी होने को चेष्टा करता है। अंतर्राष्ट्रीय एकाधिकार पूँजीवाद की एक जीती-जागती शक्ति है और साम्राज्य के विस्तार का मूल मन्त्र है।[3] स्वीडन के दियासलाई के संघ की सारे

---

[२] बहुत से फ़र्मों का एक फ़र्म द्वारा हड़प कर लिये जाने पर एक बड़ा व्यापारिक संघ स्थापित होता है, वह ट्रस्ट (Trust) कहलाता है।

[3] इन बड़े-बड़े व्यापारिक संघों को कार्टेल, ट्रस्ट इत्यादि के नाम से पुकारा जाता है। अमेरिका में इतने बड़े-बड़े ट्रस्ट हैं कि उसे 'ट्रस्टों का घर'

संसार में शाखाएँ हैं और संसार भर का दियासलाई का व्यापार उसकी मुट्ठी में है। जब ट्रस्ट की उत्पादन-शक्ति इतनी अधिक हो जाती है कि उसके कुल माल की खपत स्वदेश में नहीं हो सकती तो वह विदेशी बाज़ारों माल बेचने का प्रयत्न करता है। अन्य देशों के ट्रस्ट भी यही काम करते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशों के पूँजीपतियों में विदेशी बाज़ारों पर अधिकार कर लेने के लिये संघर्ष आरम्भ हो जाता है जो दिन पर दिन भीषण रूप धारण करता चला जाता है।

साथ ही साथ व्यावसायिक देशों की आर्थिक प्रणाली में व्यवसाय की अधिक उन्नति होती है और खेती की उपेक्षा होती है। जब देश की शक्तियाँ कारख़ानों और मिलों आदि में जुटा दी जाती हैं, तब कृषि की दुर्दशा होना प्राकृतिक-सा ही है। परन्तु यदि अन्न इत्यादि देश में पैदा नहीं होता तो आये कहाँ से ? वह केवल विदेश से आ सकता है। अन्न इत्यादि बाहर से मँगाते समय दो मुख्य वस्तुओं का ध्यान रखना आवश्यक होता है। पहले तो विदेश की पूर्ति नियमित और निश्चित हो। यदि कहीं यह पूर्ति बन्द हो गई, तो मनुष्यों के सामने जीवन-मरण का प्रश्न खड़ा हो जायगा। दूसरे, पूर्ति सस्ती हो। यदि अन्न सस्ता नहीं होगा तो रहन-सहन का व्यय अधिक होगा, और मज़दूर लोग वेतन अधिक माँगेंगे। इससे माल का मूल्य बढ़ जायगा और अन्य देशों के माल से प्रतियोगिता करना कठिन हो जायगा।

कहा जाता है। इसी प्रकार जर्मनी 'कार्टेल' का घर है। इङ्गलैंड, कैनेडा आदि देशों में भी रूंघों की भरमार है। ये ट्रस्ट इतने बड़े-बड़े होते हैं कि जिसको सुनकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। उदाहरणार्थ अमेरिका में एक लोहे का ट्रस्ट है जिसके अध्यक्ष मार्गन हैं। इस ट्रस्ट में २०,००,००,००० पौंड (लगभग ८०,००,००,००,००० रुपये) की पूँजी लगाई गई है। इसके अन्तर्गत १२० बड़े-बड़े कारख़ाने और हज़ारों लोहे की भट्टियाँ काम करती हैं।

जो बातें अन्न के सम्बन्ध में कही गई हैं, वे कारख़ानों में प्रयुक्त होने वाली कृषि की वस्तुओं और खनिज पदार्थ आदि कच्चे माल पर भी घटती हैं। पूँजीपतियों को अन्य तथा कच्चे माल की सस्ती पूर्ति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार प्रत्येक देश के पूँजीपतियों को ऐसे देशों की आवश्यकता पड़ती है जो कृषि-प्रधान हों और खनिज पदार्थों से भरे-पूरे हों। साथ ही साथ उनके बनाये हुये पक्के माल को ख़रीद सकें और ख़रीदने पर बाध्य किये जा सकें। पूँजीपतियों का प्रधान उद्देश्य होता है कि वे इन देशों से कच्चा माल सस्ते दामों में ख़रीद लें और अपने कारख़ानों में उसकी भिन्न-भिन्न प्रकार की चीज़ें बनाकर बन देशों में ऊँचे-ऊँचे दामों में बेंचे। संक्षेप में वे इन देशों के शोषण से अपने को धनवान बनाने का प्रयत्न करते हैं। साथ ही साथ वे यह भी चाहते हैं कि उनके अतिरिक्त इन देशों पर और किसी देश वाले अधिकार न स्थापित कर सकें। इन बातों के लिये यह आवश्यक है कि इन पर उनका पूर्ण अधिकार हो और उसके शासन की बागडोर इनके हाथ में आ जावे। यदि ऐसा होगा, तो वे इन देशों में व्यवसायों की उन्नति को रोक सकेंगे और पक्के माल में विदेशियों की प्रतियोगिता को ऊँचे आयात-कर लगाकर निष्फल बन सकेंगे। अन्य शब्दों में वे इन देशों पर अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं। इसी को साम्राज्यवाद कहते हैं।

साम्राज्य-स्थापन के लिये देशों में ख़ूब युद्ध होते हैं और जिस देश के योद्धाओं की तलवारें रण-चण्डी के चरणों पर सबसे अधिक रुधिर बहाती हैं वही विजयी होता है, और उसे यह अधिकार होता है कि वह उस देश का जी भर कर शोषण करे। उदाहरण के लिये भारतवर्ष को ही ले लीजये। यहाँ योरोप वाले साधारण व्यापारियों की भाँति आये। पहले तो वे केवल भारतवर्ष का सामान इंगलैंड को ले जाते और भारत को सोना दे जाते थे। इस प्रकार हमारा देश सोने की खान हो गया। पर बाद को यहाँ की राजनीतिक अवस्था

इतनी शोचनीय हो गई कि योरोपवासियों ने यहाँ पर अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। अंगरेज, फ्रांसीसी और पुर्तगालवालों में खूब युद्ध हुआ, जिसमें अंग्रेजों की विजय हुई। उसी समय इंगलैंड से व्यवसायिक क्रांति प्रारम्भ हो गई। जब तक भारतवर्ष का बनाया हुआ माल वहाँ जाता था तब तक वहाँ व्यवसायिक उन्नति का होना असम्भव प्रतीत हुआ। क्योंकि भारतीय कारीगरों से विलायती कारीगर प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकते थे। इसलिये अंग्रेजों ने भारतीय माल का अपने देश में आने से निषेध-सा कर दिया, और भारत से कच्चा माल लेकर अपने कारखानों में पक्का माल बना-बनाकर भारत को भेजने लगे। इस प्रकार यहाँ के विभिन्न प्रकार के व्यवसायों को उन्होंने नष्ट कर दिया। उसके बाद उन्होंने भारतवासियों को केवल कृषि करने का पाठ पढ़ाया। हमारे पूर्वजों ने गौरांग प्रभुओं की आज्ञा का पालन किया और कृषि की चीज़ों और खनिज पदार्थों को विलायत भेजना प्रारम्भ किया और वहाँ के पक्के माल से यहाँ के बाज़ारों को पाट दिया। इस प्रकार विदेशी भारत से सारा धन ले गये और भारत को दरिद्रता के बाहुपाश में जकड़ दिया। यही साम्राज्यवाद के शोषण का ढंग है।

वास्तव में साम्राज्यवाद पूँजी के राज्य का समय होता है। बड़े-बड़े कारखाने और ट्रस्ट बैंकों से बहुत-सा रुपया उधार लेते हैं और बाद में उसको चुका देते हैं। स्वयं बैंक अनेक मार्गों से रुपया एकत्र करते हैं। बैंक पूँजीपतियों, छोटी-छोटी ज़ायदाद के स्वामियों, शिक्षकों, बड़े-बड़े किसानों आदि से धन प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार एकत्र की गई पूँजी को पूँजीपतियों के हाथों में समर्पित कर देते हैं। किसी बैंक की पूँजी जितने ही अधिक मार्गों से एकत्र की गई होगी, उतने ही अधिक क्षेत्र में वह अपने कार्यों को फैला सकता है। परन्तु उधार देते समय बैंक को इस बात का निश्चय कर लेना चाहिये कि जो फ़र्म रुपया उधार ले रहा है वह

नियत समय में उसको वापिस कर देगा। इस निश्चय के लिये बंक फ़र्मों के कार्यों पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता है।

बंकों में भी ख़ूब स्पर्धा रहती है। इस पारस्परिक प्रतियोगिता का परिणाम यह होता है कि बंकों का एक बहुत ही शक्तिशाली संगठन बन जाता है जिसके अधिकार में अधिकांश बकों का कार्य आ जाता है। यही बात व्यवसायों में भी होती है। वे समस्त व्यवसायों पर अधिकार कर लेते हैं। किसी देश की अथवा बहुत से देशों की सम्पूर्ण आर्थिक दशा फलस्वरूप उसके ऊपर निर्भर रहती है। इस प्रकार औद्योगिक तथा आर्थिक पूँजी का एकीकरण हो जाता है। लैनिन ने लिखा है, "उत्पत्ति का केंद्रीकरण (Concentration), उसके द्वारा उत्पन्न हुआ एकाधिकार, बंकों का व्यवसाय के साथ एकीकरण—यही पूँजी की उन्नति की कहानी है।"

यही पूँजी पिछड़े हुए देशों में भेजी जाती है, क्योंकि जितना ही अवनतिशील देश होता है, वहाँ उतने ही अधिक लाभ से पूँजी लगाई जा सकती है। इन देशों में कच्चे माल की भरमार होती है; वहाँ मज़दूर भी बहुत होते हैं; वहाँ केवल पूँजी, संगठन और प्रबन्धकर्ताओं की आवश्यकता पड़ती है। इन देशों में भेजी गई पूँजी की रक्षा करने के लिये बड़ी-बड़ी सेनाएँ तैयार की जाती हैं और इस प्रकार उस देश पर राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करने का कार्य भी साथ-साथ चलता है।

साम्राज्यवाद के इस प्रकार तीन प्रमुख लक्षण हैं—पूँजी का शासन, एकाधिकार, और उपनिवेशों पर अधिकार। वे एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। यहाँ पर पाठकगण लैनिन की साम्राज्यवाद की परिभाषा पर—कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की एकाधिकार सम्बन्धी सीढ़ी है—आपत्ति कर सकते हैं। परन्तु लैनिन ने एकाधिकार शब्द में इन समस्त बातों को सम्मिलित कर लिया है। नीचे लैनिन की बताई हुई साम्राज्यवाद की पूरी परिभाषा दी जाती है—

"(अ) उत्पत्ति तथा पूँजी का एकत्रीकरण, और उसको इतना उन्नत बना देना कि जिससे एकाधिकार स्थापित हो सके, जो आर्थिक जीवन में निश्चयात्मक स्थान रखता है।

"(ब) बंक की पूँजी तथा औद्योगिक पूँजी का एकीकरण और इस सम्मिश्रित पूँजी के आधार पर आर्थिक शासन उत्पन्न करना।

"(स) पूँजी का निर्यात, जो वस्तुओं के निर्यात से भिन्न है।

"(द) अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी एकाधिकार को स्थापित करना जिसके द्वारा संसार (के व्यापार) का ठीक-ठीक बँटवारा हो जाता है।

"(ह) समस्त पृथ्वी का प्रदेशीय विभाजन जिस पर पूँजीवादी शक्तियों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया है।

" साम्राज्यवाद पूँजीवाद के विकास की वह अवस्था है जिसमें एकाधिकार तथा पूँजी का शासन स्थापित होता है, जिसमें पूँजी का निर्यात एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, जिसमें संसार का विभाजन बड़े-बड़े अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टों में हो जाता और पृथ्वी के समस्त प्रदेश बड़ी-बड़ी पूँजीवादी शक्तियों में विभाजित हो जाते हैं।"[४]

यदि हम साम्राज्यवाद पर शोषण की दृष्टि से विचार करें तो हमें मालूम पड़ेगा कि पूँजीवाद की प्रारम्भिक सीढ़ी में पूँजीपति केवल देशी मज़दूरों का ही शोषण करते हैं, परन्तु साम्राज्यवाद की सीढ़ी में वे विदेशी किसानों पर भी अत्याचार करते हैं। इस प्रकार साम्राज्य-वाद में शोषण की मात्रा बढ़ जाती है।

इस आर्थिक और राजनीतिक विकास का परिणाम यह होता है कि संसार के मुख्य पूँजीवादी देश अत्यन्त पिछड़े हुये देशों को आपस में बाँट लेते हैं जिनका वे ख़ून शोषण करते हैं। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों ने अलग-अलग उपनिवेशों पर अधिकार कर रक्खा है, और अपने हित साधन के लिये वे उनका मनमाना

[४] "Lenin, *Imperialism.*

प्रयोग कर रहे हैं। इस दशा के पश्चात् केवल पुनर्विभाजन का प्रश्न रह जाता है। सन् १९१५ ई० में लेनिन ने लिखा था—पूँजीवादी देशों की नीति ने पृथ्वी के बिना बसे हुये प्रदेशों पर अधिकार करना बन्द कर दिया है। वास्तव में पृथ्वी पहले से ही विभक्त हो चुकी है जिससे भविष्य में केवल पुनर्विभाजन ही हो सकता है, अर्थात् एक स्वामी से दूसरे स्वामी के पास तबादला हो सकता है, अधिकारहीन स्थानों पर अधिकार स्थापित करना सम्भव नहीं।

साम्राज्यवाद पूँजीवाद के संघर्ष का रूप बदल देता है। अब प्रतियोगिता छोटे-छोटे उत्पादकों में नहीं वरन् शक्तिशाली प्रतिस्पर्धियों में होती है जो राज्य-शक्ति की सहायता ले सकते हैं। इस प्रकार ये संघर्ष संसार के विभाजन के लिये महान साम्राज्यों को अधिकार में करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रतियोगिता के नियम की इस विस्तृत और अन्तिम अवस्था में राज्यो तथा साम्राज्यों की प्रकृति का पुनर्निर्माण हो रहा है। ऐसी अवस्था में जब कि पूँजीवाद ने अपना अन्तिम रूप धारण कर लिया है, जब कि व्यापारिक प्रतियोगिता साम्राज्यों में पारस्परिक युद्ध को प्रोत्साहन दे रही है, पूँजीपतियों तथा सर्वहारा वर्ग का युद्ध भी साथ ही साथ अंतिम सीढ़ी को पहुँच रहा है। इस प्रकार जब पूँजीवाद भीषण तथा अबाध्य प्रतिद्वंद्विता से नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है, उस समय उसे अपने अंतिम शत्रु से सामना करना पड़ता है। आन्तरिक तथा वाह्य संघर्ष पूँजीवाद को और भी भयानक बना देते हैं। प्रजातन्त्रवाद, नरम विचार और पूँजीवादी वर्ग के शासन के बारीक ढग जड़ से उखाड़ कर फेंक दिये जाते हैं। मज़दूरों के विरुद्ध सीधा तथा खुला भीषण व्यवहार, अपने प्रतिद्वंद्वियों के वरुद्ध भीषण अत्याचार ही वर्त्तमान साम्राज्य के संचालन में सहायक हो सकता है। इस प्रकार की नीति का नाम "फैसिज़्म" है।[५]

---

[५] देखिये Sir John Strachey, *The Coming Struggle or Power*, p. 245.

अध्याय ३०

फैसिज़्म

फैसिज़्म एक नवीन आंदोलन है। यह सर्व प्रथम सन् १९१९ ई० में इटली में प्रकट हुआ। उसके पश्चात् यह योरोप के अन्य देशों में भी फैला और बहुत से देशों में तो अब इसने पूर्ण विजय प्राप्त की। इसके आकस्मिक जन्म तथा आश्चर्यजनक उन्नति ने इसे वर्तमान समय का शायद सब से प्रमुख विषय बना दिया है। पर अब फैसिज़्म मर चुका है, और इसका अध्ययन ऐतिहासिक विषय बन गया है।

फैसिज़्म की परिभाषा देना सरल काम नहीं है। फैसिज़्म की एक ऐसी परिभाषा जो इसके सब अंगों को सम्मिलित कर सके अवश्य ही लम्बी चौड़ी होगी। अतः वह अस्पष्ट हो जायगी। इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम फैसिज़्म की निम्नलिखित परिभाषा दे सकते हैं: फैसिज़्म एक ऐसा तरीक़ा है जो पूँजीपति पूँजीवाद की रक्षा के लिए उस समय प्रयोग करते हैं जब कि एकाधिकारी पूँजीवाद के प्रति मज़दूरों का विरोध बहुत बढ़ जाता है। इसकी एक दूसरी संतोषजनक परिभाषा यह हो सकती है कि यह एक ऐसा सार्वजनिक आंदोलन है जो एकाधिकारी पूँजीवाद के स्थापन के लिए उठाया जाता है। यह परिभाषा फैसिज़्म की प्रकृति पर अधिक प्रकाश नहीं डालती, पर इसके सिद्धांत तथा क्रियात्मक रूप का विवेचन इसके वास्तविक रूप को स्पष्ट कर देगा।

फैसिज़्म की उत्पत्ति, उत्थान एवं सिद्धांतों का वर्णन करने के पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि यह कोई ऐसा आंदोलन नहीं है जो

इटली में ही प्रस्फुटित हो सकता हो और जिसका निर्यात (Export) नहीं हो सकता। कुछ समय पूर्व यह भ्रमात्मक विचार अधिकतर लोगों की बुद्धि में समा गया था कि फैसिज़्म इटली का ही एक ख़ास आंदोलन है। लेकिन समय ने इस मिथ्या पर्दे को हटा दिया है। गत वर्षों में अनेक यूरोपीय देशों का फैसिज़्म की ओर झुकाव दृष्टिगत हुआ है, यहाँ तक कि जर्मनी का 'जातीय समाजवाद' (National Socialism) और फैसिज़्म पूर्णतया समान्य हो गया। वास्तव में यह एक ऐसी राजनीतिक वस्तु है जो जहाँ कहीं भी कुछ खास आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं, वहीं प्रकट हो जाती है। यह सत्य है कि फैसिज़्म का एक विशिष्ट विशुद्ध इटैलियन पहलू है; परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसका इटली के अतिरिक्त और कहीं विकास नहीं हो सकता।

जब पूँजीवाद की दशा इतनी शोचनीय हो जाती है कि उसकी समस्यायों का हल करना कठिन हो जाता है और जब विरोधक शक्तियाँ उसको शक्तिहीन एवं असंगठित बना देती हैं, तब फैसिज़्म का उदय होता है। जब लोकतन्त्रवाद का यन्त्र पूँजीवाद को उसके कठिन दोषों से मुक्त करने में असफल हो जाता है, जब एसेम्बलियों में रूढ़ियों के पुजारी, पुराने व त्यागे हुए विचारों के आदर करनेवाले, और केवल वाक्पटु तथा काम करने में असमर्थ पुरुष भर जाते हैं और चारों ओर संयम का अभाव तथा अराजकता दिखाई देने लगती है, उस समय एक ऐसा उत्साही पुरुष उत्पन्न होता है जो यह सोचता है कि यदि मैं दस वर्ष, या केवल पाँच वर्ष तक ही निर्विरोध राज-शक्ति अपने हाथ में रख सकूँ, तो देश को इन दोषों से मुक्त कर दूँ। यही विचार नैपोलियन के मस्तिष्क में उठा था। इसी विचार ने मुसोलिनी, हिटलर तथा मुस्तफ़ा कमाल पाशा को ग्रस्त कर लिया था। इसी विचार से प्रेरित होकर इन लोगों ने अधिनायकशाही को स्थापित करने का उद्योग किया। पार्लियामेंट की सत्ता नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई।

अधिनायकशाही (Dictatorship) के मार्ग में लोकतन्त्रवाद सदैव बाधक होता है, और इस रोड़े को दूर किये बिना अधिनायकशाही की उन्नति का मार्ग साफ़ नहीं हो सकता। सर्वहारावर्ग के संगठन और आंदोलनों को समूल नष्ट करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। अधिनायकों (Dictators) को शीघ्र प्रतीत हो जाता है कि सर्वहारा-वर्ग की समितियाँ और नेता या तो मज़दूर सभाओं (Trade Unions) की भाँति संकीर्ण रूप से व्यावहारिक हैं, अथवा केवल ऐसे आदर्शवादी हैं जिनको सरकार की वास्तविकताओं की ठीक-ठीक पकड़ नहीं, और न लड़ाकू शक्ति ही उनके अधिकार में है। वे एक दूसरे से झगड़ा करते रहते हैं और बहुत लघुसंख्यक हैं। इसलिये उनको उन्नति करने अथवा विकसित होने का अवसर नहीं है। ऐसी दशा में अधिनायक इन सब लघुसंख्यक संस्थाओं को समाप्त कर देने में ही देश का कल्याण समझते हैं। नरमदल वालों, लोकतन्त्रवादियों, मज़दूर-सभावालों, सहयोगवादियों, बोल्शेविकों, अराजकतावादियों, सिंडिकलिस्टों, स्वतन्त्र विचारवादियों, आदि के विरुद्ध वे उस संस्था को संगठित करते हैं जो वर्तमान सत्ता के क्षेम का स्वप्न तक नहीं देख सकती और जो इस बात का तकाज़ा करती है कि राष्ट्र को ये छोटी-छोटी संस्थाएँ समाप्त कर देनी चाहिये।

इस संस्था के सदस्य और कोई नहीं, पूँजीवाद के समर्थक ही होते हैं जो स्वयं बड़े-बड़े कारखाने चलाते हैं, जो दिन रात घुड़दौड़, सिनैमा और मोटरों आदि आनन्दप्रद वस्तुओं में मग्न रहते हैं और काहिली से घर में पड़े-पड़े चैन की वंशी बजाते रहते हैं। वर्तमान सामाजिक प्रणाली में ये लोग आनन्द भोग सकते हैं। इनका स्वार्थ इस बात में है कि यह प्रणाली जारी रहे। इसलिये ये असहयोगी लघुसंख्यक संस्थाओं के विरुद्ध सब प्रकार की सहायता दे देने को तैयार रहते हैं। इन्हीं की आर्थिक एवं राजनीतिक सहायता से फ़ैसिस्ट नेता देश के ऊपर अपना अधिकार करते हैं और पूँजीवाद की विरोधक शक्तियों

को धोखा, असत्य, विरोध और हिंसा के हथकंडों द्वारा छिन्न-भिन्न करके पूँजीवाद का पुनरुत्थान करते हैं।

फ़ैसिज़्म की रीतियाँ और उसका कार्य-क्रम

एक फ़ैसिस्ट अधिनायक का कर्तव्य केवल यह होता है कि वह पूँजीवाद के समर्थक बहुसंख्यक संघ को संगठित करे। उसके सदस्यों को संतुष्ट करने के लिये छोटी-छोटी संस्थाओं को पृथ्वी के पृष्ठ से अदृश्य करे और लोकतंत्रवाद का अंत कर दे। इसके पश्चात् वह ऐसे सुधार करे जो पूँजीवाद के समर्थक बहुसंख्यक संघ की भावनाओं के अनुकूल हों और वर्तमान सामाजिक प्रणाली अर्थात् पूँजीवाद के बड़े दोषों को दूर करने की चेष्टा करें।

इस क्रियात्मक उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये वह सबसे पहले उन स्थानीय कौंसिलो का अंत करता है जो पार्लियामेंट का छोटा रूप होती है और जो देहाती ज़िलों और क़स्बों पर कर लगाती हैं और शासन करती हैं। उनके स्थान पर वह प्रतिभाशाली नवयुवकों को नियुक्त करता है जो उससे ही शक्ति (authority) प्राप्त करते हैं। कुछ ही समय के भीतर वे देश की हालत में चमत्कारपूर्ण परिवर्तन और उन्नति कर दिखाते हैं। इससे जनता नये आंदोलन और अधिनायक को सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगती है।

फ़ैसिस्ट अधिनायक का दूसरा कार्य यह होता है कि वह अधिनायक-शाही सत्ता के बाहर जितने भी राजनीतिक और आर्थिक संगठन हो उनकी इतिश्री कर दे। हिंसा (Violence) के प्रयोग से यह काम सरल हो जाता है। फ़ैसिस्ट नवयुवकों की सेनाएँ निर्दोष सहकारी समितियों और अच्छी-अच्छी मज़दूर सभाओं को अराजकतावादियों और समष्टिवादियों के गुप्त संगठन बताती हैं और उन पर फ़ैसिस्ट अधिनायक के शत्रुओं और घातकों के अड्डे होने का कलक लगाकर उन्हें अपमानित करता है। वे इन संगठनों के दफ़्तर में घुस जाते हैं,

लोगों को मारते हैं, कुर्सी-मेज़ों आदि को चूर-चूर कर डालते हैं, धन छीन लेते हैं और सदस्यों की सूची को अपने अधिकार में कर लेते हैं जिससे कि वे उन सब मनुष्यों को जो इन संस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं, कारागार में ठुँस दें या देश से निर्वासित कर दें। उनका बैंकों में जमा किया हुआ धन, ज़ायदाद इत्यादि को सरकार हड़प कर लेती है और नये राष्ट्र का एक विभाग उनकी ख़बर लेने को बना दिया जाता है। ये सभाएँ उस समय से इस विभाग के अंतर्गत, उसके संरक्षण में, काम करती हैं। ऐसी समस्त राजनीतिक संस्थायें जो पूँजीवाद अथवा अधिनायकशाही के विरुद्ध प्रचार करके जनता की भावनाओं को बदलने का प्रयत्न करती हैं, जड़ से उखाड़कर फेंक दी जाती हैं और उनका पुनरुद्धार करना नियम के विरुद्ध ठहराया जाता है। विरोधी शक्तियों को छिन्न भिन्न करके फ़ैसिस्ट-मज़दूरों का वेतन कम करना आरम्भ कर देते हैं जिससे पूँजीपति उनका शोषण अच्छी तरह कर सकें और आनन्द से राज्य करें। एक लंदन का समाचार-पत्र लिखता है कि जर्मन लोग कम मज़दूरी के कारण अत्यत बुरी अवस्था में हैं। उन्हें केवल कुछ ही समय के लिये नौकरी मिलती है पर ऊँचे दर्जे पर जीवन व्यतीत करना पड़ता है। नाज़ी सरकार जिसका उद्देश्य वर्गीय युद्ध का अन्त कर देना और स्वामियों तथा मज़दूरों में अच्छा सम्बन्ध स्थापित करना था, इस उद्देश्य में असफल हुई बताई जाती है।

इस प्रकार के कड़े उपायों से अधिनायक पार्टी-प्रथा का अंत कर देता है। प्रेस पूँजीवाद-सत्ता के लाभ के लिये कार्य करता है। समाचार-पत्रों में केवल फ़ैसिज़्म का गुणानुवाद और उसकी चमत्कार-पूर्ण सफलताओं का वर्णन रहता है। ज्ञान को फैलाने के अन्य साधन जैसे सिनेमा, बेतार के तार आदि सरकार अपने अधिकार में कर लेती है। प्रजातंत्र की अवशेष धारा-सभा की शक्ति धीरे-धीरे कम कर दी जाती है और मतदाताओं की संख्या घटा दी जाती है।

अधिनायक के भक्तों को ही मत देने का अधिकार दिया जाता है जिससे उसका प्रभुत्व क़ायम रहने में संदेह के लिये कोई स्थान न रह जावे।

इस कड़े शासन के विरुद्ध नरमदलवाले (Liberals) आवाज़ उठाते हैं। वे कहते हैं कि यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर कुठाराघात है। अधिनायक इस कठिनाई को एक बार ही में हटा देता है। वह नरमदलवालों के प्रति घृणा प्रकाशित करता है। वह कहता है कि देश की उन्नति के लिये नियम-व्यवस्था, शांति तथा देश की उन्नति के लिये संलग्नता की आवश्यकता है। नरमदलवाले देश के शत्रु हैं। जनता अधिनायक का साथ देती है और वह भी नरमदलवालों को धिक्कारने लगती है। नरमदलवालों को जेल में सड़ने के लिये डाल दिया जाता है, सूने टापुओं में भेज दिया जाता है और उनका गुप्त रूप से बध करा दिया जाता है या खुले-आम फाँसी के तख़्तों पर चढ़ा दिया जात है।

इसके साथ-साथ फ़ैसिस्ट युद्ध का बिगुल बजाते रहते हैं। अस्त्र-शस्त्र बनाने वाले कारख़ाने अनवरत रूप से चलते रहते हैं। करोड़ों और अरबों रुपये बम, तोप और सङ्गीनें बनाने में व्यय कर दिये जाते हैं। फ़ैसिस्ट नेता कहते हैं कि हमें रोटी और मक्खन से अधिक मनुष्यों का ख़ून बहाना प्रिय है। खुले आम वे संसार से कहते हैं कि हमें उपनिवेश चाहिये जहाँ हम अपना साम्राज्य स्थापित कर सकें, जहाँ से हम अच्छा माल ला सकें और अपना बनाया हुआ माल बेच सकें। यदि हमको सुगमतापूर्वक उपनिवेश नहीं मिलेंगे तो हम उन्हें युद्ध करके लेंगे। मज़दूरों को वश में रखने के लिये भी अस्त्र शस्त्र के कारख़ाने जारी रखना आवश्यक है क्योंकि यदि वे कारख़ाने बन्द हो जायँगे, तो मज़दूरों में बेकारी फैल जायगी। और असंतोष क्रांति का दूत है। फ़ैसिज़्म की आदर्शवादी नींव में युद्ध को विशेष स्थान दिया जाता है। जैसा कि आगे चलकर विदित होगा, वैज्ञानिक व विद्वानों

से कहा जाता है कि तुम बम आदि नाशकारी वस्तुओं के बनाने वाले विज्ञान की उन्नति करो, और फ़ैसिज़्म का प्रचार करो। जो लोग इस बात से मतभेद प्रकट करते हैं, उन्हें कारागार, देशनिर्वासन या मृत्यु का दंड दिया जाता है।

एक मार्के की बात यह है कि यद्यपि फ़ैसिज़्म का उद्देश्य पूँजीवाद की रक्षा करना है, तथापि मज़दूरों को यह बात नहीं बताई जाती। उनसे तो यही कहा जाता है कि फ़ैसिज़्म मज़दूरों के भले के लिये काम कर रहा है। इस प्रकार फ़ैसिज़्म जो कहता है उसके विरुद्ध काम करता है और जो करता है उसके विपरीत कहता है! इसलिये फ़ैसिज़्म में स्थान-स्थान पर विरोधात्मक बातें मिलती हैं। फ़ैसिस्ट राष्ट्र स्वयं इन विरोधात्मक विचारों को फैलाता है। जर्मनी में विशेष रूप से इस कला की ख़ूब उन्नति हुई है। वहाँ के नष्ट-भ्रष्ट और दुःखी किसान, मज़दूर और निम्न श्रेणी के मध्य वर्ग के पुरुषों के हृदय में जो पूँजीवाद के विरुद्ध विचार उत्पन्न होते हैं, फ़ैसिस्ट राष्ट्र उसका अच्छी तरह उपयोग करता है। वह पूँजीवाद के विरुद्ध नारों का ख़ूब प्रचार करता है। जर्मनी की फ़ैसिस्ट पार्टी ने अपना नाम ही 'जातीय समाजवादी पार्टी' रक्खा है।

इस प्रकार के अत्याचार, कड़े शासन और विस्तृत प्रचार से फ़ैसिज़्म अपनी सत्ता क़ायम रखता है।

अध्याय ३१

फैसिज़्म—उत्तरार्द्ध

फैसिज़्म का दर्शन और उसके सिद्धान्त

फैसिज़्म में सिद्धान्तवाद का अभाव है। कुछ विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि फैसिज़्म का कोई सिद्धान्त नहीं, और न होने की आवश्यकता है, क्योंकि यह आन्दोलन केवल पूँजीवादी वर्ग की सहायता करने तथा मज़दूर-वर्ग को दबाने के लिये चलाया गया है। परन्तु अन्य उदार लेखकों ने फैसिज़्म के दर्शन तथा सिद्धान्तों का वर्णन किया है श्री एम० एन० राय इसका दार्शनिक दृष्टिकोण से विवेचन करते हुये लिखते हैं कि यदि फैसिज़्म एक सामाजिक तथा राजनीतिक प्रतिक्रिया है, तो इसकी सैद्धान्तिक नींव अवश्य ही दार्शनिक प्रतिक्रिया द्वारा डाली गई होगी। फैसिज़्म का दार्शनिक सिद्धान्त हैगेल के परवर्ती आदर्शवाद (Idealism), उत्तर-नवीन तथ्यवाद (Positivism), नवीन-यथार्थ वाद (Realism) और अनुभूतिवाद (Empiricism) के वैज्ञानिक कहलाने वाले सम्प्रदायों का तर्कसंगत परिणाम है जिसने कि आदर्शवाद के प्रतिषेध का छद्म रचते हुये, एक नवीन प्रकार के परतात्विक (Metaphysical) रहस्यवाद को पुनः स्थापित किया। फैसिज़्म ईश्वरीय विधान के नाम से सदाचार और स्वतन्त्रता को दमन करता है। परमात्मा की दुहाई देकर शोषित वर्ग पर अत्याचार किये जाते हैं और एक अस्पष्ट दर्शन के द्वारा इन अमानुषिक कार्यों का उचित ठहराया जाता है। राजनीतिक प्रतिक्रिया और सामाजिक बर्बरता को उचित ठहराने के लिये, फैसिज़्म का दार्शनिक वर्तमान यरोपीय संस्कृति अर्थात् मानववाद (Humanism) के एक मूलसिद्धांत की ओर पीठ फेर

लेत है। यह नवीन-विद्वतावाद (New Scholasticism) हैगेल के तर्क-शासन का एक विकृत रेखा-चित्र है और हिन्दू रहस्यवाद के बहुत समीप है। परन्तु रहस्यवाद है क्या ? यह केवल एक मानसिक भ्रम है जो जाँच से सिद्ध किये हुये वैज्ञानिक सत्यों और तर्क से स्थापित किये हुये दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिषेध करके अस्पष्टतावाद की शरण लेता है। पूँजीपतियों द्वारा प्रतिपादित फैसिज़्म का दर्शन रहस्यवाद का एक नमूना है।[१]

फैसिज़्म के सिद्धान्त के निर्माण पर मैशियावली, शापिनहावर, ब्लांकी, जरमी सॉरल, विलियम जोन्स, पैरेटो, लूथर, हैगिल, लिस्ट इत्यादि महापुरुषों का प्रभाव पड़ा है। फैसिज़्म का प्रतीक इसके प्रमुख सिद्धान्त का द्योतक है। इसका प्रतीक है एक कुल्हाड़ी और एक छड़ों का गट्ठर। कुल्हाड़ी राज्य के प्रभुत्व का चिह्न है। यह किसी भी सुसंगठित समाज में राष्ट्र के प्रभुत्व की आवश्यकता तथा प्रमुखता सूचित करती है, और रोम के राजकीय प्रभुत्व और क़ानून और फ़ायदे की सत्ता की याद दिलाती है। छड़ों का गट्ठर बताता है कि संगठन में ही शक्ति है। इन छड़ों को एक एक करके साधारण मनुष्य आसानी से तोड़ सकता है परन्तु पूरे गट्ठर को तोड़ना असम्भव है। इस प्रकार प्रभुत्व का विचार सहकारिता के विचार से संयुक्त है। प्रभुत्व तथा सहकारिता ही फैसिज़्म के मूल सिद्धान्त है।[२]

फ्लोरिन्स्का फ़ैसिज़्म के 'मूल विश्वासों' (Articles of Faith) के विषय में लिखते हैं[३] कि फैसिज़्म और जातीय समाजवाद या नाज़ीवाद का दावा है कि वे केवल सरकार के विभिन्न रूप ही नहीं हैं। मुसौलिनी लिखते हैं अन्य गम्भीर राजनीतिक विचारों की भाँति फैसिज़्म क्रिया (Action) और विचार (Thought) है। यह केवल संस्थाओं

---

[१] M. N. Roy, *Fascism*, Chapter I

[२] Major J. S. Barnes, *Fascism*, pp. 11-17

[३] Michael T. Florinsky, *Fascism and National Socialism*

को ही स्थापित नहीं करता वरन् आध्यात्मिक जीवन को शिक्षित और उन्नत बनाता है। हिटलर कहते हैं कि जातीय समाजवाद रक्त, राष्ट्र और व्यक्तित्व का मूल्य बताता है। लेकिन फैसिज़्म का यह दावा बिलकुल निर्जीव सा लगता है। इस मत की शिक्षाएँ बहुत असंयत और अनिश्चित हैं। उनका ऐसे शब्दों में वर्णन किया जाता है जिससे उनके बहुत अर्थ निकाले जा सकें और परिस्थिति के अनुसार उनका अर्थ बदल-बदल कर दिखाया जाता है। फैसिज़्म की सफलता का यह बहुत महत्वपूर्ण कारण है क्योंकि नारे (Slogans) और कार्यक्रम जितने कम युक्ति-युक्त होते हैं, उतने ही अधिक वे लोगों को रुचिकर होते हैं। मुसोलिनी खुले शब्दों में कहते हैं कि फैसिज़्म की बार-बार समीक्षा करनी चाहिये, उसे ठीक करना चाहिये, बढ़ाना चाहिये तथा विकसित करना चाहिये।

राष्ट्र को सर्वेसर्वा मान लेना फैसिज़्म का पहला तात्विक सिद्धान्त है। सब राष्ट्र के अंतर्गत ही, राष्ट्र के बाहर कुछ न हो, और राष्ट्र के प्रतिकूल कुछ न हो—फैसिज़्म इसी मत के समर्थक हैं। हिटलर कहते हैं कि व्यक्ति कुछ नहीं है, जो कुछ है वह जाति है। जर्मनी में 'रक्त की पवित्रता' का पहलू सबसे अधिक महत्वशाली है। जर्मनी का अधिनायक शाही राष्ट्र जाति के सिद्धान्त पर आधारित हैं। हाइनरिच हिमलर ने सन् १९३५ ई० में घोषित किया था कि जर्मनी के लिये जाति का विज्ञान ही यीशु का उपदेश है। इस विचार का उथलापन स्वयं स्पष्ट है। मध्य योरोप की जातियों की सच्ची उत्पत्ति का निर्धारण एकदम असम्भव कार्य है। लेकिन फिर भी इस अंध-विश्वास के अनुकरण में हिटलर ने यहूदियों को देश से निकाल दिया है, और उनकी सम्पत्ति छीन ली है। इटली भी जाति की महत्ता का परिपोषक है। मुसोलिनी जाति के संगठन को नितान्त आवश्यक समझते हैं लेकिन वे कहते हैं कि जाति कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, वरन् एक विचार है। "जाति एक भावना है, वास्तविकता नहीं। यह ९५ प्रतिशत भावना है।"

फैसिज़्म का दूसरा सिद्धांत है लोकतंत्रवाद को नष्ट-भ्रष्ट करना और अधिनायकशाही को स्थापित करना। वे पार्लियामेंटरी सरकार के क़ायल नहीं। फैसिज़्म इस बात का विरोध करता है कि बहु-संख्यक संस्था केवल इसलिये कि वह बहु-संख्यक है, मानव समाज को जिधर चाहे उधर चलावे। वह इस बात से साफ़ इनकार करता है कि केवल संख्या ही समय-समय के परामर्श से शासन कर सकती है। वह मनुष्य जाति की अपरिवर्तनशील, हितकर तथा फलदायी असमानता का समर्थन करता है। उसके विचार से यह असमानता केवल सार्वजनिक मताधिकार आदि कार्यों से चिरकाल के लिये समानता में परिवर्तित नहीं की जा सकती। फैसिज़्म समाज श्रेणी (Hierarchy) और नेतृत्व के सिद्धांत को मानता है। समाज श्रेणी और सख़्त नेतृत्व, नियम (Discipline) के दूसरे नाम हैं। इसका अर्थ यह निकलता कि फैसिज़्म के कुल सिद्धांत उसके नेता के संकल्प पर निर्भर हैं। साथ ही साथ फैसिज़्म असली व्यक्तिगत स्वतंत्रता का दमन करता है। लेकिन फैसिस्ट इस बात को नहीं मानते। वे कहते हैं कि जब तक व्यक्ति राज्य के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करता रहता है, तब तक वह स्वतंत्र है। 'स्वतंत्रता अधिकार नहीं वरन् कर्तव्य है।' साथ ही साथ इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि फैसिस्ट साहित्य में जातीय संगठन का अर्थ है वर्ग-संघर्ष या श्रेणी युद्ध को अस्वीकार करना। फैसिस्ट न केवल यही कहते हैं कि इतिहास में श्रेणी युद्ध का कोई सत्य रूप नहीं रहा है; वरन् उनका विश्वास है कि पूँजी और श्रमी में किसी प्रकार का हित-विरोध है ही नहीं। अपने राष्ट्र और जाति का सर्वश्रेष्ठ प्रभुत्व मानना उन्हें सैनिक बल बढ़ाने तक ले जाता है। फैसिस्ट समझते हैं कि ईश्वर ने उनको संसार के अन्य निवासियों से ऊँचा बनाया है। मुसोलिनी साफ़ शब्दों में कहते हैं कि फैसिज़्म न तो निरंतर शान्ति की संभावना में और न उसके महत्व में विश्वास करता है। केवल युद्ध ही मानुषिक प्रतिभा को अपनी उच्चतम स्थान तक लाता है और

उसमें भाग लेने वाले मनुष्यों पर साहस की छाप लगाता है। हिटलर मैन कैम्फ़ (Mein Kamp) में लिखते हैं कि चिरकालीन युद्धों में मनुष्य-जाति ने महत्व प्राप्त किया है—चिरकालीन शांति में इसका अवश्य ही अन्त हो जायगा। रस्किन ने अधिक ज़ोरदार शब्दों में लिखा था[५]: "यह सामान्य विचार कि सामाजिक जीवन में शांति और सद्गुण साथ-साथ उन्नतिशील हुये, मुझे पूर्णतः अनुपयुक्त प्रतीत हुआ। केवल शांति और पाप ही साथ-साथ चलते हैं। हम शांति और विद्वत्ता, शांति और प्रचुरता, तथा शांति और सभ्यता के विषय में बातचीत करते हैं, परन्तु मुझे यह मालूम हुआ कि ये शब्द ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं। शांति और विषय वासना, शांति और स्वार्थ, शांति और सदाचार, शांति और मृत्यु साथ-साथ चलते हैं। संक्षेप में, समस्त महान जातियों ने शब्दों की सत्यता, विचारों की पौष्टिकता युद्ध में ही सीखी; जो युद्ध में उत्पन्न हुई तथा शांति में विनष्ट हुई, युद्ध के द्वारा सिखाई गईं और शांति के द्वारा भुलाई गईं। एक शब्द में, उनका जन्म युद्ध में और अंत शांति में हुआ।" युद्ध जाति की शक्ति की ही परीक्षा नहीं, वह व्यक्तियों की आध्यात्मिक उन्नति का भी अमूल्य साधन है। जब मनुष्य युद्ध में जाता है, तो उसे प्राणों का प्रेम और भोग-विलास का मोह छोड़ना पड़ता है। इसी त्याग में जातीय मज़बूती और सर्वोच्चता अपने को पूर्ण रूप से प्रदर्शित करती है। मुसोलिनी ने सन् १६३० ई० में फैसिस्ट युवकों से कहा था—"स्मरण रक्खो, फैसिज़्म तुम्हें आदर और पुरस्कार देने का वचन नहीं देता। वह तुमसे केवल कर्तव्य-पूर्ति और लड़ना माँगता है।"

---

[५] देखिये, The *Crown of the Wild Olive* p. 94 यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि रस्किन की युद्ध धारणा वर्तमान युद्ध से भिन्न थी।

फैसिज़्म के उपर्युक्त आदर्शवादी विश्लेषण से ज्ञात होता है कि फैसिज़्म की आश्चर्यजनक सफलता का कारण इसका उत्तम तत्वज्ञान और सिद्धांत नहीं हो सकते, क्योंकि ये आदर्शवादी आधार न तो नवीन ही हैं और न विश्वसनीय ही। इस सफलता का कारण इटली और जर्मनी के पश्चात् की ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ ही हैं। यह केवल मनुष्यों के हृदयों को स्पर्श करने का ढंग था, न कि उनके मस्तिष्क को विश्वास दिलाने का; इसलिये फैसिज़्म और जातीय समाजवाद अपनी वर्तमान अवस्था को प्राप्त कर सके हैं।

फैसिज़्म की आलोचना

पिछले वर्णन से स्पष्ट है कि फैसिज़्म अत्याचार और शोषण का एक भयानक साधन है। इसका उद्देश्य है देशी किसानों और मज़दूरों का शोषण करना, विदेशी किसानों और मज़दूरों की आर्थिक हत्या करना, संसार को युद्ध के भय से सदैव कँपाये रखना और सहस्रों वर्षों के दीर्घकाल में उन्नत की गई सभ्यता का सैद्धान्तिक तथा व्यक्तिगत क्षेत्रों में गला घोट देना। इसके अत्याचारों से संसार के सभी विद्वानों को आशंका हो उठी है। फैसिज़्म वर्तमान सभ्यता के चंद्रमा को ग्रसने वाला सबसे भयंकर राहु है। जो व्यक्ति एक हाथ में बम और दूसरे हाथ में हिटलर या मुसोलिनी का चित्र लेकर संसार में रक्त की नदियाँ बहना ईश्वर की आज्ञा समझें, उन्हें पागल कहना भी उनका आदर करना है। श्रीयुत एम० एन० राय ने अपनी पुस्तक में बहुत से देशों के विद्वानों का फैसिज़्म के विषय में मत उद्धृत किया है। वे एक अमेरिकन समाचार-पत्र का ज़िक्र करते हैं जो लिखता है कि आजकल जर्मनी शराबियों, घातकों, चोरों, जालसाज़ों और दुराचारियों द्वारा शासित है। ये केवल गालियों के असम्बद्ध शब्द नहीं हैं। ये नाजी आंदोलन के प्रमुख नेताओं के, सामान्य रूप से स्वीकार किये गये, चरित्रों का वर्णन करते हैं। स्वयं हिटलर के विषय में एक महाशय

ने लिखा है कि हिटलर का जीवन-चरित्र लेखकों के लिये निराशाजनक है। जीवित राजनीतिक नेता का जीवन-चरित्र लिखना सर्वदा कठिन होता है। पर जब नेता आधा पागल हो, और अपने पागल साथियों की सहायता से उच्च पद प्राप्त कर चुका हो, और उसमें अनेक विरोधात्मक गुण-दोषों का समावेश हो, तब उस जीवन-चरित्र लेखक का कार्य लगाना असम्भव हो जाता है।

संसार के प्रसिद्ध उदार लेखक जॉन गंथर लिखते हैं कि महायुद्ध के पूर्ववर्ती सैनिक संगठन का तथ्यमूलक धर्म जर्मन साम्राज्य में चमक रहा है, और जाति अंधविश्वास में अर्धरहस्यवादी की भाँति डूब रही है। यह विश्वास मानवोत्तरों के लिये अनवरोध्य सा प्रतीत होता है, जिनके लिये यहूदी, प्रोफ़ेसर, शांतिवादी, समाजवादी, रैडीकल, उदार दल वाले तथा लोकतंत्रवादी नराधम हैं। श्रीयुत डैल ने अपनी पुस्तक "Germany Unmasked" में सरकारी पत्रों के प्रमाण द्वारा यह दिखाया है कि फैसिज़्म के अनुयायियों की निर्दयता द्वारा निरपराधियों के रक्त से योरोप की भूमि रंग दी गयी है। वे लिखते हैं कि फैसिज़्म तर्क के विरुद्ध एक आंदोलन है, और हिंसा-भावना तथा वासना के समर्थन के लिये एक पुकार है। इसका परिणाम अनिवार्य रूप से निर्दयता और पागलपन है।

जर्मनी और इटली में से बहुत से आदरणीय और पहुँचे हुये विद्वान् इस कारण निकाल दिये गये हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी विद्या को फैसिज़्म की वेदी पर बलिदान नहीं कर दिया। विज्ञान तक की उन्नति विषाक्त कर डाली गई है। वहाँ केवल वे ही आविष्कार और सुधार क्षम्य हैं जिससे आर्थिक और औद्योगिक शक्ति बढ़े और साम्राज्यवाद के विस्तार में सहायता मिले। इतिहास को अपने देश की प्रतिष्ठा दिखाने के लिये मिथ्या रूप दे दिया गया है। एक बेढंगे ऐतिहासिक सत्य के स्थान पर अभिप्रायपूर्ण रहस्यवाद स्थापित कर दिया गया है। सच्चे अनुसंधान और सत्य का प्रचार करनेवाला मृत्यु के घाट उतारा

जाता है। हिटलर के शक्तिशाली होने के दो महीने के अंदर ही दो सौ से अधिक विद्वान देश से निकाल दिये गये जिनमें जगत्-प्रसिद्ध एडवर्ड आइंस्टाइन, प्रोफेसर जौंडेक, रिचर्ड बिल्स्टैटर, फ्रिजदैवर और ओटो मेयरहॉफ इत्यादि भी शामिल हैं। साथ ही साथ वैज्ञानिक खोजों के एकत्र किये हुये फल, सांस्कृतिक तथा कलात्मक सफलताए जो फैसिज्म की बर्बर सभ्यता के अनुकूल नहीं हैं, जान बूझकर नष्ट कर दी गई हैं। फैसिज़्म ने स्त्रियों को मकानों के अंदर ठूँस दिया है। गॉबिल्स कहते हैं कि स्त्रियों का काम सुन्दर बनना और बच्चे पैदा करना है। स्त्री रूपी चिड़िया पुरुष को प्रसन्न करने के लिये अपना साज-शृङ्गार करती हैं और उसके लिये अंडे देती हैं! इसके बदले में पुरुष उसके खाने-पीने का प्रबंध करता है और शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा करता है! यहूदियों पर किये गये अत्याचार का तो कहना ही व्यर्थ है। इस क्रूरता को तो सभ्य देश का बच्चा-बच्चा तक जानता है। फैसिज़्म के नेता वस्तुतः आधे पागल हैं। गॉबिल्स मानव-जाति से घृणा करता है, और रक्त बहाने में आनंद पाता है। हिटलर अपने व्यक्तिगत जीवन में विचित्र जीव है। वह वक्तृता देते-देते भावनात्मक उन्माद में मौन हो जाता है और पागल की भाँति शून्य दृष्टि से देखने लगता है। जब राष्ट्र का भाग्य ऐसे व्यक्तियों के हाथ में हो, तो कल्याण की क्या आशा की जा सकती है?

फैसिज़्म समाज का कलंक है, सभ्यता का शत्रु है और मदांधता की चरम सीमा है। इसका जितनी शीघ्रतापूर्वक अंत हो, उतना ही अच्छा।

फैसिज़्म का काला भविष्य

सौभाग्य से फैसिज़्म की स्थिति सुरक्षित नहीं। यह पूँजीवाद के स्वाभाविक नाश में बाधक है। इसलिये इसका रूप बहुत कुछ कृत्रिम होता है। इसकी क्रिया में शीघ्र ही बहुत सी बाधाएँ दीख पड़ने लगती हैं, जिससे इसकी मशीन रुक-रुक कर चलने लगती है और एक दिन इसके एकदम बेकार हो जाने के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ने लगते हैं। असीम

धन का आवश्यकता फैसिज़्म की असफलता का मुख्य कारण है। फैसिज़्म देश को यह दिखाने के लिये कि वह देश की अपूर्व उन्नति कर सकता है, पुनर्विधान के बड़े-बड़े कार्य-क्रम निकालता है। ऐसे काम बिना रुपये के नहीं हो सकते। इसलिये सरकार ग़रीबों की संगठनों की सब सम्पत्ति हस्तगत कर लेती है। परन्तु उससे कुछ काम नहीं चलता। ऐसी अवस्था में अधिक धन की आवश्यकता होना अनिवार्य है। यह रुपया पूँजीपति ही दे सकते हैं। परन्तु फैसिस्ट राष्ट्र उन्हें खुलेआम नहीं लूट सकता। उन्हें लूटना इसका उद्देश्य भी नहीं। इसलिये वह उत्पादकों को नये-नये आविष्कारों के प्रयोग के लिये मजबूर करता है, और राष्ट्र की आज्ञा के अनुसार उनको मिश्रित करता है जिससे बड़े-बड़े राष्ट्र और संघों की नींव पड़ती है। इन कार्यों के व्यापारियों का लाभ बढ़ जाता है। राष्ट्र लाभ पर कर लगाता है। जब लाभ अधिक होता है, तब राष्ट्र की उन्नति होती है। कारखाने इत्यादि बनाये जाते हैं। इससे मकानों और इमारतों के किराये बढ़ जाते हैं। इसको अर्थशास्त्र में अनुपार्जित वृद्धि (Unearned increment) कहते हैं। सरकार कर लगाकर अनुपार्जित वृद्धि का कुछ भाग ले लेती है। पूँजीपतियों को समष्टिवाद इत्यादि का लगातार भय दिखाया जाता है जिससे कि वे कर देने में न करें।

परन्तु इतने पर भी काम नहीं चलता। इस समस्या को हल करने के लिये अधिनायक धनिकों के एक भाग के विरुद्ध राजनीतिक, धार्मिक या जातीय आधार पर प्रचार करता है और उनका धन लूटकर राष्ट्र के कोष में दिया जाता है। इसी कारण हिटलर ने जर्मनी में यहूदी होना महान् दोष बताया; उनकी सम्पत्ति लूट ली गई; और उनको देश से निकाल दिया गया।

यहाँ पर बहुत सी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। यहूदियों का धन अपरिमित नहीं। इसलिये उनको लूट लेने से फैसिस्ट राष्ट्र की धन की समस्या हल नहीं हो सकती। नवीन आविष्कारों का प्रयोग (Ratio-

nalization) तथा सम्मिश्रण (Amalgamation) का मार्ग भी कठिनताओं से खाली नहीं। जैसे-जैसे इन चीज़ों का ज़ोर बढ़ता जाता है, और मशीनें बहुत से मनुष्यों का काम करने लगती हैं, वैसे ही बेकारी बढ़ने लगती है। साथ ही साथ कुछ समय बाद सरकारी कार्यों (Public works) को बढ़ाने के लिये भी कोई आवश्यकता या गुंजायश, नहीं रह जाती। इसलिये उनमें संलग्न मज़दूर भी बेकार हो जाते हैं। अब प्रश्न यह उठेगा कि इन बेकारों को कहाँ से खाना आवे। राजकोष में धन होगा नहीं। देश की सम्पत्ति पूँजीपतियों के हाथों में होगी। वे उन्हें मुफ़्त में रुपया क्यों देने लगे? इस समय शोषण चरम सीमा पर पहुँच जायगा। शोषण वर्ग की आँखें खुलेंगी, और वे लोग अपने कल्याण के लिये समाजवाद का आरोपण करने के लिये और इस प्रथा को नष्ट करने के लिये क्रांति करेंगे। पूँजीवाद का यह अंतिम रूप सदा के लिये नष्ट हो जायगा[१]।

हमने सन् १९३९ ई० में लिखा था कि "हमारा विश्वास है कि यदि फैसिस्ट राष्ट्र किसी युद्ध में पराजित हुआ तब तो उसका अंत अवश्यंभावी है। युद्ध और युद्ध की सफलता फैसिज़्म की राजनीति, सामाजिक, आर्थिक और सैद्धान्तिक सफलता का एक प्रमुख स्तम्भ है। यदि यह स्तम्भ नष्ट हो गया तो फैसिज़्म का महल धूल में मिल जायगा।" द्वितीय महायुद्ध में ऐसा ही हुआ। फैसिस्ट देशों की पराजय हुई और यह आन्दोलन फ़िलहाल मर चुका है।

---

[१] आर्थिक साहित्य के विशेषज्ञ यहाँ पर यह कह सकते हैं कि राष्ट्र मुद्रा की संख्या बढ़ाकर धन प्राप्त कर सकता है। मुद्रा की संख्या बढ़ाने और घटाने का विषय बहुत गम्भीर है और यहाँ पर अच्छी तरह नहीं समझाया जा सकता। यहाँ केवल इतना कह देना उपयुक्त होगा कि मुद्रा-संचलन (*Currency*) की समस्या में भी ऐसे विरोधों का अस्तित्व होगा जिससे फैसिज़्म का अंत समीप आता जायगा। विस्तारपूर्ण वर्णन के लिये देखिये, John Strachey, *op. cit*, pp. 267–8.

भारतवर्ष में समाजवाद

[अध्याय : ३२—भारत में समाजवाद की आवश्यकता। ३३—कांग्रेस और समाजवादी दल। ३४—गाँधीवाद और समाजवाद।]

अध्याय ३२

भारतवर्ष को समाजवाद की आवश्यकता

समाजवाद का सैद्धान्तिक विवेचन करने के पश्चात् अब हम अपने देश की परिस्थिति का अध्ययन करेंगे और यह निश्चय करने की चेष्टा करेंगे कि वास्तव में हमें समाजवाद की आवश्यकता है अथवा नहीं। पिछले अध्यायों के आधार पर हम कह सकते हैं कि यदि किसी देश में पूँजीपति शोषण कर रहे हैं, तो इसका प्रतिबिम्ब दृष्यगत मनुष्यों की निर्धनता, बेकारी और दरिद्रता का ही रूप लेगा। इसलिये यदि कोई देश गरीब है, और वहाँ की सामाजिक प्रणाली पूँजीवादी प्रणाली पर निर्धारित है, तो यह शोषण का संकेतक है और ऐसी अवस्था में वहाँ समाजवाद का स्थापन करना आवश्यक होगा। कोई पाठक यह कह सकता है कि निर्धनता पूँजीवादी प्रणाली का नहीं, बल्कि मनुष्यों के आलस और अकर्मण्यता का भी परिणाम हो सकती है; और यदि ऐसा है तो दरिद्रता की दवा पूँजीवादी का क्षय नहीं बल्कि मनुष्यों की कार्यक्षमता का बढ़ाना होगा। यह कथन अक्षरशः सत्य है। परन्तु यदि पूँजीवादी प्रणाली के अंतर्गत मज़दूर काहिल होने के बदले बहुत परिश्रमी हैं, और एड़ी से चोटी तक पसीना बहा कर भी पेट भर भोजन नहीं पाते, तो इसका निष्कर्ष यही निकलेगा कि यह पूँजीवाद की ही करतूत है और इसे नष्ट करने में ही देश का कल्याण है। इसलिये हमें भारत में समाजवाद की आवश्यकता को प्रमाणित करने के लिये निम्नलिखित बातें साबित करनी पड़ेंगी—

(१) भारत में दरिद्रता है।

(२) यह शोषण का परिणाम है।

(३) यह भारतीयों की अकर्मण्यता का परिणाम नहीं।

भारतवर्ष की दरिद्रता

हिन्दुस्तान एक ग़रीब देश है। इस बात को सभी स्वीकार करते हैं। एक भारतवासी की औसत वार्षिक आमदनी बहुत थोड़ी है। इस आय के निश्चयात्मक आँकड़े देना विवादशून्य नहीं। भिन्न भिन्न अर्थ-शास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न समय और क़ायदों से अलग-अलग अनुमान लगाये हैं। पहिले पहल १८७० ई० में दादाभाई नौरीजी ने इस दिशा में कार्य किया। उन्होंने १८६७ से १८७० तक के आँकड़ों के आधार पर यह निर्धारित किया कि एक भारतवासी की औसत वार्षिक आय २०) रुपये हैं। उनके अनुसार, यह आय क़ैदियों पर व्यय किये जाने वाले ३४) रुपये प्रति व्यक्ति से भी कम है। वे कहते हैं कि हमारी उत्पत्ति इतनी कम है कि प्रत्येक देशवासी को एक क़ैदी के खाने-पहिनने के बराबर भी सामान नहीं मिलता; फिर भोग-विलास की वस्तुओं, सामाजिक और धार्मिक खर्चों, दुःख-सुख के समय के व्यय और अकाल आदि के समय से लिये पूर्व प्रबंध होने की बात ही कैसी ? भारतवासियों की दशा इतनी दयनीय है कि बेचारों को जीवन-रक्षक पदार्थ तक मिलना दुर्लभ हो रहा है।[1]

दूसरी खोज सन् १८८२ में वेअरिंग और वार्वर (Evelyn Baring और David Barbour) ने की। उनके हिसाब से एक भारतीय की औसतन आय २७) रुपये निकली। इसके पश्चात् सन् १८६८-६ ई० में डिग्बी ने सर्वश्री रमेशचंद्र दत्त के एकत्र किये हुए आँकड़ों के आधार पर, औसतन आय केवल १८ रुपये ६ आने ही अनुमान की। पर लार्ड कर्ज़न इस अनुमान से सहमत नहीं हुए और सन् १६०० ई० में उन्होने अपना ३० रुपये प्रति वर्ष का अनुमान बताया। श्री० डिग्बी ने लार्ड कर्ज़न की आलोचना पर विचार किया

---

[1] देखिये दादा भाई नौरोजी *Poverty and Un-British Rule in India* p. 31

और दुबारा अनुमान लगाया। इस बार आपने यह आय केवल १७ रु० ४ आने ही निकाली।

सन् १६१३-१४ में प्रोफ़ेसर वाडिया और जोशी ने इस वार्षिक आय को ४४ रु० ५ आ० ६ पा० प्रति व्यक्ति बताया।[२] १६२१-२२ में प्रोफ़ेसर शाह और खम्बाटा ने इस संख्या को ६७) रु० प्रति वर्ष निर्धारित किया।[३] प्रोफ़ेसर फ़िंडले शिरज़ ने १६११ और १६२२ में इन संख्याओं को १०७) रु० और ११६) रु० तक बढ़ाना आवश्यक समझा। इसके पश्चात् उन्होंने १६२३-२४ ई० से १६३२-३३ ई० तक प्रत्येक वर्ष का अनुमान लगाया। इन वर्षों में औसत आय गिर गई। १६३२-३३ में यह केवल ५८) रु० प्रति वर्ष ही थी।[४]

इन अनुमानों में बहुत फ़र्क है। इसका कारण यह है कि वार्षिक आय आँकने के लिये जिन आँकड़ों की आवश्यकता पड़ती है, वे सब प्राप्य नहीं हैं। अतएव अनुपस्थित आँकड़ों का विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न अंदाज़ लगाया है। ऐसी दशा में वार्षिक आय के अनुमानों में भिन्नता होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त, इस आय के निर्धारित करने में विभिन्न क़ायदों का प्रयोग किया गया है। इसलिये यह कहना कि इन अनुमानों में से कौन सा ठीक है, आसान नहीं। पर इन अंकों से कम के कम यह तो स्पष्ट है कि हमारे देशवासी बहुत निर्धन हैं। शिरज़ के अनुसार हमारी औसतन वार्षिक आय ५८) रु० प्रति वर्ष अर्थात् लगभग ४॥) रु० प्रति मास है। इस औसत को निकालने के

---

२ देखिये Wadia & Joshi, *The Wealth of India*, pp. 79-12

३ Shah & Khambatta, *The Wealth and Taxable Capacity of India*. pp. 199-200

४ देखिये Findlay Shirras, *Poverty and Kindred Economic Problems.*

लिये लखपतियों और करोड़पतियों की भारी आय ग़रीबों की आय के साथ जोड़ दी गई है। यदि हम इन धनी पुरुषों की आय को अलग रक्खें, तो ग़रीबों की आय भी कम हो जायगी। इस आमदनी में आदमी क्या खा सकता है, क्या पहिन सकता है और क्या-ब्याह शादी में व्यय कर सकता है? इतनी कम आय होने पर भी वह जिन्दा कैसे है, यही एक बड़ा अचम्भा है।

अन्य देशवासियों की वार्षिक आय हमारी आय की अपेक्षा कहीं अधिक है, जैसा कि नीचे कोष्टक से स्पष्ट है :—

देश	वर्ष	औसतन वार्षिक आय (पौंड में)*
ब्रिटिश हिंदुस्तान	१९३१	५
इंगलैंड	१९३१	७६
आस्ट्रेलिया	१९२४	९८
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	१९३२	८६
फ्रांस	१९२८	४१
जैकोस्लोवेकिया	१९२५	३५
डैनमार्क	१९२७	५५
जर्मनी	१९२५	३९
इटली	१९२७	२४
मिश्र	१९२८	२१
जापान	१९२५	१४
बल्गेरिया	१९३२	९
रूस	१९२५	१०

*पौंड = १३ रु० १ आना ४ पाई।

ये आँकड़े बताते हैं कि हमारा देश संसार के सभ्य देशों में सबसे निर्धन और दरिद्र है। इसके फलस्वरूप हमारे देशवासियों के रहन-सहन का दर्जा भी बहुत नीचा है[६]। पं० दयाशंकर दुबे के अनुसंधान के अनुसार हमारे देश के दो-तिहाई मनुष्य, जितना क़ैदियों को खाना मिलता, उसका दो तिहाई भी खाना नहीं पाते।[७] रहन-सहन के दर्जे की हीनता हमें प्रति दिन के निरीक्षण द्वारा मालूम होती रहती है। देश के अधिकतर मनुष्य किसान हैं। पहले हम इन्हीं की दशा का विचार करेंगे।

किसान बेचारा सूर्य की प्रखर गर्मी में और जाड़ों के ठिठुरते शीत में, प्रातःकाल से संध्या तक, हाड़ पेलता है और पसीने के स्थान पर, रक्त बहाकर अन्न इत्यादि उत्पन्न करता है। परन्तु उसको खाने तक के लाले पड़े रहते हैं। जहाँ फ़सल काटी गई कि महाजन और ज़मींदार के गुमाश्ते आ धमके। ये लोग ऋण और लगान की अदायगी के लिये जल्दी मचाते हैं। इसलिये किसानों को उन्हीं को या अन्य किसी को सस्ते दामों पर कुल चीज़ें बेचनी पड़ती हैं। ग़रीबी के कारण पिछले लगान जुड़ते रहते हैं और ऋण भी बढ़ता रहता है। यद्यपि किसान अपना पेट काटकर रुपये देते जाते हैं, पर फिर भी उनका पुराना ऋण बढ़ता ही जाता है क्योंकि ब्याज की दर बहुत अधिक होती है। इस प्रकार किसान जमींदार और महाजन के फंदे से कभी भी मुक्त नहीं हो पाता और अपने बाल-बच्चों पर अपनी कम आमदनी भी व्यय नहीं कर सकता। वह वस्तुतः दाने-दाने को तरसता रहता है। गाँवों में हज़ारों मनुष्य हैं जिनको कई दिनों में केवल एक ही बार

---

[६] देखिये अमरनारायण अग्रवाल, "हमारे रहन-सहन का दर्जा", वीणा, अगस्त १९३८।

[७] D. S. Dubey, *A Study of Indian Food Problems*, Indian Journal of Economics, Nos. VIII & IX

भोजन प्राप्त होता है। उनसे अधिक-संख्या में वे मनुष्य हैं जो दिन में एक बार भी भोजन पाकर अपने को भाग्यशाली समझते हैं। जब खाने की यह दशा है, तो रहने का फिर पूछना ही क्या! अगर बहुत हुआ तो केवल घास, फूस और मिट्टी की झोपड़ी भर ही उन्हें रहने को मिलती है। ये झोंपड़ियाँ या कच्चे मकान स्वास्थ्य के नियमों का बहुधा उल्लंघन करते हैं। उनमें खिड़कियाँ अक्सर नदारद रहती हैं जिससे घर में अँधेरा छाया रहता है और कीड़े-मकोड़े बेखटके अपना अड्डा जमाये रहते हैं। फिर, गाय-बैल और आदमी साथ-साथ, एक ही कमरे में, सोते हैं और एक दूसरे की निकाली हुई साँस लेते रहते हैं, जो कि जानवरों और मनुष्यों, दोनों के स्वास्थ्य को हानिकारक है। इस दशा के लिये कुछ तो किसान का स्वयं दोष है क्योंकि उसकी आदतें गंदी होती हैं, लेकिन उसकी निर्धनता का इसमें खास भाग है। साफ़-सुथरे पक्के मकान बिना रुपये के नहीं बन सकते। यदि हम उनके कपड़ों की ओर ध्यान दें तो हमें निर्धनता उनके फटे चिथड़ों से स्पष्ट झाँकती दिखलायी पड़ेगी। बेचारों को ठिठुरते हुए जाड़ों में घास और पत्ते जला-जलाकर, ताप-ताप कर दिन काटने पड़ते हैं।

इस प्रकार किसान बेचारा ग़रीब का ग़रीब बना रहता है। वह सारे संसार को भोजन देता है पर स्वयं भूखों मरता है; सारे देश का तन ढँकने को रुई पैदा करता और कपड़े बुनता है पर स्वयं गर्मी में एक अँगोछा लपेट कर और पसीने के रूप में अपने आँसू बहा कर, और जाड़ों में खोहर ओढ़कर और सूखे पत्तों की अग्नि में अपना शीत और दुख जलाकर, हुक्के के धूम्र में ठंडी आहें भस्म करके, अपने मौत के दिन गिनता रहता है। वह देश के जमींदार और मध्य पुरुषों को सुखी बनाता है, पर स्वयं दुख से त्रसित रहता है। सारे संसार को हँसाता है और स्वयं उनकी हँसी देखकर हँसने का उपक्रम करता है और अपने सूखे से मुँह की फीकी हँसी में अपना त्रास और समाज

का अन्याय विस्मृत कर देता है। वह जीवन नहीं। मृत्यु भी नहीं। यह जीवन मृत्यु का विचित्र सम्मिश्रण है, कुछ निराला उपहास है जिसकी कटुता का अनुभव केवल ग़रीब ही कर सकते हैं।

अब तनिक आधुनिक पूँजीवादी सत्ता के प्रमुख चिह्न, व्यवसायिक शहरों की तरफ़ भी ध्यान दिया जाय और यहाँ के मज़दूरों के रहन-सहन पर भी कुछ विचार किया जाय। विश्व-सत्य एँगिल के नियम के अनुसार, मज़दूरों की मज़दूरी कम होने के कारण उनकी आमदनी का एक बहुत बड़ा भाग खाने में ख़र्च हो जाता है। जैसे-जैसे आमदनी बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे भोजन पर ख़र्च किये जाने वाला आय का भाग कम होता जाता है। उदाहरणार्थ बम्बई में ३०) रु० मासिक अथवा उससे कम आय वाला मज़दूर ६०·५%आमदनी खाने पर व्यय करता है, परन्तु ८०) रु० और ६०) रु० की आय वाला मनुष्य केवल ५२·६%ही। संसार के अन्य सभ्य देशों में, जैसे कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और इंगलैंड में, मज़दूरों की आमदनी का इससे बहुत कम भाग खाने पर खर्च होता है, और इस तरह से अन्य आराम की वस्तुएँ खरीदने के लिए काफ़ी गुंजाइश रहती है जैसा कि हमारे यहाँ नहीं होता। फिर, भारतीय मज़दूरों की आय इतनी कम होती है कि उन्हें पूरे परिमाण में स्वास्थ्यवर्धक और अच्छा भोजन नहीं मिल सकता। पहिनने के कपड़ों में उसे बहुत किफ़ायतशारी करनी पड़ती है। सबसे बड़ी मुसीबत तो उसे रहने के मामले में होती है। वे 'चॉल' में रहते हैं, जहाँ कमरों में आदमी, औरत और बच्चे बोरों की भाँति भर दिये जाते हैं। हिन्दुस्तान में प्रति कमरा ४ मज़दूरों का औसत आता है। लंदन जैसे संसार के सबसे घने शहर में भी २ मज़दूर प्रति कमरा का औसत है। फिर हमारे यहाँ रहने के स्थान इतने गंदे होते हैं कि उनकी गन्दगी पर विश्वास करना भी कठिन प्रतीत होता है। फलस्वरूप बीमारी, शराबखोरी, बदचाल-चलनी, चोरी इत्यादि का प्रचार होता है। और

अंत में हमें अस्पतालों, जेलखानों तथा पागलखानों की आवश्यकता पड़ती है जहाँ समाज के चरित्रहीन और बिगड़े हुए मनुष्यों को समाज की आँखों से दूर छिपा दिया जाता है—उन मनुष्यों को जिनका कि रक्त समाज ने अपने लाभ के लिये चूस डाला है और जिनकी दुर्दशा का उत्तरदायित्व समाज और राजनीति पर है। मजदूरों के सिर पर ऋण का एक भारी बोझ भी लदा रहता है जिसका व्याज उनकी जान निकाल लेता है। ऋण की व्याज उनकी आय का लगभग ३% भाग खा जाती है। इस प्रकार मजदूरों की दशा भी बहुत दयनीय है।

भारतवर्ष में शोषण

आखिर यह निर्धनता और दरिद्रता आज हमें क्यों दिखाई दे रही है? चारों ओर बेकारी ही बेकारी क्यों नज़र पड़ती है? हमारे देशवासी दाने-दाने को क्यों तरस रहे हैं? कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर देगा—"क्योंकि हमारा शोषण हो रहा है।"

इस शोषण के ज़िम्मेदार दो हैं; एक तो अंग्रेजी साम्राज्यवाद और दूसरा भारतीय पूँजीवाद। अंग्रेज़ी राज्य के पूर्व हमारा देश धन-धान्य से पूर्ण था और देशवासी सुख और शांति से जीवन व्यतीत करते और विद्या अध्ययन या ईश्वर-भक्ति में अपना समय व्यतीत करते थे। हमारी आर्थिक उन्नति संसार में विख्यात थी। कृषि की जो तरक्की थी वह तो थी ही, पर इसके अतिरिक्त, हमारी औद्योगिक उन्नति उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी। इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन के शब्दों में, जब कि वर्तमान औद्योगिक प्रणाली का जन्मदाता, पश्चिमी योरप, जंगली और असभ्य था, उस समय भारतवर्ष अपने शासकों के धन और अपने कारीगरों को अद्वितीय कुशलता और कलात्मक क्षमता के लिये संसार भर में विख्यात था। उसके बहुत बाद तक, जब योरुपीय व्यापारियों ने इस देश में प्रवेश किया उस समय तक, यहाँ की औद्योगिक उन्नति संसार

के अन्य किसी देश से कम नहीं थी।[८] कपड़े बनाने का व्यवसाय हमारा प्रारम्भ से ही प्रमुख और श्रेष्ठ व्यवसाय रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक हमारे कारीगरों के सुन्दर वस्त्र, अन्य भोग-विलास की वस्तुओं के साथ-साथ, दुनियाँ के कोने-कोने में विख्यात थे। इन सब में रुई का कपड़ा बनाना सबसे अधिक महत्वशाली था, और ढाका की मलमल सबसे अधिक प्रसिद्ध और श्रेष्ठ मानी जाती थी। २० गज़ लम्बी और एक गज़ चौड़ी मलमल का थान एक अँगूठी में होकर निकाला जा सकता था और उसके बनाने में ६ महीने लगने थे।[९] लोहे का व्यवसाय भी बहुत उन्नत दशा में था। दिल्ली का प्रसिद्ध ढाले हुए लोहे का स्तम्भ एक अचम्भे की चीज़ है। लोगों की समझ में यह नहीं आता कि इतना बड़ा और उत्तम ढलाव उस समय कैसे हो सकता था।[१०] यही बातें अन्य उद्योगों के विषय में भी कही जा सकती हैं। भारतवर्ष के उद्योग-धंधों केवल देश की ही आवश्यकताओं को नहीं वरन् विदेशियों की ज़रूरत को भी पूरा करते थे।[११] समस्त संसार में भारतवर्ष के व्यवसायों की धाक थी। सारा संसार यहीं के मज़दूरों का मुँह देखता था।

भारतवर्ष की यह उन्नति यूरोप वालों को यहाँ खींच लाई। पहले तो उन्होंने यहाँ की बनाई हुई वस्तुओं में व्यापार करना आरम्भ किया क्योंकि उस समय विदेशों में भारतीय माल की बहुत माँग थी और उसमें व्यापार करना बहुत लाभप्रद था। बाहर से ये लोग सोना लाते

---

[८] देखिये *Industrial Commission Report*, p. 1

[९] देखिये Gadgil, *Industrial Evolution of India in Recent Times.*

[१०] देखिये Buchanan, *The Development of Capitalistic Entrprize in India.*

[११] देखिये Ranaede, *Essays on Indian Economics* p.171.

और उसके बदले में यहाँ से चीज़ें ख़रीद कर अन्य देशों में बेचते। क्योंकि इसको विदेशों से कोई ख़ास चीज अधिक तादाद में मँगाने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती थी इसलिये यहाँ से सोना-चाँदी बाहर जाने का कोई मौक़ा ही नहीं आता था।[१२] इस प्रकार भारतवर्ष सोने-चाँदी की खान हो गया। हाकिन्स (Hawkins) ने उस समय लिखा था कि 'भारतवर्ष चाँदी में धनी है क्योंकि समस्त जातियों के व्यापारी यहाँ चाँदी लाते हैं और उसके बदले में चीज़ें ख़रीद ले जाते हैं; और यह चाँदी ज़मीन में गाड़ दी जाती है, और वहाँ से कहीं नहीं जाने पाती।' टैरी (Terry) ने लिखा था कि 'जैसे कि समस्त नदियाँ सागर में मिलती हैं वैसे ही अनेकों चाँदी की नदियाँ भारतवर्ष में गिरती हैं; और वहाँ पर रुक जाती हैं पर धीरे-धीरे यहाँ के आन्तरिक राजनीतिक झगड़ों से लाभ उठाकर इँगलैंड ने अपना आधिपत्य जमाना आरम्भ कर दिया। राजनीतिक आधिपत्य के बल पर आर्थिक आधिपत्य स्थापित करना कोई कठिन कार्य नहीं। बस, उन्होंने इँगलैंड के व्यवसायिक उन्नति की और भारतीय व्यवसायों के कुचलने की नीति अपनाई। श्री रमेशचन्द्र दत्त के कथनानुसार अठारहवीं शताब्दी में भारतवर्ष एक बहुत बड़ा औद्योगिक एवं कृषिक देश था। भारतीय हाथ के करघे एशिया और योरुप के बाज़ारों की माँग पूरी करते थे। यह अभाग्यवश सत्य है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी और बृटिश पार्लियामेंट ने एक स्वार्थपूर्ण व्यापारिक नीति को अपनाया और अँगरेज़ी राज्य के प्रारम्भिक समय में अँगरेज़ी उद्योग-धंधों की उन्नति के लिये भारतीय-उद्योग धंधों को कुचल डाला। अट्ठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशांस में और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशांस में उन्होंने केवल इसी बात का प्रयास किया कि भारतवर्ष अँग्रेज़ी मिलों और कारख़ानों पर निर्भर हो जाय और स्वयं उन मिलों

---

[१२] देखिये Moreland, *India at the Death of Akbar*; D Pant, *Commercial Policy of the Moghuls* इत्यादि।

और कारख़ानों के लिये कच्चा माल पैदा किया करे। इस नीति का उन्होंने अपूर्व दृढ़ता और संहारकारी सफलता के साथ अनुगमन किया। भारतीय कारीगरों को ईस्ट इंडिया कम्पनी के कारख़ानों में काम करने पर वाध्य किया गया। स्थानीय व्यापारिक अफ़सरों (Commercial residents) को जुलाहों पर बहुत आधिपत्य दे दिया गया। इँगलेंड में भारतीय रेशम और रुई के माल पर निषेधक आयात-कर लगाये गये। लेकिन अँग्रेज़ी माल पर भारतवर्ष में कोई आयात कर नहीं लगाया गया।[13] अगर इँगलैंड में भारतीय माल को आयात का निषेध नहीं कर दिया जाता, तो मैनचैस्टर की मिलें आरम्भ में ही रुक जातीं; उनके चलने की नौबत ही न आती। भाप की शक्ति भी उनमें जीवन न डाल पाती। उनको भारतीय उद्योग-धंधों की हत्या करने के बाद ही जन्म दिया जा सका। इंगलैंड ने अपने से श्रेष्ठ प्रतियोगी देश को, न्यायपूर्ण तारीकों से विजय न पा सकने के पश्चात्, राजनीतिक अन्याय के शस्त्र से पराजित कर दिया।

इस अंग्रेज़ी साम्राज्य के शोषण ने धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ा। कुछ समय के बाद हमारे सब व्यवसाय समाप्त हो गये। हमारे देश को कृषि प्रधान बना डाला गया। हाथ से काम करने वाले मज़दूरों से उनका व्यवसाय छीन लिया गया और किसानों से उनकी रोटी। हमारी दौलत सब विदेशी अफ़सरों के वेतन और विदेशी सामान के मूल्य के रूप में खींच ली गई। और आज हम लोग दाने-दाने को तरस रहे हैं और संसार के सामने आँसू बहाते और सब से दरिद्री नज़र आते हैं।

यह तो हुई अँग्रेज़ी पूँजीपतियों की बात। हमारे देश के पूँजीपति और ज़मींदारों ने भी शोषण करने में कुछ क़सर नहीं रक्खी है। ज़मींदारों के ऊपर आजकल जो दोष आरोपित किये जा रहे हैं उनको दोह-

[13] R. C. Dutt, *Economic History of India under Early British Rule.*

राने में कोई लाभ नहीं; उन्हें प्रत्येक व्यक्ति जानता है। कुछ ज़मींदार अवश्य अच्छे और किसानों के शुभेच्छु हैं, पर अधिकांश का काम केवल यह है कि किसानों से सख़्ती के साथ लगान वसूल किया जाय, और उनकी पसीने की गाढ़ी कमाई का शहरों में, मोटर की सैर में, मादक-द्रव्य एवं अन्य भोग-विलास में खर्च कर दिया जाय। मुख्यतः यह बात स्थायी बंदोबस्त वाले ज़िलों में अधिक लागू होती है क्योंकि उन्हें सरकार को स्थायी लगान देना पड़ता है; मगर उन्हें (ग़ैर-मौरूसी) किसानों से मनमाना लगान वसूल करने में कोई रोक-टोक नहीं। श्री राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं, 'मैंने बहुत दिनों तक परिश्रम के साथ भारत में प्रचलित पूँजीवाद और ज़मींदार की प्रथा का अध्ययन किया है। ख़ासकर अपने प्रांत बिहार में मैंने इस सम्बन्ध में गम्भीर निरीक्षण भी किया है। अंत में मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि यदि हम भारतीय जनता के उद्धार के इच्छुक हैं, तो पूँजीवाद की इन प्रथाओं का हमें अंत करना ही होगा। जब तक इनको हम जड़ से उखाड़ कर नहीं फेंक देते, जनता के कष्ट किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकते। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इन प्रथाओं में अब कोई जीवन-शक्ति शेष नहीं रह गई है। अब इन्हें बदलना ही पड़ेगा। उद्योग-धंधों की दृष्टि से अभी देश में यद्यपि कुछ भी नहीं हुआ, लेकिन देश शीघ्र ही अपना उद्योगीकरण करेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि ज़मींदारी प्रथा के साथ ही साथ मिलों से फैल रहे पूँजीवाद का अभी से नाश आरम्भ कर दिया जावे।'

देशी पूँजीपतियों और ज़मींदारों और ब्रिटिश सरकार के शोषण का परिणाम यह हुआ है कि हमारे यहाँ मनुष्यों की आर्थिक दशा की विषमता हद दर्जे तक पहुँच गई है। एक ओर अत्यंत अमीर और दूसरी ओर अत्यंत ग़रीब, कुछ धनवान और अधिकांश निर्धन, हमारे समाज में सर्वत्र दीख पड़ते हैं। शाह और खम्बाटा ने इस विषय में अन्त

शिक्षाप्रद आँकड़े तैयार किये हैं।[१४] उनके अनुसार हिंदुस्तान की राष्ट्रीय आय इस प्रकार बटी हुई है :—

'६,००० मनुष्य, जिनकी कि औसतन वार्षिक आय १,००,०००) रु० प्रति व्यक्ति है, ६०,००,००,०००) रु० कमाते हैं और ३०,००० आदमियों का पालन-पोषण करते हैं।

'२,३०,००० मनुष्य, जिनकी कि औसत वार्षिक आय......रु० (?) प्रति व्यक्ति है ११,५०,००० आदमियों का पालन-पोषण करते हैं।

'२,७०,००० मनुष्य, जिनकी कि औसतन वार्षिक आय ५,०००) रु० प्रति व्यक्ति है १,३५,००,००,०००) रु० कमाते हैं और १३,५०,००० आदमियों का पालन-पोषण करते हैं।

'२५,००,००० मनुष्य, जिनकी कि औसतन वार्षिक आय १,०००) रु० प्रति व्यक्ति है, २,५०,००,००,०००) रु० कमाते हैं और १,२५००,००० आदमियां का पालन-पोषण करते हैं।

'३,५०,००० मनुष्य, जिनकी कि औसतन वार्षिक आय २००) रु० है, ७०,००,००,०००) रु० कमाते हैं और १०,००,००,००० आदमियां का पालन-पोषण करते हैं।

'शेष मनुष्यों की औसतन वार्षिक आय ५०) रु० प्रति व्यक्ति है और वे कुल ८२५ करोड़ रु० कमाते हैं'

इन आँकड़ों से यह सारांश निकलता है कि देश की तिहाई आमदनी देश के क़रीब १% आदमी हड़प कर जाते हैं। यदि उनके आश्रितों को भी ध्यान में रक्खा जाय तो यह आय ५% आदमियों को मिलती है। देश की आय का दूसरा एक-तिहाई (३५%) भाग लग-भग एक-तिहाई आदमी (आश्रितों को गणना करके) पाते हैं। शेष एक-तिहाई आमदनी लगभग ६०% मनुष्यों को मिलती है।

---

[१४] Shah & Khambatta, *Wealth & Taxable Capacity of India*. p. 307.

इसलिये यदि हमें ग़रीबी और दरिद्रता को दूर करना है, यदि हमें बेकारी और बेरोज़गारी के जाल से छूटना है, यदि हमें इन सब दोषों के मूल, शोषण, को उखाड़ कर फेंकना है, तो पूंजीवाद के स्थान पर समाजवाद स्थापित करना पड़ेगा।

क्या हम अकर्मण्य हैं ?

अब हम इस आक्षेप पर विचार करेंगे कि हमारी ग़रीबी हमारे अकर्मण्य होने का परिणाम है। भारतवासियों को क़ाहिल कहना सत्य का अपमान करना है। यदि रात-दिन खेतों में हाड़ पीसने वाला और खून बहाने वाला किसान क़ाहिल कहा जा सकता है, यदि १२ घंटे, १४ घंटे काम करने वाला मज़दूर आलसी है, तो फिर संसार में परिश्रमी कौन है ? दरिद्री आलस को नहीं पहिचानते; उनकी तो बस परिश्रम से ही मित्रता होती है। डाक्टर वोएल्कर ने, जिनको १८८६ ई० में भारतीय कृषि क्रियाओं को वैज्ञानिक दृष्टि से जाँच करने के लिये भेजा गया था, भारतीय कृषकों के श्रम और सावधानी की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। भारतीय मज़दूर भी बहुत परिश्रमी होते हैं। विदेशियों ने टाटा कम्पनी आदि के मज़दूरों के श्रम और कार्यक्षमता के विषय में प्रशंसा-पूर्वक शब्दों में लिखा है। यह तो माना जा सकता है कि भारतीय मज़दूर की कार्यक्षमता हीन है[१५] पर यह उनके आलस का परिणाम नहीं बल्कि उनकी ग़रीबी, उनकी शिक्षा आदि का नतीजा है जिसके लिये समाज और पूँजीपति व जमींदार दोषी है, किसान और मज़दूर नहीं।

भारत में समाजवादी व्यवस्था क़ायम करने के विरुद्ध साधारणतः कहा जाता है कि समाजवाद का जन्म योरोप में हुआ, अतएव यह

---

[१५] देखिये अमर नारायण अग्रवाल, "भारतीय मज़दूरों की कार्यक्षमता" 'सरस्वती', जून १६३८।

हमारे देश की परिस्थिति के अनुकूल नहीं। पर कुछ विद्वानों का मत है कि समाजवाद का प्राचीन भारत में अस्तित्व था। वेदों तक में समाजवाद की व्याख्या पाई जाती है। इस दृष्टि से यह आलोचना मूल से ही ग़लत है। यदि यह मान भी लिया जाय कि समाजवाद का योरोप में जन्म हुआ तो भी इस आलोचना का कोई मूल्य नहीं। इसके जन्म-स्थान का ख्याल करना तो पेड़ गिनने के समान है। जिसे अपनी भूख मिटानी है, उसे तो आम खाने से मतलब। समाजवाद शोषण की दवा है। हमारे यहाँ पूँजीवादी ठेकेदार शोषण कर रहे हैं। अतएव हमें समाजवादी औषधि की ज़रूरत है। यह साधारण तर्क है। योरोप में जन्म लेने से समाजवाद हमारे लिये त्याज्य नहीं हो जाता। एलोपैथी और सर्जरी भी तो योरोप में ही उन्नत हुई हैं। फिर फोड़ा होने के समय ऐलोपैथिक डाक्टर से आपरेशन न कराइये और बीमारी की हालत में उसकी दवा मत पीजिये! अहिंसावाद का भारत में जन्म हुआ है; बस गांधी जी को उसका पाश्चात्य देशों में प्रचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है! हवाई जहाज, मशीनें, रेल आदि का योरोप में आविष्कार हुआ है; बस अपनी सब मशीनें, सब रेलगाड़ियाँ समुद्र में डुबा दीजिये! यह तर्क तो एकदम अज्ञानता और नादानी का है। श्री० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में, सिद्धांत के सम्बंध में उत्पत्ति-स्थान का प्रश्न उठाना ही मूर्खता है। केवल गुण-दोष पर विचार करना चाहिये। समाजवाद वर्तमान जगत की आपत्तियों को शमन का मार्ग बतलाता है। यदि भारत में भी पश्चात्य देशों की भाँति लोग इन आपत्तियों से व्यथित हैं तो उनको पाश्चात्य देशों की भाँति उपायों से भी काम लेना होगा। भारत में भूमि पर व्यक्तियों का स्वत्व है; बड़े-बड़े कल-कारखाने खुलते जा रहे हैं; लाखों मज़दूर काम कर रहे हैं; किसानों के लिये लगान देना कठिन हो रहा है; ऋण का बोझ उनकी कमर तोड़े डाल रहा है। मज़दूरों और मिल मालिकों में आये दिन झगड़ा होता है; आज यहाँ कारख़ाना बन्द किया जाता है, कल वहाँ हड़ताल होती है।

यही बातें पाश्चात्य देशों में भी होती हैं। यदि भारत स्वतंत्र होता तो भारतीय साम्राज्यशाही भी देख पड़ती। फिर जब हमने पश्चिम से इतने रोग मोल लिये हैं तो इनकी औषध से कैसे मुँह मोड़ सकते हैं[१८]। विदेशी और देशी पूँजीवादी शोषण से छुटकारा पाने के लिये भारतवर्ष को देशी और विदेशी पूँजीपतियों से दुहरी लड़ाई लड़नी ही पड़ेगी और समाजवाद का स्थापन करना ही होगा।

[१८] श्री सम्पूर्णानन्द, समाजवाद, पृष्ठ २७८-२७६।

अध्याय ३३

कांग्रेस और समाजवादी दल

इस दरिद्रता से छुटकारा पाने के लिये भारतवर्ष वर्षों से चेष्टायें कर रहा है। पर हमारी लड़ाई का उद्देश्य अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से छुटकारा पाना रहा है। देशी पूँजीवाद की ओर अभी तक, कुछ गत वर्षों को छोड़कर, हमारे राजनीतिक व सामाजिक नेताओं का ध्यान नहीं गया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध लड़ने वाली संस्था इण्डियन नेशनल कांग्रेस है। पहिले तो यह संस्था नरम दलवालों का गिरोह मात्र थी, पर अफ्रीका से लौटने पर गांधीजी ने इसमें एक नवीन जीवन डाली और इसे अहिंसा और सत्याग्रह के अमोघ शस्त्रों से सुसज्जित करके वर्तमान दृढ़ रूप प्रदान किया।[१]

सन् १९३४ ई० में सुभाशचंद्र बोस ने जगत प्रसिद्ध विद्वान्, रोमन रोलाँ, के साथ मुलाक़ात में गत चौदह वर्षों में कांग्रेस के कार्य की इन शब्दों में व्याख्या की थी: इन वर्षों में कांग्रेस ने दो सिद्धांतों पर काम किया; एक तो सत्याग्रह या अहिंसात्मक असहयोग पर और दूसरे देश के कुल वर्गों, पूँजीपति, मज़दूरों, भूमिपतियों और किसानों को मिलाकर कार्य करने पर। आशा तो यह थी कि देश के अंदर यह आंदोलन राज्य-यंत्र के सदस्यों को प्रभावित करेगा और उस यंत्र को निर्जीव बना देगा। देश के बाहर यह आंदोलन बृटिश गवर्मेंट के नैतिक विचारों को जगायेगा। इस प्रकार बिना हिंसा के और बिना एक बूँद रक्त बहाये स्वतंत्रता मिल जायगी। परंतु यह उम्मीद झूठी निकली। देश के अंदर आंदोलन ने एक अहिंसात्मक क्रांति अवश्य

---

[१] देखिये Jawaharlal Nehru, *Autobiography*.

पैदा कर दी, परन्तु उच्च सरकारी कर्मचारियों पर कोई असर न पड़ा और सरकारी शासन साधारण तौर पर चलता रहा। ब्रिटिश जनता भी इस आंदोलन से अप्रभावित ही रही। स्वार्थ में न्याय-संज्ञा डूब गई। आंदोलन को शिथिल होते देख वह १९३४ में स्थगित कर दिया गया।

इस असफलता ने कांग्रेसवादियों के हृदय में हलचल पैदा कर दी। सफलता के नये-नये मार्ग सोचे जाने लगे। कांग्रेस के कुछ सदस्य वैधानिक क्रिया के पक्षपाती और वैधानिक समितियों पर कब्ज़ा करने वाली पुरानी नीति के समर्थक बन गये। महात्मा गांधी और उनके साथी, सत्याग्रह के बन्द होने के बाद, ग्रामों के सामाजिक और आर्थिक उन्नति की तरफ़ मुड़े। लेकिन अधिक तीव्र और गरम विचार वाले एक नई सिद्धान्त-पद्धति और कार्य-पद्धति में विश्वास करने लगे और कांग्रेस समाजवाद दल का जन्म हुआ।[२] यही दल आजकल भारतवर्ष में समाजवाद का प्रचार कर रहा है।

सन् १९३४ के आन्दोलन में जेल जाने वाले कांग्रेसियों के जेल-अध्ययन में 'भारतीय समाजवाद' का बीज पड़ा। जेल-यात्रियों ने पूँजीपति के अत्याचारों का अध्ययन किया; उसके वैज्ञानिक हल, समाजवाद, का ज्ञान प्राप्त किया और उसमें उन्हें सत्य का प्रकाश दीख पड़ा। उन्होंने इस प्रकाश के नीचे जब भारतीय परिस्थिति पर विचार किया तो उन्हें प्रतीत हुआ कि हमें भी समाजवाद की आवश्यकता है। ग़रीबों की लड़ाई स्वाधीनता प्राप्त करने के साथ ही समाप्त नहीं हो जाती। शोषक वर्ग का अंत करने के पश्चात् ही वह समाप्त होती है क्योंकि ग़रीबों की ग़रीबी दूर करने की दवा शोषण की इति श्री करना है, इसलिये कांग्रेस का युद्ध आधा है : उसका उद्देश्य केवल विदेशी शोषक वर्ग को मार भगाना है, स्वदेशी अत्याचारियों को नष्ट करना

---

[२] देखिये Subhash C. Bose. *Through Congress Eyes*, pp. 143-4.

नहीं; केवल राजनीतिक स्वतंत्रता है, विषाक्त सामाजिक प्रणाली से बिदा लेना नहीं। इसलिये हमें युद्ध के इस उपेक्षित पहलू को प्रकाश में लाना आवश्यक है। इसलिये स्वाधीनता की प्राप्ति और तत्पश्चात् समाजवाद का संस्थापन, यह उद्देश्य लेकर कांग्रेस समाजवादी दल अवतीर्ण हुआ।[3] सन् १९३४ के फ़रवरी मास में कांग्रेस समाजवादी दल स्थापित हुआ और आचार्य नरेन्द्रदेव जी के सभापतित्व में पटना में इस दल का प्रथम अधिवेशन हुआ।

साथ ही साथ मज़दूर सभा और किसान सभा के रूप में समाजवाद के बीज भारत-भूमि में पड़ गये हैं और प्रस्फुटित हो रहे हैं। इन सभाओं

---

[3] आचार्य नरेन्द्रदेव जी लिखते हैं : संग्राम में कांग्रेस-जनों के एक दल में आमूल परिवर्तन का विचार उत्पन्न होने में इस दल का जन्म हुआ है। वे लोग संसार के समाजवादी विचारों से प्रभावित हुए। उन्होंने देखा कि पश्चिम के लोकतंत्र पर संकट आया है और पार्लिया-मेंटरी संस्थाएँ चारों ओर से चूर-चूर हो रही हैं। उन्होंने यह भी देखा कि फ़ासिस्टवाद का ख़तरा बढ़ता आ रहा है। पूँजीवाद का क्षय हो रहा है और वह साम्राज्यवाद की अंतिम अवस्था में पहुँच गया है। उन्होंने स्पष्ट देखा कि संसार के सामने स्वीकार करने के लिये दो ही चीज़ें हैं, वह या तो फासिस्टवाद को स्वीकार करे या समाजवाद को; और पूँजीवाद का भविष्य कुछ नहीं है। उन्होंने देखा कि संसार भारी संकट के बीच में पड़ा हुआ है जिसका अंत नहीं दिखाई देता। उन्होंने देखा कि केवल रूस ऐसा है जो समाजवाद की ओर से ठोस रूप से अग्रसर हुआ है और अन्धकार के बीच में गरीबों, दलितों और कुचले हुए लोगों के लिये एक मात्र वही आशा है; आज दिन महान् स्फूर्तिदायक है, क्योंकि वह मानव समाज के नये समय का अग्रदूत है। दूसरे देशों की क्रांतियों के इतिहास पढ़कर वे लोग इस नतीजे पर पहुँचे कि कांग्रेस का कार्यक्रम आमूलतः बदलकर पूर्ण-स्वाधीनता-प्राप्ति बना देना चाहिये।

का अस्तित्व हमें बताता है कि हमारे देश में अकेला स्वाधीनता संग्राम ही नहीं चल रहा है बल्कि शोषण के विरुद्ध एक दूसरा किसान और मज़दूरों का आंदोलन भी चल रहा है, यद्यपि वह स्वाधीनता आंदोलन के समान दृढ़ और शक्तिशाली नहीं। किसान-सभा ज़मींदारों के शोषण का और मज़दूर-सभा पूँजीपतियों के अत्याचारों का विरोध करती है। कांग्रेस इस विरोधी शक्ति की अब तक उपेक्षा करती चली आ रही है। कुछ कांग्रेसवादियों का कथन है कि कांग्रेस के बाहर कोई संगठन नहीं होना चाहिये, क्योंकि इससे कांग्रेस की शक्ति का ह्रास होता है। पर हम इन सभाओं को धिक्कार कर या उनकी उपेक्षा करके ही उन्हें नष्ट नहीं कर सकते। ये दृष्यगत सत्यता हैं; और क्योंकि , सूत्रपात हो चुका है और वे अदृश्य नहीं हो रही हैं, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि देश को उनकी ऐतिहासिक आवश्यकता है। इसलिये हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनके सिद्धान्तों पर विचार करें और देखें कि उनके दृष्टिकोण में कितना औचित्य है और उनका कांग्रेस से क्यों और कैसे सहयोग हो सकता है।[४]

इस सहयोग की तत्कालिक आवश्यकता इसलिये और अधिक है कि ये सभाएँ दिन पर दिन कांग्रेस की नीति की स्पष्ट रूप से तीव्रतर आलोचना कर रही हैं, और उनके पक्षपाती, समाजवादी नेता और लेखक ज़ोरदार भाषा में अपना दृष्टिकोण उपस्थित कर रहे हैं। वे कांग्रेस को नरम दल और मध्य-वर्ग की संस्था कहते हैं।[५] उदाहरणार्थ श्री सम्पूर्णानन्द साफ़-साफ़ लिखते हैं कि कांग्रेस में इस समय रुपये वालों का बड़ा ज़ोर है। वे जब चाहते हैं असहयोग आंदोलन छिड़ जाता है, जब चाहते हैं तब रुक जाता है। उनके कुकर्मों को जानते हुए भी

---

[४]देखिये Subhash C. Bose, *Through Congress Eyes.*

[५]श्री जवाहरलाल नेहरू ने भी "मेरी कहानी" में लिखा है कि कांग्रेस मध्यवर्ग की संस्था है।

कांग्रेस उनकी निन्दा नहीं करती। कांग्रेस ग़रीबों से कहती है कि युद्ध में लड़ो, पर उन्हें यह नहीं बताती कि विजय के पश्चात् उन्हें मिलेगा क्या। आज तो इनको अँग्रेज और हिन्दुस्तानी धनिक मिलकर चूसते हैं; कल अकेले हिन्दुस्तानी मिलकर चूसेंगे। पर, इस स्वराज्य से बेचारे ग़रीबों को क्या सुख मिलेगा? वे उसके लिये क्यों मरें कटें? समाजवादी स्पष्ट रूप से बतलाते हैं कि स्वराज्य में क्या होगा, मिल-मालिकों, पूँजीपतियों, ज़मीदारों और मज़दूर, किसान आदि में क्या सम्बन्ध होगा। वे मज़दूर और किसानों से कहते हैं कि इस आदर्श प्राप्ति के लिये युद्ध करना पड़ेगा; इसलिये संगठित हो जाओ और मज़दूर सभा और किसान सभा बनाओ। संगठन में बहुत बड़ी शक्ति है।

इन सभाओं का कांग्रेस में हृदयंगम होना बहुत आवश्यकीय है। यह सहयोग कांग्रेस, सभाओं और देश के लिये हितकर है। कांग्रेस ने अब तक इन साम्राज्यवाद की विरोधी शक्तियों को अपनाने की कोशिश नहीं की है। मज़दूर और किसान वर्गों को राजनीतिक युद्ध के लिये संगठन किया जा सकता है और प्रभावकारी रूप में उनका उपयोग किया जा सकता है। मज़दूर दल जिसमें क्रांति का उद्गम स्थान है और कृषकवर्ग जिसमें अत्याचारों को क्षय करने की अपूर्व शक्ति है, उनको अपने में मिलाकर कांग्रेस अपना लक्ष्य शीघ्रतर प्राप्त कर सकती है, ऐसा समाजवादियों का मत है। इन सभाओं का भी हित इसी में है कि वे कांग्रेस के आधिपत्य में काम करें। यद्यपि उनका ज़ोर बढ़ता जा रहा है और कई हड़तालों में उनको आशातीत सफलता मिलती है, तथापि राजनीतिक क्षेत्र में संतोषप्रद उन्नति नहीं हुई है। "कांग्रेस को कोई कितना ही क्यों न कोसे देश में आज वही एकमात्र ऐसा संगठन है जिसके सुविस्तृत मंच पर से साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन आप चला सकते हैं। और यही एक मात्र ऐसा केन्द्र है जहाँ से इस संग्राम का संचालन किया जा सकता है। जनवर्ग के संघर्ष के लिये कांग्रेस एक' वित तस्मैदान है। वहाँ जाकर मज़दूर

और किसान राजनीति की शिक्षा प्राप्त कर सकते और अपना प्रभाव तथा प्रतिष्ठा बढ़ा सकते हैं।"[६]

इसलिये देश का कल्याण इसी में है कि इन संस्थाओं का कांग्रेस में समन्वेष कर दिया जाय। सुभाष बोस का हरिपुरा का यह कथन कि एक दिन ऐसा आने वाला है जब कि कांग्रेस को मज़दूर सभाओं और किसान सभाओं से मैत्री करनी पड़ेगी, सच मालूम पड़ता है। इस मैत्री के उपाय और सीमा के विषय में मतभेद अवश्य ही होगा और मैत्री के पूर्व सभाओं के स्वभाव और दृढ़ता की भी परीक्षा करनी पड़ेगी। रूस में अक्टूबर की क्रांति में मज़दूर, किसान और सैनिकों की सभाओं ने अपूर्व कार्य किया। पर इसके विरुद्ध इंगलैंड की ट्रेड यूनियन कांग्रेस, श्रमी दल के जातीय कार्यकारिणी समिति पर बहुत थोड़ा प्रभाव डालती है। भारतवर्ष में हमें सोचना पड़ेगा कि यदि इन सभाओं को कांग्रेस में मिला दिया जाय तो उनका कांग्रेस पर क्या प्रभाव पड़ेगा और यह हो सकता है कि यदि मज़दूर और किसानों की आर्थिक शिकायतों पर काफ़ी ज़ोर दिया न गया तो शायद वे कांग्रेस में सजीव भाग न लें। जो कुछ भी हो, इस मैत्री के होने के विषय में दो मत नहीं हो सकते।[७]

कांग्रेस के कुछ विद्वानों ने इस सत्यता को महसूस तो अवश्य किया है, पर इसे कोई क्रियात्मक रूप नहीं दिया गया। कांग्रेस का यह निराशाजनक रुख देखकर कांग्रेस समाजवादी दल को इस दिशा में कार्य करने के लिये स्थापन किया गया है। समाजवादी दल इन सभाओं को सुव्यवस्थित बनाकर उनकी शक्ति केंद्रित करना चाहते हैं जिससे कि वह स्वतंत्रता और शोषण की इति श्री के उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें।

---

[६] आचार्य नरेन्द्रदेव "साम्यवाद का बिगुल," पृष्ठ ३१

[७] Subhash C. Bose, *Through Congress Eyes*, pp. 42-43

कांग्रेस समाजवादी दल का निम्नलिखित कार्यक्रम है—

(१) सब अधिकार उत्पादक-वर्ग के हाथ में सौंप देना।

(२) देश के आर्थिक जीवन का सरकार के द्वारा संचालन होना।

(३) मुख्य-मुख्य उद्योग व्यवसाओं का और अंत में उद्योग, वितरण और विनिमय के साधनों का राष्ट्रीकरण कर देना।

(४) विदेशी व्यापार पर राष्ट्र का एकाधिकार।

(५) ज़मींदारों और देशी राजाओं को बिना क्षति-पूर्ति के अधिकार-च्युत कर देना।

(६) किसानों और मज़दूरों के ऋण को अस्वीकृत कर देना; और

(७) कार्य के मुताबिक मताधिकार देना।

कांग्रेस समाजवादी दल का एक बड़ा कल्याणकर लक्षण यह है कि यह कांग्रेस के अतिरिक्त या बाहर की संस्था नहीं, प्रत्युत यह कांग्रेस की ही एक टुकड़ी है। बिना कांग्रेस का सदस्य हुए कोई व्यक्ति कांग्रेस समाजवादी दल का सदस्य नहीं हो सकता। इस दल के सदस्यों ने गत वर्षों में कांग्रेस का साथ दिया है और कांग्रेस की आज्ञा को मानकर जेल-यात्राएँ की हैं। वे लोग अब भी अपने को कांग्रेस का वैसा ही भक्त बताते हैं और उसकी मर्यादा और गौरव की रक्षा करने के लिये तैयार हैं। यह दल केवल कांग्रेस का वाम-पक्ष (left wing) बन कर काम करना चाहता है।[८]

अभी हाल में कई अवसर ऐसे उपस्थित हुए हैं जब कि कांग्रेस और कांग्रेस समाजवादी दल में भेद-भाव बहुत तीक्ष्ण हो गया, यहाँ तक कि कांग्रेस सभापति ने समाजवादियों को कांग्रेस से निकाल देने तक की धमकी दी। इस पर समाजवादियों ने अपने दल में से 'कांग्रेस' शब्द निकाल दिया और अब उसका नाम केवल समाजवादी दल रह गया है। मत-भेद के कारण श्री जयप्रकाश नारायण ने कांग्रेस की

---

[८] देखिये S. C. Bose, *Through Congress Eyes*, pp. 43-44.

कार्यकारिणी समिति से पद-त्याग भी कर दिया। किन्तु उसके बाद समाजवादी दल ने फिर कांग्रेस से मैत्री का रुख दिखाया। विशेषतया बटवारे के प्रश्न पर विरोधी ग्रुप में सम्मिलित होने पर भी जब समाजवादी दल इस प्रश्न पर मत देने में तटस्थ रहा, तब कांग्रेस और समाजवादी दल के अंतर्भेद का लोप-सा होता जान पड़ा। इसके पश्चात् कांग्रेस ने कुछ समाजवादी नेताओं को अपनी कार्य-कारिणी समिति में फिर से ले लेने का प्रस्ताव किया। अतः आजकल कांग्रेस और समाजवादी दल, व्यावहारिक राजनीति के मामलों में, एक से ही हो गये हैं। इससे समाजवादियों के प्रति जनता की सहानुभूति कम हो गई है। कांग्रेस मंत्रिमंडल स्थापित करने के पश्चात् जनता से प्रति दिन दूर हटती जा रही है। जनता कांग्रेस की नीति की पोषक नहीं रही। कांग्रेसवादी जनता का उसी प्रकार शोषण कर रहे हैं जैसा कि ब्रिटिश सरकार के समय में था। घूसखोरी, ब्लैक मार्केट, आफीसरी आदि का महत्व पहले से भी अधिक बढ़ गया है। जनता का लाभ छोड़ कर कांग्रेस वाले अपने व्यक्तिगत लाभ की सिद्धि में संलग्न हो गये हैं। अतः जनता का उनसे विमुख होना स्वाभाविक है। जनता को आशा थी कि समाजवादी इन दोषों के विरुद्ध आवाज़ उठायेंगे और जनता को संगठित करके सुशासन स्थापित करने का प्रयास करेंगे। पर समाजवादियों ने स्वयं को कांग्रेस के समर्पित कर के जनता की सहानुभूति खो दी है। इसका आगे चल कर क्या प्रभाव होगा, यह भविष्य ही बता सकता है।

समाजवाद का ज़ोर अब हमारे देश में बढ़ रहा है। पंडित जवाहर लाल नेहरू, जो समाजवाद में अटूट विश्वास रखते हैं, तीन बार कांग्रेस के सभापति चुने जा चुके हैं और अब राष्ट्र के प्रधान मंत्री हैं। उन्होंने प्रथम बार सभापति के आसन से देश को समाजवाद का जो संदेश सुनाया, उसने शोषक वर्ग के हृदय में भय उत्पन्न कर दिया, शोषित वर्ग में उत्साह भर दिया, कांग्रेस में खलबली डाल दी

और देश को चौकन्ना बना दिया। हरिपुरा कांग्रेस में प्रसिद्ध समाजवादी श्री सुभाषचन्द्र बोस ने ही सभापति का आसन सुशोभित किया। त्रिपुरी कांग्रेस में उन्होंने गांधी जी के भक्त डा० पट्टाभि सीतारमैया, को पराजित किया और फिर सभापति बने। गांधी जी ने डाक्टर साहब की पराजय को अपनी पराजय समझा। गांधीवादियों और समाजवादियों में मतभेद पड़ा। सुभाषचन्द्र ने पद से त्याग-पत्र दे दिया और 'अग्रगामी संघ' को स्थापित किया जिसका उद्देश्य वाम-पक्ष की समस्त प्रगतिशील शक्तियों को संगठित करना है। परन्तु अधिकांश में समाजवादी 'अग्रगामी संघ' को आदर की दृष्टि से नहीं देखते। इधर तो यह संघ और निष्क्रिय हो चला है।

कम्यूनिस्ट पार्टी आव इंडिया से समाजवाद की स्थापना की आशा करना व्यर्थ समझा जाता है। इस पार्टी की जनता परम विरोधी है। अपनी नीति को इन्होंने रूस की नीति से सम्बद्ध करके भारी भूल की; क्योंकि भारतवर्ष और रूस के हितों में संघर्ष होने के समय इस पार्टी ने रूस के हित को ही अपने सामने रक्खा। इसके अतिरिक्त, इस पार्टी ने जनता को समाजवाद का पाठ पढ़ाने के स्थान पर, उचित और अनुचित उपायों द्वारा अपने को राजनीतिक क्षेत्र में ऊँचा करने का प्रयास किया है। अतः इस पार्टी से समाजवाद की स्थापना की कम आशा है।

इसका अर्थ यह नहीं कि हमारे देश में समाजवाद का भविष्य उज्वल नहीं। वर्तमान काल उथल-पुथल का है। स्वतंत्रता हमें एक भयानक रूप में मिल रही है और सारा आर्थिक संगठन अस्त-व्यस्त हो रहा है। स्थान-स्थान पर अशांति और असंगठन के चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जब कुछ काल बाद स्वतत्र भारत में शांति स्थापित हो जायगी, तब समाजवादी कार्यक्रम व्यवहार में अवश्य आवेगा। ऐसा हमारा विश्वास है।

अध्याय ३४

गांधीवाद और समाजवाद

जब कभी कोई विवादग्रस्त विषय हमारे सम्मुख आता है, तो हमारी इच्छा यह जानने की होती है कि उस विषय पर हमारे समय के महापुरुषों के क्या विचार हैं। अतएव भारतवर्ष में समाजवाद के स्थापन की चर्चा करते समय हम यह जानने के लिये उत्कंठित हो जाते हैं कि महात्मा गांधी समाजवाद के विषय में क्या सोचते हैं। लोगों में प्रचलित धारणा है कि गांधी जी समाजवाद के विरुद्ध हैं गांधी जी के विचारों को 'गांधीवाद' कहकर पुकारा जाता है और उसे समाजवाद की विरोधात्मक विचार प्रणाली के रूप में देखा जाता है। इस विषय को अच्छी तरह से समझने के लिये पहले यह जानना आवश्यकीय है कि गांधीवाद है क्या।

'गांधीवाद' के नाम से गांधी जी बहुत घबड़ाते हैं। वे कहते हैं कि 'गांधीवाद' ऐसी कोई चीज़ नहीं है। "आप मेरे नाम से इस तरह चिपटे रहेंगे तो दुनियाँ आप पर हँसेगी। लेकिन एक दूसरा ख़तरा भी है, वह बड़ा भयंकर है—वह यह कि आपका संघ कहीं एक सम्प्रदाय न बन जाय। मेरे जिन्दा रहते हुए भी अब ऐसा हो सकता है तो मेरे मरने के बाद क्या होगा? जब कोई मुश्किलाहट सामने आयगी, तो आप कहेंगे—देखो उसने 'यंग इंडिया' और 'हरिजन' में क्या-क्या कहा है। आप अपनी बहस में कसम खा-खाकर मेरे लेखों का प्रमाण देंगे। अच्छा तो यह हो कि मेरी हड्डियों के साथ ही मेरे सारे लेख जला दिये जाँय।"

गांधीवाद के विद्यार्थियों के लिये गांधी जी का २६ मार्च, १६३६ को 'हरिजनबंधु' वाला लेख एक ऐतिहासिक चिह्न हो गया है। उसमें

गांधी जी लिखते हैं कि "गांधीवाद नाम की कोई चीज़ है ही नहीं, और न मैं अपने पीछे कोई सम्प्रदाय छोड़ जाना चाहता हूं। मैं किसी नये सिद्धांत या बाद का जन्मदाता होने का दावा नहीं करना चाहता। मैंने तो केवल जो शाश्वत सत्य है, उसको अपने नित्य के जीवन और प्रति-दिन के प्रश्नों पर अपने ढंग से प्रयुक्त करने की कोशिश मात्र की है। जो राय मैंने क़ायम की है और जिन निर्णयों पर मैं पहुँचा हूं वे भी अंतिम या अकाट्य नहीं हैं। मैं कल ही इन्हें बदल सकता हूं। मुझे संसार को कोई नई चीज़ नहीं सिखानी। सत्य और अहिंसा उतने ही प्राचीन हैं जितने पुराने पर्वत। मैंने तो केवल यथाशक्य बड़े से बड़े पैमाने पर दोनों—सत्य और अहिंसा के सम्बन्ध में प्रयोग किये हैं। ऐसा करते हुए कई बार मैंने ग़लती भी की है, और उन ग़लतियों से मैंने सीखा भी है। मतलब, जीवन और उसके प्रश्नों द्वारा मुझे सत्य और अहिंसा के आचारणगत प्रयोग करने का अवसर मिल गया है। स्वभाव से मैं सत्यवादी तो था, किंतु अहिंसक न था। सच पूछिये तो सत्य का अनुसरण करने में ही मुझे अहिंसा मिली है।

"ऊपर जो कुछ मैंने कहा, उसमें मेरा सारा तत्वज्ञान, यदि मेरे विचारों को इतना बड़ा नाम दिया जा सकता हो, तो समा जाता है! आप उसे 'गांधीवाद' न कहिये; क्योंकि उसमें 'वाद' ऐसी कोई बात नहीं है।"

गांधी जी के भक्त भी गाँधीवाद से कुछ मतलब नहीं समझते। श्री जैनेन्द्रकुमार की राय में 'गाँधीवाद' शब्द मिथ्या है। जहाँ वाद है वहाँ विवाद अवश्य है। वाद का लक्षण है कि प्रतिवाद को विवाद द्वारा खंडित करे और इस तरह अपने को प्रचलित करे। गांधी के जीवन में विवाद एकदम नहीं है। इसलिये गांधी को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नहीं होगा। आचार्य कृपलानी कहते हैं कि गांधीवाद जैसी कोई चीज़ अभी अस्तित्व में नहीं आई है। उन्हें

'गांधीवाद' के स्थान पर 'सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के बारे में गांधी जी का दृष्टि-कोण' या संक्षेप में कहें तो 'गांधी जी का मार्ग' अधिक जँचते हैं।

इन महाशयों की राय चाहे जो कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि 'गांधीवाद' शब्द अब एक स्थायी शब्द हो गया है। इस शब्द का उच्चारण करते समय हमारे सामने गांधी जी की विचार-प्रणाली का चित्र सा खिंच जाता है। जब मैं गांधीवाद पर पढ़ता, सोचता या लिखता हूं तो मेरा मतलब गांधी जी के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारों और उनके मूलरूपी दार्शनिक सिद्धांतों से होता है। और मैं कल्पना करता हूँ कि अन्य महानुभावों के विषय में भी शायद यही कहा जा सकता है। लेकिन फिर भी मैं तो यही कहूंगा कि यदि इसे आप गांधीवाद कहना चाहते हों, तो कहिये; यदि कहने में आपको हिचकिचाहट मालूम पड़े, तो मत कहिये। यह तो अपनी-अपनी राय है; अपनी-अपनी पसंद है। कोरे वाक्-युद्ध से कुछ हासिल नहीं होता। इससे हमें कुछ मतलब भी नहीं। यदि हम वास्तविकता (Substance) को समझते हैं, तो उसका कुछ भी नाम रख दें—'गांधीवाद' या 'गांधीमार्ग'। जब तक लेखक अपनी पसंद के शब्द को अपने निश्चित अर्थ में प्रयोग करता है, तब तक उसके विरुद्ध उँगली उठाने की कोई गुंजाइश नहीं। वैज्ञानिक अध्ययन का यह तात्विक सिद्धांत है।

तो पहिले हम गांधी जी की विचार प्रणाली का संक्षिप्त रेखा-चित्र खींच कर यह निश्चित कर लें कि गांधीवाद से हम क्या समझते हैं या हमारा क्या तात्पर्य है। गांधीवाद का उद्देश्य मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति है। इस उन्नति को पाने के लिये गांधी जी ने सत्य, अहिंसा, ईश्वर-विश्वास आदि साधन बताये हैं। मनुष्य इन गुणों को तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह 'सादा जीवन, उच्च विचार' के सिद्धांत पर चले। यह तभी सम्भव हो सकता है जब बड़ी-बड़ी मशीनें त्याग दी

जाँय और आत्म-निर्भर ग्राम स्थापित किये जाँय। चरखे का प्रचार, खद्दर का उपयोग आदि गांधीवाद के आवश्यकीय अंग हैं। एक शब्द में, गांधी जी आधुनिक सभ्यता की घड़ी की सुई कुछ शताब्दियाँ पूर्व हटाना चाहते हैं। इस आदर्श जगत के स्थापित करने के लिये गांधी जी ने जो रीति बताई है वह देखने में तो सीधी-सी है, पर वास्तव में है कठिन। यह और कुछ नहीं, केवल अहिंसात्मक प्रयोगों द्वारा, सद्‌विचारों का प्रचार करके, मनुष्यों में शांति और मेल-जोल बढ़ाकर अपने उद्देश्य को पूरा करना है। गांधीवाद के नकारात्मक पहलू भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। गांधीवाद श्रेणी युद्ध में विश्वास नहीं करता; और न इतिहास की आर्थिक व्याख्या, अन्य शब्दों में आर्थिक परिस्थिति की निर्धारण-शक्ति, में ही इसको यक़ीन है। यह हिंसा के विरुद्ध और वर्गोदय के ख़िलाफ़ है। इस विवेचना के अनुसार हम गांधीवाद का निम्नलिखित सिद्धांतों में विश्लेषण कर सकते हैं—

(१) गांधीवाद की दार्शनिक नींव—सत्य, अहिंसा, ईश्वर-विश्वास आदि।

(२) 'सादा जीवन, उच्च विचार' के सिद्धान्त में अटल विश्वास।

(३) आत्म निर्भर ग्रामों का स्थापन, बड़ी बड़ी मशीनों का बहिष्कार, चर्खा आदि का प्रचार।

(४) अहिंसा और सत्याग्रह के साधनों के अतिरिक्त सब रीतियों का बहिष्कार

(५) आर्थिक परिस्थिति की निर्धारण-शक्ति में अविश्वास।

(६) श्रेणी-युद्ध में अविश्वास।

(७) सर्वोदय में अटल विश्वास।

हम इन्हीं शीर्षकों के नीचे गांधीवाद की व्याख्या करेंगे, और साथ ही साथ उससे समाजवाद[1] की भिन्नता भी बताते जायँगे।

---

[1] यहाँ पर 'समाजवाद' शब्द मुख्यतः उदार या लिबरल समाज-

गांधीवाद की दार्शनिक नींव

गांधी जी का एक मात्र अंतिम उद्देश्य है आध्यात्मिक उन्नति के उच्चतम सोपान तक पहुँचना, ईश्वर को प्राप्त करना और मोक्षगामी होना। वे लिखते हैं कि जो बात मुझे करनी है, आज बीस साल से जिसके लिये मैं उद्योग कर रहा हूँ, वह तो है आत्म-दर्शन, ईश्वर का साक्षात् मोक्ष। मेरे जीवन की प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टि से होती है। मैं जो कुछ लिखता हूँ, वह भी सब इसी उद्देश्य मे और राजनीतिक क्षेत्र में मैं जो उतरा, सो भी इसी बात को सामने रख कर।

इस कथन से महात्मा जी की ईश्वर में अटल विश्वास होना स्पष्ट है। वास्तव में ईश्वर में यक़ीन करना गांधीवाद की अचल शिक्षा है। पर ईश्वर-प्राप्ति के बहुत से मार्गों में से गांधी जी ऐसे किस मार्ग के अवलम्बी हैं कि जो उन्हें राजनीतिक क्षेत्र में खींच लाया है? गांधी जी अद्वैतवादी हैं। उनके अनुसार ईश्वर सारे संसार में व्याप्त है। मनुष्य ईश्वर का अंश-मात्र है। मनुष्य, संसार और ईश्वर एक सूत्र में बँधे हुए हैं और अभिन्न हैं। इसलिये ईश्वर-प्राप्ति के लिये हमें जंगल और पहाड़ों की कंदराओं में तपस्या करने की आवश्यकता नहीं। हमें ईश्वर के अंश, जीव, के दुखों और कष्टों को दूर करना चाहिये; सेवा और प्रेम से उनकी सहायता करनी चाहिये। यदि कोई असहाय व्यक्ति रोगी है, तो हमें उसकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। यदि कोई अत्याचारी अपने आधीन व्यक्ति पर अत्याचार कर रहा है, तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसे प्रेमपूर्वक समझायें और उसके हृदय में दया के अंकुर उगायें जिससे वह ठीक रास्ते पर आ जाय। जीवों की तकलीफ़ों को दूर किये बिना मोक्ष प्राप्ति कोई माने नहीं रखती। सब जीवों का कल्याण करना ही धर्म है, सबों को दुख से

वाद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भारतीय समाजवाद ने अधिकांश में यही रूप लिया है।

मुक्त करना ही मुक्ति है। सेवा, प्रेम आदि ही ईश्वर-प्राप्ति के अमोघ साधन हैं। इस सिद्धान्त ने गांधी जी को अफ्रीका में सत्याग्रह कराने भेजा और आज भारतवर्ष की स्वाधीनता के युद्ध में संलग्न कर रखा है।

एकता गांधी जी की विचार-प्रणाली के कण-कण में व्याप्त तत्व है। "गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतरी संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर क़ायम है। जो चिन्मयतत्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खंड नहीं हैं। वह सहज और स्वभाव-रूप है। उसमें प्रतिभा की आभा नहीं है, क्योंकि प्रतिभा द्वंद्वज होती है। उस निर्गुण अद्वैत तत्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मय-कारी वैचित्र्य दिन की धूप जैसा धुला और साफ़ हो जायगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुंजी उसकी एक और एक ही है। वहाँ दोपन नहीं हैं वहाँ सब दो एक है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। समूचे और बहुतेरे मतवादों के बीच में रहकर सबको मानकर किन्तु किसी में न फँस कर गांधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य, इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है, न सत्य की ही कोई और परिभाषा है[२]।"

वास्तव में सत्य ऐक्य का दूसरा नाम है। यह रूप दुनिया के कण-कण में समाया हुआ है। प्रत्येक जीव, प्रत्येक मनुष्य, एक ही सत्य का अंश है। सब मनुष्य एक दूसरे से घनिष्ठ आत्मीयता के सूत्र में बँधे हुये हैं। इसलिये आस्तिक कहता है कि "जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मैं उसका, किसी का, नाश नहीं चाह सकता। किसी की बुराई नहीं चाह सकता। किसी को झूठा नहीं कह सकता। घमण्ड नहीं कर सकता।" वह द्वेषभाव, लड़ाई-झगड़े आदि का

---

[२] जैनेन्द्रकुमार. "गान्धीवाद: समाजवाद", पृष्ठ १२१।

लोप करके सहयोग, सहिष्णुता और प्रेम का सहारा लेता है। अन्य शब्दों में सत्य के पुजारी को अहिंसा नामक तत्व प्राप्त होता है।

श्री हरिभाऊ उपाध्याय के शब्दों में, सत्य और अहिंसा गांधीवाद के ध्रुव सत्य हैं। यही गांधीवाद के पथ-दर्शक सिद्धांत हैं जिनको मिलाकर गांधी जी ने एक सुन्दर और तेजस्वी नाम दे दिया है सत्याग्रह। वैसे यह नाम साधन या वृत्तिसूचक मालूम होता है परंतु इसका अर्थ है—सत्य की शोध के लिये सत्य का आग्रह। अहिंसा इसमें, दूध में सफ़ेदी की तरह, मिली या छिपी हुई है; क्योंकि सब अपने-अपने सत्य का आग्रह तभी अच्छी तरह रख सकते हैं जब एक दूसरे के प्रति सहनशील बनकर रहें और इसी का नाम अहिंसा है।

इस प्रसंग के छोड़ने के पहले, गांधी जी के ईश्वर-विश्वास पर दो शब्द और लिखना आवश्यकीय है। गांधी जी ईश्वर में इतना विश्वास करते हैं और ईश्वर का उन्हें ऐसा साक्षात्कार हो गया है कि उन्हें कार्य करने की दैवी प्रेरणाएँ हुआ करती हैं और वे उन्हीं प्रेरणाओं के अनुसार कार्य करते हैं। बाद को वे दूसरों को संतुष्ट करने के लिये कारण ढूँढ़ने की चेष्टा करते हैं[3] उनकी बातों में कहीं-कहीं बहुत विरोधाभास दीख पड़ता है। इस विरोधाभास की ग्रंथि को उनके बड़े-बड़े भक्त तक नहीं सुलझा पाते। जैनेन्द्र कुमार, जिनके लेख में से मैं अभी उद्धृत कर चुका हूँ और कुछ और उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता, लिखते हैं कि 'यह घाघपन, यह कार्य-कौशल, अनायास ही यदि उन्हें सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने अपने जीवन के समूचे ज़ोर से एक ओर, अकेले लक्ष्य को लिया है। और वह लक्ष्य क्योंकि एकदम निर्गुण, निराकार, अज्ञेय और अनंत है, इससे वह किसी को बाँध नहीं सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति

[3] देखिये जवाहरलाल नेहरू, "मेरी कहानी"

उनका समर्पण सर्वाङ्गीण है। इसलिये सहज भाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्जवल और ग्रंथहीन हो गया है। उसमें दुविधा ही नहीं है। दुनिया में चलना भी मानो उनके लिये अध्यात्म का ध्यान है। नर की सेवा नारायण की पूजा है। कर्म सुकौशल ही योग है। ईश्वर और संसार में विरोध, यहाँ तक कि द्वित्व, ही नहीं रह गया है। सृष्टि में सृष्टामय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यों कहिये कि सृष्टि में सृष्टा, नर में नारायण, पदार्थ मात्र में सत्य देखने की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति, उनकी समाजनीति ने वह रुख लिया जो कि लिया। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल कर्म में सत्यज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमासान में प्रेम और शांति के आनंद को अक्षुण्ण रखना बताया गया।"

अब हम यह देखें कि समाजवाद का इन विषयों पर क्या मत है। क्या समाजवाद भी ईश्वर में यक़ीन करता है और ईश्वरीय प्रेरणा के अनुसार कार्य करता है? क्या यह भी सत्य और अहिंसा को आदर की दृष्टि से देखता है? क्या यह भी आध्यात्मिक उन्नति और आध्यात्मिक आदर्श को प्राप्त करने का उद्योग करता है? इस पुस्तक में इन विषयों पर यत्र-तत्र प्रकाश डाला ही जा चुका है। पर लोगों में ग़लतफ़हमी फैली हुई है कि समाजवाद धर्म, ईश्वरवाद और आध्यात्मिक उन्नति का तिरस्कार करता है। इसलिये हम इस विषय का यहाँ अधिक स्पष्ट विवेचन कर देना ज़रूरी समझते हैं।

इन भ्रांतियो को चलाने वाले मनुष्य शायद रूस की दशा[४] को देखकर यह कहने लगने हैं कि समाजवाद धर्म और ईश्वर की सत्ता उठाना चाहती है। रूस में सचमुच धर्म की धाँधलेबाज़ी समाप्त कर

---

[४] देखिये Maurice Hindus, *Humanity Uprooted.*

दी गई है। इसका कारण यह है कि ज़ारशाही के समय धार्मिक पुजारी और धार्मिक संस्थाएँ ज़ार से रुपया पाती थीं। इसलिये ये ज़ार की पक्षपाती थीं और उनके अनुकूल दार्शनिक सिद्धांतों का प्रचार करती रहती थीं। इस प्रकार वे अत्याचार की साधन या अत्याचार पर पर्दा डालने वाली बन गई थीं। इसलिये इन विषैली संस्थाओं का अंत करना ज़रूरी समझा गया। रूस में ईश्वर पर से भी विश्वास उठ गया है। इसके दो कारण मालूम पड़ते हैं। एक तो यह कि ईश्वर को दृश्यगत संस्था के ख़ात्मे के साथ-साथ ईश्वर में विश्वास होना घाघपन समझा जाने लगा। दूसरे, आर्थिक परिस्थितियों की निर्धारण शक्ति में अटूट विश्वास ने भी ईश्वरवाद की जड़ खोखली कर दी। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि रूस में दया, वात्सल्य, सत्य, अस्तेय, त्याग आदि गुणों को वहिष्कार कर दिया गया है। रूसवासी इन गुणों पर बहुत ज़ोर देते हैं और वे इनकी महत्ता को अच्छी तरह समझते हैं। वास्तव में व्यावहारिक आध्यात्मिक नियमों की सत्ता वहाँ पूँजीवादी देशों की अपेक्षा अधिक दृढ़ है। और धर्म की यही असलियत (Substance) भी है। यदि धर्म में से आध्यात्मिक पहलू निकाल दिया जाय, तो यह निष्प्राण हो जायगा। इसलिए रूस में धर्म कही जाने वाली वस्तु की असलियत में विश्वास किया जाता है पर उसे 'धर्म' नहीं कहा जाता। उन्होंने धर्म के "ठेकेदारों" की इति श्री कर दी है, ईश्वर में अविश्वास भी अवश्य प्रकट किया है, पर धर्म की वास्तविकता वहाँ अब भी मौजूद है।

यह तो ख़ैर रूस की बात हुई। साधारण तौर पर, ईश्वर-विश्वास और धर्म का समाजवाद से कोई स्पष्ट संबंध नहीं। आप ईश्वर में विश्वास कीजिये या न कीजिये, आप धर्म को मानिये न मानिये, समाजवाद का इससे क्या बनता बिगड़ता है? पर यदि आप ईश्वरवाद के आवरण में भाग्यवाद का प्रचार करके आर्थिक यंत्र को शिथिल बनायेंगे या प्रगतिशील शक्तियों को रोकेंगे और धर्म के परदे

में पूँजीवाद का प्रचार करेंगे, तो समाजवाद अवश्य आपकी हरकतों को रोकेगा। यह असल परिस्थिति है। इसलिये यदि रूस में समाजवाद ने एक प्रकार की बातें ग्रहण की हैं, तो यह ज़रूरी नहीं कि हमारे यहाँ भी ऐसा ही अवश्य किया जाय।

अब मैं एक और तात्विक भ्रांति पर आता हूँ। असमाजवादी कहते हैं कि समाजवाद की भौतिकवाद से और गांधीवाद की आध्यात्मवाद से पहिचान करनी चाहिये। पर ऐसा कहना समाजवाद से अनिभिज्ञता प्रकट करना है। समाजवाद का भी अंतिम उद्देश्य मनुष्यों को आध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा पर ले जाना है। पर दोनों वादों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। गाँधीवाद का विश्वास है कि सत्य और अहिंसा के सहारे, आत्म-निर्भर गाँवों को स्थापित करके, बड़ी मशीनों इत्यादि की इतिश्री करके, शोषकों के हृदयों में दया और दान का भाव भर भर के, दरिद्रता को दूर करना चाहिये। इनमें से प्रत्येक उपाय आध्यात्मवाद की वृद्धि करता है। इस प्रकार गांधीवाद का मार्ग मुख्यतः आध्यात्मिक है। पर समाजवादियों का विश्वास है कि मनुष्य और उसके विचार समय की आर्थिक अवस्था में पलते हैं; और आर्थिक अवस्था में परिवर्तन करके ही आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। "सांसारिक कल्याण अर्थात् न्यूनतम परिश्रम से सब आवश्यकताओं के पूरा हो सकने की अवस्था ही से मानव को बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास का अवसर मिल सकता है। दूसरे शब्दों में सांस्कृतिक सिद्धियों के लिये किसी निश्चित न्यूनतम अवकाश की आवश्यकता है। समाजवाद तो मानव के लिये वे अवस्थाएँ पैदा करना चाहता है जिनमें उसको दिन-रात अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न जुटा रहना पड़े; जिनमें उच्चतर बातों के लिए भी सुविधा और समय मिल सके। मानव ने ऐसे यंत्र बनाए हैं जिसकी सहायता से यह उद्देश्य पूरा किया जा सकता है।" वर्तमान

काल में अंधकार छाया हुआ है। इसमें से समाज को समाजवाद के प्रकाश में लाइये। "शक्ति के अनुसार कार्य, और कार्य के अनुसार पुरष्कार" के नियम के अनुसार कार्य कीजिये। यह मनुष्यों की आध्यात्मिक उन्नति का प्रथम सोपान है। जब आप इस आदर्श को पूरा कर लें, तब अपना वितरण-सिद्धांत बदल दीजिये और "शक्ति के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार पुरष्कार" वाला नुस्खा काम में लाइये। इसे समष्टिवाद कहते हैं, जो आध्यात्मिक उन्नति का दूसरा सोपान होगा। इसके पश्चात् समाज का आध्यात्मिक उन्नति धीरे-धीरे इतनी बढ़ जायगी, कि वह अपने आप ही सम-वितरण के सिद्धांत का अनुकरण करने लगेगा। सब मनुष्य स्वयं ही अच्छे और न्यायपूर्ण आचरण करने लगेंगे और उन पर क़ानून या शासन की कोई ज़रूरत नहीं रहेगी। सरकार "मुरझाकर झड़ जायगी"। यह अराजकतावाद का समय होगा। इसके पश्चात् रहस्यवाद का प्रसार होगा और मनुष्य 'ईश्वर' का रूप हो जायगा।

दोनों वादों का एक ही उद्देश्य है—आध्यात्मिक उन्नति। पर दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। गांधीवाद का मार्ग पूर्णतया आध्यात्मिक है और उसमें आर्थिक तत्व पराजित दशा में रहते हैं। समाजवाद का मार्ग आर्थिक है जिसके साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति भी चलती है। गांधीवाद आर्थिक उन्नति आध्यात्मिक उन्नति के लिये हानिकारक समझता है; समाजवाद, सहायक और आवश्यक।

"सादा जीवन, उच्च विचार"

आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त करने के लिये, गांधी जी कहते हैं कि मनुष्यों को सादगी से रहना चाहिये जिससे उनकी आवश्यकताएँ कम हों और उन्हें पूरा करने के बाद उन्हें काफ़ी फ़ुरसत मिले। इस खाली समय में उन्हें उच्च विचार सोचने चाहिये और अच्छी-अच्छी पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिये जिसके कि उनकी आध्यात्मिक उन्नति हो।

मोटरकार, सिनेमा, अच्छे-अच्छे वस्त्र, इत्यादि वस्तुएँ सब व्यर्थ हैं। यह आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधा डालती हैं, उन्हें सुगम नहीं बनातीं। इनका उपयोग करना बंद कर देना चाहिये।

समाजवादी कहते हैं कि गांधीवाद हमें उन्नति पथ पर उल्टा लौटा कर, भूतकाल की आदर्श स्थिति में बैठा देना चाहता है। आधुनिक सभ्यता आवश्यकताओं की वृद्धि का ही परिणाम है। कहावत है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। जैसे ही जैसे मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ी और बढ़ती जाती हैं, वैसे ही वैसे उसने नये-नये आविष्कार किये और कर रहा है। तार, बेतार का तार, वायुयान, रेल, रेडियो आदि सभी आवश्यकताओं की वृद्धि के ही परिणाम हैं। यदि आवश्यकताओं में कमी कर दी जाय, तो हमारा समाज फिर पुरानी सभ्यता में लौट जायगा। लेकिन क्या ऐसा करना अभीष्ट होगा? क्या प्राचीन काल के अर्द्ध-सभ्य मनुष्यों का आध्यात्मिक उन्नति वर्तमान काल की आध्यात्मिक उन्नति से अधिक थी? और क्या उस सभ्यता को अपनाने से हमारी आध्यात्मिक तरक्की होगी? इन प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। इतिहास इस बात की साक्षी नहीं देता। यह कहना आजकल के विद्वान्, वैज्ञानिक और दार्शनिक, प्राचीन सादे जीवन वाले जंगलियों से ऊँचे विचार नहीं रखते थे, सत्य की उपेक्षा करना है। कुछ लोग इस कथन पर आपत्ति करेंगे। वे कहेंगे कि हमारे यहाँ वैदिक काल में, राम-राज्य में ऋषि लोग सादे जीवन से ही आध्यात्मिक उन्नति करते थे। पर यदि वे तस्वीर के दूसरे पहलू को देखें तो उन्हें मालूम होगा कि उस समय वैज्ञानिक और भौतिक उन्नति ऊँचे दर्जे को पहुँच चुकी थी। वायुयान और नवीन प्रकार के अस्त्र-शस्त्र बनते थे। वास्तव में भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति एक दूसरे के विरोधी नहीं प्रत्युत साथी हैं। स्वर्गीय सर साहब जी महाराज का कहना था कि एक मनुष्य का आध्यात्मिक उन्नति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि उसको खूब आराम से रहने का और सोचने और

समझने का मौका न मिले। वे कहते थे कि मनुष्य जितनी ही ऊँची जगह (position) पर पहुँचता है उसे उतनी ही अधिक शारीरिक आराम की ज़रूरत होती है। इसके अतिरिक्त श्री० एम० एन० राय के कथनानुसार सादगी के सिद्धान्त में एक तर्क-विभ्रम (fallacy) है। यदि यह मान भी लिया जाय कि सादा जीवन आदर्श जीवन है, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि धोती-कुर्ता पहिननेवाला व्यक्ति कोई पतलून पहिनने वाले व्यक्ति से श्रेष्ठ है, क्योंकि फिर तो लंगोट ही के पहिननेवाला व्यक्ति अधिक श्रेष्ठ होगा और जंगल में नंगा घूमनेवाला जंगली सब से अधिक सभ्य कहलायेगा! सादगी का निश्चित दृष्यगत (Objective) वस्तुओं में अनुवाद नहीं किया जा सकता। आप यह नहीं कह सकते कि सादगी कहाँ से आरम्भ और कहाँ समाप्त होती है। यदि सादगी को ही उन्नति की कसौटी मान लिया जाय तो हमें सर्वश्रेष्ठ आदर्श व्यक्ति उन पूर्वजों में मिलेगा जो पेड़ों पर रहते थे। श्री० राय कहते हैं कि गांधी जी को शायद अपनी बातों पर विचार करने का अवसर ही नहीं मिला, इसलिये वह उनका तर्कयुक्त परिणाम नहीं समझ सके हैं।

समाजवाद कहता है कि भौतिक उन्नति और अध्यात्मिक उन्नति का चोली-दामन का साथ है। वह सादगी और दरिद्रता में कोई अंतर नहीं समझता। समाजवादी एक ऐसी परिस्थिति क़ायम करना चाहता है जिसमें मनुष्य की अधिकतम आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। मगर साथ ही साथ उन्नति के उपायों की इतनी तरक्क़ी कर ली जाय कि दिन में सिर्फ़ ३ या ४ घंटे काम करने की ज़रूरत पड़े और मनुष्यों को आध्यात्मिक उन्नति के लिये पर्याप्त समय मिल सके।

गांधीवाद का आदर्श समाज

गांधीवाद जिस आदर्श समाज की कल्पना करता है वह उपरोक्त दार्शनिक सिद्धान्त की नींव पर स्थित है। गांधीवादी समाज में उत्पत्ति और समाज का केंद्रीकरण नहीं रहेगा। समाज छोटे-छोटे

ग्रामों में वितरित हो जायगा और प्रत्येक गाँव आत्म-निर्भर होने की चेष्टा करेगा, अर्थात् वहाँ के निवासी जो पैदा करेंगे, उसी का उपभोग करना चाहेंगे, वह स्वयं पैदा करेंगे। उनकी आर्थिक प्रणाली में आयात या निर्यात को कोई स्थान नहीं मिलेगा। गांधीवाद अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, और शायद स्थानीय श्रम-विभाग के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता: या यूँ कहिये कि उसे जरूरी नहीं समझता, क्योंकि श्रम-विभाग उत्पत्ति की वृद्धि करने का साधन मात्र है। पर गांधीवाद इस शक्ति की वृद्धि को निरर्थक समझता है क्योंकि वह आवश्यकताओं को न्यूनतम करने का पक्षपाती है। वह प्राचीन परिपाटी को पुनर्जीवित करना चाहता है और यह कहता है कि प्रत्येक मनुष्य को या कुटुम्ब को पहिले की भाँति अपनी ज़रूरत के सब साधन स्वयं उत्पन्न करने चाहिये और शेष समय आध्यात्मिक उन्नति में लगाना चाहिये।

इन आत्म-निर्भर गाँवों में मशीनें इत्यादि नहीं रहेंगी। मशीनें वगैरः तो अधिक माल पैदा करने के लिये काम में लाई जाती हैं जिसकी गांधीवाद में कोई आवश्यकता नहीं। मशीनों के स्थान पर चरखे ऐसी सीधीसादी चीज़ों का उपयोग किया जायगा। गांधी जी की यंत्र-विरोधता प्रसिद्ध है। वे खर्चीले और बड़े पैमाने पर माल पैदा करने वाले यंत्रों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि वे आदमियों के स्थान पर काम करने लगते हैं और इसलिये उन्हें बेकार बना देते हैं। उन्हीं को नहीं, बहुत से पशु भी साथ साथ बेकार हो जाते हैं। मोटरकार ने घोड़े और बैलों को और भाप की हल ने बैलों को बेकार कर दिया है। बेकारी के अतिरिक्त, मशीनों के आगमन के ही कारण पूँजीवाद का जन्म हुआ और शोषण और वर्ग-संघर्ष का श्रीगणेश हुआ। मशीनों ने ही गांधी जी के आदर्श, गाँवों, को उजाड़ कर शहर बसाये हैं जो आध्यात्मिक और आर्थिक दीनता, बदचलनी और दरिद्रता के केन्द्र हैं। मशीनों ने ही जीवन की

सादगी को नष्ट कर दिया है। इसलिये मशीनों से बिदा लेना ही उचित है। 'इसके अलावा यह बात तो हुई कि मनुष्य शारीरिक श्रम करे तो उससे उसकी कला कुशलता बढ़ती है, बौद्धिक विकास विशेष होता है और काम में उसे आनन्द और सन्तोष अधिक मिलता है। इसलिये सीमित क्षेत्रों में यंत्रों का स्वीकार करके गांधी का झुकाव तो छोटे-छोटे गृह-उद्योगों और ग्राम-उद्योगों की ओर ही है। विज्ञान और यंत्रविद्या में आज जो प्रगति हुई है उसका अपने गृह-उद्योगों तथा ग्राम-उद्योगों के साधनों का संशोधन करने में जितना उपयोग किया जा सके उतना तो करना ही चाहिये।'[५]

स्पष्टतया गांधीवाद जीवन के आर्थिक रूप को, पेट के सवाल को, सरल बनाना चाहता है। वह कहता है कि अधिकतर वर्तमान कठिनाइयाँ आर्थिक-यंत्र की गहनता (Complexity) का परिणाम हैं। इसलिये हमें इसे सुगम बनाना चाहिये। इस सुगमता के फलस्वरूप हमारी इच्छाओं की पूर्ति थोड़ी ही सीमा तक होगी, पर यह भय का विषय नहीं क्योंकि इच्छाओं को कम करना गांधीवाद का एक प्रमुख अंग है।

समाजवादी कहते हैं कि गांधीजी ने सिक्के का एक ही मुँह देखा है, दूसरा नहीं। उन्होंने मशीनों के अवगुणों को देखा है, पर उनके गुणों पर और उनके अवगुणों को दूर करने वाले साधनों पर दृष्टिपात नहीं किया। अर्थशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि मशीनों द्वारा बेकारी फैलने वाला विचार भ्रांति है। मशीन प्रयोग करने में, पहिले-पहल तो बेकारी अवश्य फैलेगी, पर समय की प्रगति के साथ, मशीन उत्पादन-व्यय को कम कर देगी, जिससे पण्यों की क़ीमत कम हो जायगी। परिणाम यह होगा कि वस्तुओं की माँग बढ़ जायगी और अधिक उत्पत्ति की ज़रूरत होगी इसलिये मज़दूर लोगों की भी माँग

[५] श्री नरहर परीख, 'समाजवाद और सर्वोदय।'

बढ़ेगी। फिर, चीज़ों की उत्पत्ति बढ़ने के कारण मशीनों की माँग भी बढ़ेगी और उन्हें बनाने के लिये बहुत से मज़दूर काम में लगा दिये जायँगे। इस प्रकार सब मज़दूर काम में लग जायँगे। वस्तुतः मशीन और मज़दूरों में स्पर्धा नहीं बल्कि सहकारिता है।[१] दोनों एक दूसरे को काम देते हैं और एक दूसरे की सहायता करते हैं। मशीनों को 'बेकारी की जननी' बताने वाला विचार तो अब एक ठुकराया हुआ सत्य है जिसमें कोई अर्थशास्त्री विश्वास नहीं करता।

हाँ, एक बात अवश्य है। यदि मशीनें देश में न बनें तो परिस्थिति भिन्न हो जाती है। क्योंकि तब मशीनों की माँग बढ़ने पर, मशीन बनाने वाले देश के मज़दूरों को नौकरी मिल जायगी पर मशीन ख़रीदने वाले देश के कार्यच्युत मज़दूरों को नहीं। इसलिये वहाँ बेकारी की समस्या बनी ही रहेगी। हमारे देश में ऐसा ही हुआ है। हमारा देश ब्रिटिश साम्राज्यवाद का शिकार है। हमारे उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये हैं और इंगलैंड अपना माल और मशीन हमारे देश में धड़ाधड़ बेचता है। हमारे यहाँ मशीनें या मशीनों का बनाया हुआ माल अधिक नहीं बनता। इसलिये आदमियों का बेकार रहना स्वाभाविक है। गांधीवाद ने वर्तमान भारतीय परिस्थिति के अनुभव पर ही अपनी विचार-प्रणाली स्थापित की है। पर सापेक्षिकता-सिद्धान्त हमें बतलाता है कि जो बात एक स्थान के लिये ठीक है, उसका उसी स्थान पर हमेशा, या अन्य स्थानों पर उसी समय या और कभी, लागू होना निश्चित नहीं है। यदि भारतवर्ष से साम्राज्यवाद हट जाय और यहाँ मशीनें आदि बनने लगें जैसा कि पाश्चात्य सभ्य देशों में होता है तो हमें गांधीवाद का यह स्वभाव स्पष्ट दीख पड़ेगा।

इस विषय को समाजवाद गांधीवाद से अधिक उचित दृष्टिकोण से देखता है। वह मशीनों के दोनों पहलुओं को समझकर यह निष्कर्ष

[१] देखिये Pigou, *Economic of Welfare.*

निकालता है कि मशीनों को त्यागना स्तुत्य नहीं, पर उनकी ख़राबियों को दूर करना ही अभीष्ट है। इसलिये वह मशीनों और कारख़ानों का राष्ट्रीयकरण कर देगा जिससे कि वे शोषण के साधन न बनें। समाजवाद के अंतर्गत सरकार सबको काम में लगायेगी। यदि सरकार यह देखती है कि मशीनों की सहायता से माल बहुत काफ़ी तादाद में पैदा हो रहा है, जैसा होना निश्चित ही है, तो बजाय इसके कि वह कुछ मज़दूरों को निकाल दे, वह सबका श्रम-समय कम कर देगी जिससे मज़दूरों को खेलने-कूदने, पढ़ने-लिखने और आध्यात्मिक उन्नति का काफ़ी अवसर मिल सके।

अहिंसा की नीति

अब हम गांधीवाद की रीतियों या राजनीतिक पहलू पर विचार करेंगे। गांधी जी के अहिंसा और उसके व्यावहारिक रूप, सत्याग्रह, में यक़ीन का विवरण दिया ही जा चुका है। पर क्योंकि अहिंसा और सत्याग्रह ही गांधीवाद के साधन और रीति हैं, इसलिये हम इस दृष्टिकोण से उनकी विस्तृत विवेचना करेंगे।

गांधी जी का कथन है कि हमें अत्याचार का हिंसा से नहीं बल्कि अहिंसा से सामना करना चाहिये, 'पशुबल' से नहीं बल्कि 'आत्मबल' से विरोध करना चाहिये। अहिंसा का आध्यात्मिक मूल्य तो जो है वह है ही; इसका व्यावहारिक मूल्य भी कम नहीं। यदि हमारा शत्रु हमसे अधिक बलवान है, तो हिंसा द्वारा उससे बदला लेना या, उसके अत्याचार को रोकना कठिन है। 'जिन साधनों में विपक्षी हमसे अधिक बलवान और कुशल है उन साधनों का उपयोग करने की लालच में न पड़ कर एक बिलकुल नये प्रकार के साधन की शोध करना, उसका विकास और संशोधन करके उसे सम्पूर्ण बनाना और उसके प्रयोग में कुशलता प्राप्त करना आवश्यक है। अहिंसा अथवा प्रेम में—अर्थात् विपक्षी को दण्ड देकर नहीं, किंतु स्वयं कष्ट सहकर

उसे जीतने के रीति में जो शक्ति है, वह है तो हिंसा के जितनी ही पुरानी, किंतु अभी योग्य अनुशीलन द्वारा उसका सम्यक् विकास नहीं किया गया है।'[७] गांधी जी ने इसे राष्ट्रीय क्रांति का साधन बनाकर एक नया आविष्कार किया है जो गांधीवाद का अमर सिद्धांत है।

अहिंसा के तीन रूप हैं; (१) निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistance)। गांधी जी के शब्दों में निष्क्रिय प्रतिरोध कष्ट-सहन के द्वारा अधिकारों को प्राप्त करने का ज़रिया है। यह अस्त्र-शस्त्र-द्वारा विरोध करने से भिन्न है। जब मैं अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध कार्य करना नामंज़ूर करता हूँ तो मैं आत्मबल का प्रयोग करता हूँ। उदाहरणार्थ इस दशा में सरकारी क़ानून के अनुसार कार्य न करना आत्मबल का प्रयोग है। पर यदि मैं हिंसा के प्रयोग से उन क़ानून को रद्द करा देता हूँ तो मैं पशुबल का प्रयोग कर रहा हूँ। आत्मबल में आत्मकष्ट होता है। यही निष्क्रिय प्रतिरोध है[८] (२) सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience)। यदि कोई क़ानून या नियम सत्य के विरुद्ध है और अंतरात्मा उसे मानने की गवाही नहीं देती, तो उसे सविनय अहिंसात्मक रीति से भंग करना ही सविनय अवज्ञा कहलाती है। (३) असहयोग (non-co-operation)। सत्य के विरुद्ध और अंतरात्मा के प्रतिकूल किसी काम में सहयोग न करना ही असहयोग कहलाता है।

डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने गांधीवाद का यह दृष्टिकोण बड़े सुचारु रूप से रक्खा है। आप लिखते हैं कि सामाजिक समस्या का समाधान शान्तिमय समझौते में है, संघर्ष में नहीं; पारस्परिक मेल में है, विनाश में नहीं; परिवर्तन में है, क्रांति में नहीं; आत्म-अभिव्यक्ति में है, इतर अभिव्यक्ति में नहीं। एक शब्द में, अहिंसा में है, हिंसा में नहीं।

---

[७] श्री किशोर लाल घ० मशरूवाला, "गांधीवाद : समाजवाद", पृष्ठ १२-१३

[८] गांधी जी, *Indian Home Rule*

समाजवादी अहिंसा के महत्व को समझते हैं, और वे अनावश्यक हिंसा नहीं करना चाहते। "साम्यवादी कोई हिंस्र हत्यारे नहीं होते। नरमेध में उन्हें कोई मज़ा नहीं आता। पूँजीपति जो साम्राज्यवाद का आश्रय लेकर आज करोड़ों मनुष्यों को दास बनाये हुये हैं, जिनके लिये भीषण जगद्व्यापी युद्ध छेड़ कर भीषण रसायनिक उपचारों से काम लेना एक साधारण-सी बात है, मनुष्य जीवन को भले ही तुच्छ पदार्थ समझते हों, पर साम्यवादी मानव-जीवन के मूल्य को समझता है। वह रक्तपात को अच्छा नहीं समझता। यदि बिना रक्तपात के उद्देश्य की सिद्धि हो जाय, तो उसे हर्ष होगा। पर व्यावहारिक बात यह है कि आज तक जितनी भी क्रांतियाँ हुई हैं, सब में कोई न कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसने रक्तपात कराकर छोड़ा है। बस यहीं पर गांधीवाद और साम्यवाद का साथ छूटता है। साधारण साम्यवादी का यह विश्वास है कि शान्ति के लिये क्रांति आवश्यक है; क्रांति में कुछ हिंसा होती है। इस हिंसा से विचलित होकर हम अपने लक्ष्य को नहीं छोड़ सकते। हम हिंसा का स्वागत नहीं करते; पर उससे घबराते भी नहीं। गांधीवाद कहता है कि हम भी मानते हैं कि बिना क्रांति के शान्ति नहीं होगी; पर शत्रुओं और विरोधियों की हिंसात्मक कृपाओं का उत्तर हम अहिंसा से ही देंगे।"[१]

श्री जवाहरलाल नेहरू भी लिखते हैं कि अहिंसा का तरीक़ा तो तभी ठीक कहा जा सकता है जब वह सजीव हो और इतनी सामर्थ्य रखता हो कि वह अत्याचारी शासन या सामाजिक व्यवस्था को बदल डाले। अहिंसा यह कर सकती है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मेरा ख्याल है कि वह हमें बहुत दूर तक ले जा सकती है। लेकिन इस बात में मुझे शक है कि वह उस अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है। हर हालत में किसी न किसी क़िस्म का बल-प्रयोग तो लाज़िमी मालूम

---

[१] श्री सम्पूर्णानन्द, "गांधीवाद और साम्यवाद"

पड़ता है क्योंकि जिन लोगों के हाथ में ताक़त और ख़ास अधिकार होते हैं, वे उन्हें उस वक्त तक नहीं छोड़ते जब तक कि उन्हें ऐसा करने के लिये मजबूर नहीं कर दिया जाता, या जब तक ऐसी सूरतें पैदा न कर दी जाँय जिनमें उनके लिये ख़ास हक़ों का रखना उन्हें छोड़ने से ज़्यादा नुक़सानदेह हो जाय। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय संघर्ष बग़ैर बल-प्रयोग के कभी नहीं मिट सकते।[10]

गांधीवाद और समाजवाद की यह मौलिक भिन्नता है और यह शायद सब से अधिक महत्वशाली है। हम इन दोनों में से किसे ठीक मानें, यह अपने मन और विश्वास (conviction) की बात है। गांधीवाद एक दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर कहता है कि अहिंसा उन्हें विजय दिलायेगी, मगर इसकी सत्यता का उसके पास कोई प्रमाण नहीं। समाजवाद कहता है कि हम हिंसा का प्रयोग करने पर उतारू नहीं। पर यदि मौक़ा पड़े और उसके बिना काम ही न चले तो हम चूकेंगे भी नहीं। शायद ऐसा मौक़ा पड़ेगा अवश्य जैसा कि संसार में होता रहा है।

यह तो हुई विचार-भेद की बात, पर यदि हम क्रियात्मक प्रकाश में दोनों वादों को देखते हैं तो दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। यदि गांधीवाद के अनुयायी अहिंसात्मक युद्ध लड़ रहे हैं, और वे देखते हैं यदि ज़रा सी हिंसा कर दी जाय तो उन्हें अपने उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है और बिना हिंसा किये हुये काम नहीं चल सकता, तो शायद वे उस समय अहिंसा को तिलांजलि अवश्य दे देंगे (चाहे गांधी जी ऐसा न करें)। मनुष्य आखिर मनुष्य ही है, देवता नहीं। इसीलिये कांग्रेस ने अहिंसा को केवल 'नीति' के रूप में ही ग्रहण किया है। गांधीजी ने एक बार लिखा भी था कि '१४ वर्ष के परीक्षण के उपरांत यह (अहिंसा) अधिकांश कांग्रेसजनों के लिये नीति ही बनी रही है जब कि मेरे लिये

---

[10] जवाहरलाल नेहरू, 'मेरी कहानी'।

वह एक आधार-भूत धर्म है'। उसी प्रकार समाजवादी ज़बर्दस्ती, बिना आवश्यकता के हिंसा का प्रयोग नहीं करेंगे पर आवश्यकता पड़ने पर नहीं चूकेंगे ; यदि ऐसा है, तो फिर गांधीवाद और समाजवाद में इस विषय पर कोई क्रियात्मक वास्तविक भेद नहीं। भेद है तो इतना ही कि गांधीवादी कहते हैं कि इस हिंसा का प्रयोग नहीं करेंगे, पर आवश्यकता पड़ने पर शायद वे ऐसा कर बैठें पर समाजवादी खुले शब्दों में इसको स्वीकार करते हैं।

आर्थिक परिस्थित की निर्धारणशक्ति

अब हम गांधीवाद के प्रमुख नकारात्मक पहलुओं पर आते हैं। मार्क्सवाद का अध्ययन करते समय हम बता ही चुके हैं कि समाजवादियों का विश्वास है कि आर्थिक परिस्थिति ही वास्तविक या प्रमुख निर्धारण शक्ति है। मनुष्य इन परिस्थितियों को बदल कर समाज को इच्छित रूप दे सकता है। इस प्रकार समाजवाद मनुष्य का रचनात्मक कार्यक्षमता पर ज़ोर देता है। वह मनुष्य को किसी ऊपरी शक्ति के हाथ का कठपुतला नहीं मानता। वह उसे अपने भाग्य और समाज का सृष्टा मानता है।

गांधीवाद इसमें विश्वास नहीं करता। वह ईश्वर में विश्वास करता है और उसका अधिनायक ईश्वरीय प्रेरणा से काम करता है। गांधीजी कभी-कभी विशुद्ध आस्तिक की तरह बोला करते हैं—भगवान् की शक्ति और उसकी प्रार्थना से उनको प्रेरणा मिलती है, इसकी बात वह बताया करते हैं। गीता से प्रेरणा लेते समय तो वह स्पष्ट रूप से यह कहा करते हैं कि वह ऐसे सार्वभौम नियम में, ऐसी शक्ति में विश्वास करते हैं, जो प्रत्येक सांसारिक वस्तु का स्रोत है, जिस पर मानव के अभिमत का कोई और प्रभाव नहीं। गांधीजी व्यक्तिगत देन में विश्वास रखते हैं, या समस्त ब्रह्माण्ड के एक नियन्ता में आस्था रखते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि मानव-समाज और मानव-गतिविधि के

विषय में जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण है उससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता [११]।

सर्वोदय

गांधीवाद श्रेणीयुद्ध में अविश्वास करता है। और पूँजीपति व जमींदारों को अधिकारच्युत करने के विरुद्ध है। वह कहता है कि एक वर्ग को दूसरे वर्ग के साथ हिल-मिल कर प्रेम और मैत्री के सूत्र में बँधकर, रहना चाहिये। गांधीवाद मानता है कि पूँजीपति और ज़मीदार, मज़दूर और किसानों का शोषण कर रहे हैं। वह इस शोषण का अंत भी करना चाहता है। पर वह लड़-भिड़ कर, श्रेणी-युद्ध द्वारा ऐसा नहीं करना चाहता, वरन् प्रेम और समझौते द्वारा अपना उद्देश्य पूरा करना चाहता है। गांधीवादियों का विश्वास है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से भला होता है। यदि उसमें अत्याचारी वृत्ति पाई जाती है, तो हमें उनका सुधार करना चाहिये। हमें उसके हृदय में दया उत्पन्न करनी चाहिए जिससे कि उसके स्वभाव में शोषण के विरुद्ध भाव उत्पन्न हो और न्यायी बने। यदि उसे हिंसात्मक प्रयोग द्वारा या लड़-भिड़ कर और आपस में वैमनस्य के द्वारा उसे अधिकारच्युत किया जायगा, तो उसके दिल में वैर की आग जलती रहेगी और वह बदला लेने की सोचा करेगा। इस प्रकार स्थिति कभी सुरक्षित नहीं रहेगी। पर यदि प्रेम और सद्विचार द्वारा उसका सुधार किया जायगा तो उसके ऊपर स्थायी विजय की जा सकेगी।

इसलिये गांधीजी कहते हैं कि ज़मींदारों और पूँजीपतियों को स्वयं को किसान और मज़दूरों का 'ट्रस्टी' समझना चाहिये। उन्हें व्यक्तिगत सम्पत्ति इस प्रकार उपयोग में लानी चाहिये कि जिससे मज़दूर और किसानों का हितवर्धन हो। वह सम्पत्ति उनके व्यक्तिगत प्रयोग के लिये नहीं, बल्कि समाज के उपयोग के लिये है। वह सम्पति समाज

[११] एम० एन० राय, 'गांधीवाद या मार्क्सवाद'।

की है; वे उसके संरक्षक मात्र हैं। यदि वे उसे शोषण के लिए इस्तैमाल करेंगे तो शोषितवर्ग को सत्याग्रह करना पड़ेगा।

गांधीजी कहते हैं कि हम लोग आत्मीय हैं, शत्रु नहीं। हमें एक दूसरे का भला, उन्नति और सुख बढ़ाने की कोशिश करनी चाहिये। इस प्रकार सारे मानव समाज का उदय चाहना गांधीजी का आदर्श है। गांधीजी जिस रामराज्य का स्वप्न देखते हैं उसमें राजाओं और भिखारियों, दोनों के अधिकार सुरक्षित रहेंगे। उनके आदर्श समाज में सब लोग, ज़मीदार और पूँजीपति, किसान और मज़दूर, ब्राह्मण और हरिजन, स्त्री और पुरुष आदि प्रेमपूर्वक रहेंगे और उन सब की उन्नति की चेष्टा की जावेगी; सब को उत्कर्ष का समान सुविधा दी जायगी; सब का उदय होगा; यही सर्वोदय[१२] है।

समाजवाद इन विचारों का बिल्कुल क़ायल नहीं। व्यक्तिगत सम्पत्ति का नष्ट करना उसका मूल सिद्धान्त है। वह शोषण करनेवाली सम्पत्ति के राष्ट्रीकरण का समर्थक है। श्रेणीयुद्ध में उसका अटूट विश्वास है और वह वर्गहीन समाज की कल्पना करता है।

श्री नरहरि परीख ने इस विषय में गांधीवाद और समाजवाद का मुक़ाबला और सामीप्य बड़े सुन्दर शब्दों में दिग्दर्शित कराया है। आप लिखते हैं: गांधीजी निजी स्वामित्व के हक़ को नष्ट करने के लिये नहीं कहते, लेकिन उसके ऊपर अंकुश ज़रूर लगाना चाहते हैं। इसलिये स्वामित्व के हक़ के साथ उसके ऊपर स्वामित्व की जिम्मेदारी भी आती है। तत्त्वत: इन दोनों कार्यक्रमों में अन्तर इतना ही रहता है कि समाजवादी जिस सम्पत्ति को समाज के स्वामित्व को बनायें उसका प्रबंधकर्त्ता सरकार की ओर से नियुक्त होता है, जबकि गांधीजी के कार्यक्रम में समाज के हित की दृष्टि से सम्पत्ति का उपयोग करने के लिये

---

[१२] गांधीजी ने रस्किन की 'Unto the Last' का गुजराती भाषा में अनुवाद किया था। जिसका शीर्षक आपने 'सर्वोदय' रखा था। यही शब्द अब गांधीजी के इन विचारों का संकेत माना जाने लगा है।

उसका मालिक स्वयं ही अपने को ट्रस्टी अथवा प्रबंधकर्ता बना लेता है। समाजवादी कार्यक्रम में सरकार इस बात को देखती है कि प्रबंधकर्ता अपना कर्तव्य पूरी तरह पालन करता है या नहीं, जबकि गांधीजी के कार्यक्रम में मालिक या ट्रस्टी अगर पूरी तरह अपने कर्तव्य का पालन न करे तो समाज को उसके विरुद्ध सत्याग्रह करना पड़ता है। गांधीजी के कार्यक्रम में सत्ता लोगों के पास रहती है और अपनी शक्ति के अनुसार वे उसका अमल कर सकते हैं। समाजवादी कार्यक्रम में सत्ता लोगों का प्रतिनिधि होने का दावा करनेवाली सरकार के हाथ में रहती है।

समाजवादियों ने इस गांधीवाद के इस रुख की तीव्र शब्दों में निन्दा की है। सर्वश्री सम्पूर्णानन्द, जयप्रकाशनारायण और एम० एन० राय ने इससे पूर्ण मतभेद प्रकट किया है। श्री सम्पूर्णानन्द जी कहते हैं कि गांधीवाद का रामराज्य का स्वप्न एक दोषयुक्त स्वप्न है। श्रेणी-भेद रहने के मतलब ही हैं श्रेणीदोष, चाहे वे कितने ही क्षीण क्यों न हो जाँय। समाजवाद सब को पूर्ण त्याग और अपरिग्रह की शिक्षा देना चाहता है। गांधीवाद एक वर्ग को अपूर्ण त्याग और अपरिग्रह की शिक्षा देगा और दूसरे वर्ग को संतोष का पाठ पढ़ायेगा। संघर्ष की जड़ बनी रहेगी। गाँधीवाद मार्ग में आधी दूर जा कर ही रुक जाता है। समाज का श्रेणी-भेद और तज्जन्य श्रेणी-संघर्ष रोग इतना भीषण हो गया है कि अब बिना पूरे छेदन के वह दूर नहीं हो सकता, और इस छेदन का नाम ही समाजवाद है।

श्री जयप्रकाशनारायण ने गांधी जी को आड़े हाथों लिया है। गांधी जी के रामराज्य में राजा और भिखारी दोनों रहेंगे। पर वे पूछते हैं कि भला समाज में कोई आदमी भिखारी क्यों रहे? समाजवाद का यह मुख्य प्रश्न गांधी जी के दिमाग़ में कभी उठा ही नहीं—उठ भी नहीं सकता, क्योंकि गांधी जी की नीति के सफल होने के लिये यह अत्यावश्यक है कि समाज में कुछ लोग भिखारी रहें। वे गांधी जी की फ़िलासफ़ी धोखेबाज़ी बताते हैं। गांधी जी फ़क़त यह चाहते हैं कि

ऊपर की सतह के लोग नीची सतह के लोगों से तनिक दया का बर्ताव करें और ग़रीबों को संतोष का पाठ पढ़ाते हैं। लेकिन "हम समाजवादी डंके की चोट पर कहते हैं कि ज़मीदारों और पूँजीपतियों का यह धन किसानों और मज़दूरों की मेहनत से पैदा हुआ है। इसलिये प्राउधन (Proudhan) के कथानुसार 'चोरी का माल' है। इस चोरी को छिपाना, इसे बे पूछे-ताछे चलने देना, नहीं, इस पर पवित्रता की पुट देना तो निःसंदेह धोखेबाज़ी है, भले ही यह धोखेबाज़ी अनजाने ही क्यों न कर रहे हों।" वे साफ़-साफ़ कहते हैं कि राजाओं, ज़मीदारों और पूँजीपतियों के अधिकारों पर चूँचरा न कर के गांधी जी ने इस बड़े पैमाने पर और संगठित रूप में होने वाली चोरी और हिंसा पर मोहर लगा दी है। इसके अतिरिक्त, वे कहते हैं कि 'ट्रस्टी' शब्द एकदम अस्पष्ट है। "मान लीजिये कि ज़मीदार 'ट्रस्टी' है। अब सवाल यह उठता है कि धन के किस हिस्से को वह ट्रस्ट समझे—समूचे का या किसी हिस्से को। अगर किसी हिस्से को, तो हिस्सा क्या हो और उसे कौन निश्चय करेगा? अगर उसका किसान उसके धन का बराबर का हिस्सेदार है, तो इस बराबर के ठीक मानी क्या हैं?....फिर कोई हिस्सेदार ट्रस्टी कैसे हो सकता है?" उनकी राय में ये सवाल ऐसे नहीं है जो हलके-हलके 'नज़र-अन्दाज़' किये जा सकें।

श्री एम० एन० राय गांधी जी का हल कोई हल नहीं मानते क्योंकि गांधी जी जिस विषमता को दूर करना चाहते हैं, उसके आदि-स्रोत को नहीं पहचानते। गांधी जी सिर्फ़ शोषण की मात्रा कम करना चाहते हैं। पर जहाँ शोषण है वहाँ समानता नहीं; जहाँ समानता नहीं वहाँ सौजन्य भी नहीं। पूँजीपति फिर भी पूँजीपति ही रहेगा, ऐसी दशा में मज़दूरों के हितों के साथ में उसके हितों का सम्बन्ध कैसे सम्भव है? फिर हृदय-परिवर्तन की बात ही कैसी[13]?

---

[13] पं० जवाहरलाल नेहरू भी गाँधी जी के विचारों से सहमत नहीं। देखिये उनकी "मेरी कहानी"।

समाजवादी मानते हैं कि गांधीवाद ने देश में अपूर्व जागृति फैला दी है, जिससे कि हम अपने अधिकारों को पहिचानने लगे हैं और निर्भयतापूर्वक पूर्ण स्वाधीनता संग्राम में कूद पड़े हैं। पर उनका विश्वास है कि अब उसने अधिकांश में अपना कार्य समाप्त कर लिया है। अब देश को समाजवाद के मार्ग पर चलना चाहिये।

यह तो निर्विवाद है कि गांधीवाद भारतवर्ष के स्थान-स्थान में, पहाड़ों में, नदियों, घरों की ईंटों-ईंटों में व्याप्त है। इसका प्रभाव अमर है और भारतीय संस्कृति के ज्वाजवल्यमान मुकुट में वह सर्वदा हीरे की तरह चमकता रहेगा। पर भारतीय राजनीति के रंगमंच पर इसका एकछत्र राज्य होने में शंका पैदा होने के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। समाजवाद का नक्षत्र अब ऊँचा होने लगा है। यदि वह राहु बनकर गांधीवाद को ग्रस नहीं सकता, तो गंगा बनकर उसे जमुना की तरह हृदयंगम अवश्य ही कर सकता है।[१४]

---

[१४] श्री सम्पूर्णानन्द लिखते हैं कि "भारतीय साम्यवाद का भी विशेष रूप होगा। सम्पत्ति के विभाजन और राष्ट्रीकरण में तो वह दृढ़ रहेगा, क्योंकि यही उसका अपनापन है। इस मार्ग से बिगाना उसके लिये पतन और आत्म-संहार होगा। परन्तु इसके अतिरिक्त उसमें परिवर्तन अवश्य होंगे। उस पर गांधीवाद और भारतीय संस्कृति का, जो गांधीवाद की जननी है, प्रभाव पड़ेगा, और वह अधिक आध्यात्मिक हो जायगा। सम्भवतः अहिंसा को अपना लेगा! यह पराजित गांधीवाद की महान् विजय होगी और वर्तमान काल में जगद्धित के लिये भारत का सब से बड़ा प्रयत्न होगा। यहीं तक दोनों वादों का समन्वय भी सम्भव है। इसके आगे बढ़ने से एक का अस्तित्व दूसरे में लोप हो जायगा।"